सव्व जग जीव रक्खण दयठ्ठयाए,
भगवया पावयण सुकहिय ।

—प्रश्नव्याकरण

जगत के समस्त जीवो की दया एव रक्षा के लिए भगवान ने प्रवचन किया है ।

भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे प्रक

आनन्द प्रवचन

[पाचवा भाग]

प्रवक्ता

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी

संपादिका

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अमृतमहोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित

प्रकाशक :

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी, जि० अहमदनगर (महाराष्ट्र)

पृष्ठ . ३६०

प्रथम वार :

वि० स० २०३१ पौष

जनवरी १९७५

मुद्रक

श्रीचन्द सुराना 'सरस' के लिए

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

मूल्य . ६) छह रुपया प्लास्टिक कवर के साथ ८) आठ रुपया

प्रकाशकीय

धर्म प्रेमी पाठको !

आपके करकमलो मे हम 'आनन्द-प्रवचन' का यह पाचवा भाग उपस्थित कर रहे हैं। अतीव हर्ष का विषय है कि जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के प्रभावोत्पादक प्रवचनो को पाठकों ने पसन्द किया है और इसलिए हम उनको सग्रहित करके क्रमश भागों के रूप मे प्रकाशित कर रहे हैं।

आचार्य देव के प्रवचनो का सम्पादन सुश्री कमला जैन 'जीजी' कर रही हैं जिनकी लेखनी विपयो को व्यवस्थित करने मे तथा भापा आदि सभी को सुन्दर रूप देने मे सफल साबित हुई है। आपका कठिन परिश्रम और सेवा अविस्मरणीय तथा सराहनीय है।

हम राजस्थान के गौरव पडितरत्न श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' के भी कृतज्ञ हैं जिन्होने 'आनन्द प्रवचन' की प्रस्तावना के रूप मे अपने सुन्दर विचार प्रकट किये हैं तथा पुस्तक का महत्व बढ़ाया है।

'आनन्द-प्रवचन' के सभी भागो का प्रकाशन श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' के द्वारा हो रहा है। आपकी मुद्रण व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर, आकर्पक एव प्रभावशाली है, जिसका योगदान पाकर सस्था आभारी है।

हमे विश्वास है कि जीवन के सभी क्षेत्रो का मार्मिक विश्लेपण करने वाले आचार्य श्री के इन प्रवचनो का श्रद्धालु पाठक स्वागत करेंगे तथा इनसे अधिकाधिक लाभ उठाकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाएँगे।

मंत्री
श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर)

आभार-दर्शन

[प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे अर्थ सहयोग देने वाले सज्जनो की शुभ नामावली]

११०१) पुखराज जी राका मु० खुशालपुरा
१००१) खुशालचन्द जी पूसाराम जी भुरट—घोडनदी
१००१) मगलचन्द जी राका मु० पारसिवनी
६०१) अगूरीदेवी सूरजभान जी जैन—बडौत
५०१) श्री मायादेवी, धर्मपत्नी हसराजजी जैन—चडीगढ
५०१) श्री सतोषदेवी- धर्मपत्नी प्रेमसागर जी जैन—गोविंदगढ
५०१) मनोहरलाल जी जैन मु० शहादरा—देहली
५०१) कुलजसराज एण्ड सन्स—देहली
५०१) श्री मैनादेवी, धर्मपत्नी इन्दरचन्द जी सोनी—देहली
५०१) जुगमन्दरदास जी ओमप्रकाश जी जैन—मोतियाखान—देहली
५०१) पुखराज जी चौथमल जी ओस्तवाल—बडनेरा
५०१) सरोज जैन—बम्बई
५०१) चम्पालाल जी मिट्ठूलाल जी सचेती—जालना
५०१) जम्बूकुमार जी जैन—देहली
५०१) रोशनलाल जी भोजराज जी जैन—मोतियाखान—देहली
२५१) धरमचन्द जी नथमलजी भडारी—मलकापुर
२०१) घेरीलाल जी घासीलाल जी जैन—मुम्बई
२०१) विमलनाथ जी जैन—देहली

हम उक्त सज्जनो के उदार सहयोग के लिए हृदय से आभारी हैं।

मत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'आनन्द-प्रवचन' का पाचवा भाग है। इसके पूर्व 'आनन्द-प्रवचन' के चार भाग प्रकाश मे आ चुके हैं। वे सभी भाग काफी अच्छे लोक-प्रिय बने हैं। स्वाध्याय एक अन्तरग तप है। प्रवचन (धर्मकथा) उसका एक अन्तिम अग है।

प्रवचनो का महत्व सर्वत्र सदा से है। भारतवर्ष मे तो जितने ऋषि-महर्षि हुए हैं प्राय सभी ने प्रवचन के माध्यम से ही अपनी विचार-धारा ससार के सामने रखी है। आज भी यत्र-तत्र सर्वत्र यही सिलसिला ऋषि-महर्षियो का चल रहा है।

जैन-जगत् मे तीर्थंकर-पद सर्वत उच्च पद है। अतीत, अनागत व वर्तमान के सभी तीर्थंकरो का एक ही क्रम होता है। वे सभी साधना काल मे मौन-सवी होते हैं। जब उन्हे कैवल्य की उपलब्धि होती है तो वे सर्व प्रथम प्रवचन ही देते हैं। तीर्थ-स्थापना व सघ-व्यवस्था आदि कार्य बाद मे होते हैं।

तीर्थंकरो का जहाँ भी समवसरण होता है, वहाँ पर अपार भीड लग जाती है। वह भीड ही परिषदा मानी गई है। उस परिषदा मे देव, मानव, पशु, पक्षी आदि सभी सम्मिलित होते हैं। उक्त परिषदा मे प्रवचन के माध्यम से ही तीर्थंकर भगवान जन-जन मे नैतिक जागरण व आध्यात्मिक उत्थान करते हैं।

गणधर तीर्थंकरो के प्रधान शिष्य होते हैं। वे उनके प्रवचनो को सकलित करते रहते हैं। उनका वह सकलन ही जैन जगत् का श्रुत-साहित्य माना गया है।

प्रवचन देने की परम्परा आज भी मुनि जनो मे चल रही है। सुदूर दिशाओ मे विचरण कर मुनिजन आज भी अपने प्रवचनो द्वारा स्व पर हित-साधना करते हैं।

सुदूर अतीत मे प्रवचन-सकलन की ओर किसी का भी ध्यान नही जैसा ही रहा। अब इस युग मे इस ओर जनता का ध्यान पुन केन्द्रित हुआ है।

जहां पर मुनिजन नही पहुँच पाते ऐसे क्षेत्रो मे मुनिराजो के सकलित प्रवचन पहुँच सकते हैं। सिर्फ यही एक साधन है कि वहा के लोग जिसके द्वारा अपनी प्रवचन-श्रवण-पिपासा को प्रशान्त कर सकते हैं।

जहां तक मेरी जानकारी है, स्थानकवासी समाज में प्रवचन-सकलन की प्रथा के पुनरुत्थान का श्रीगणेश स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज के भक्तजनो की ओर से किया गया। उसी का यह सुपरिणाम रहा कि आचार्य श्री जी जैसे प्रभावशाली पुरुषो के प्रतिभा-पूर्ण प्रवचन जन-जन के करकमलों मे पहुँच सके।

प्रवचन-सकलन की प्रणाली अब काफी विकसित हुई है। 'आनन्द-प्रवचन' भी उस लडी की एक कडी है।

'आनन्द-प्रवचन' मे महामहिम आचार्य-सम्राट श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के प्रवचन सकलित किए गए हैं।

आचार्य श्री जी स्वय एक सुमधुर सतजन हैं। उनके प्रवचन भी उतने ही मधुरतम व रोचक हैं— यह एक तथ्य उक्ति है।

आचार्य श्री जी सस्कृत, प्राकृत व अन्य भाषाओ के विशिष्ट विज्ञाता हैं। अत उनके प्रवचनो मे यत्रतत्र श्लोक, गाथाएँ व अन्य कविताएँ भी बिखरी पडी हैं।

'आनन्द-प्रवचन' की सम्पादिका हैं श्रीमती कमला जैन 'जीजी' एम० ए०। आनन्द-प्रवचन को पहले के चार भागो का सम्पादन भी जीजी ने ही किया है।

'जीजी' एक कुशल सम्पादिका है। जैन समाज के सुप्रसिद्ध पडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की सुपुत्री होने का सौभाग्य 'जीजी' को मिला है। विद्वान पिता की विदुषी पुत्री—यह एक मगलमय अभिसबन्ध है।

स्वय पण्डित जी ने अनेक ग्रन्थो का सम्पादन किया है। पंडित जी से ही 'जीजी' को पैत्रिक-सपत्ति के रूप मे यह सम्पादन कला मिली है। 'जीजी' ने इससे पूर्व भी 'आम्रमजरी', 'अन्तर की ओर', 'अर्चना और आलोक' आदि अनेक पुस्तकों का सप्रतिम सम्पादन किया है। आनन्द-प्रवचन मे भी 'जीजी' की सम्पादन-प्रतिभा सर्वतोमुखी मुखरित हुई है।

और भी एक बात है। परम-विदुषी सतीजी श्री उमरावकुवर जी 'अर्चना' का पथ-प्रदर्शन जीजी' को समय-समय पर मिलता रहता है। जीजी के लिए यह स्वर्ण मे सौरभ जैसी वात है। प्रस्तुत सम्पादन मे भी 'जीजी' को सतीजी का पथ-प्रदर्शन सुचारु रूप से मिला है।

'जीजी' का सम्पादन और भी अधिक से अधिक लोक-प्रिय बने और जन-जन के लिये सुपाठ्य सामग्री बने—बस, इसी शुभाशा के साथ विराम

जैन स्थानक
पाली
२८।२।७४

मधुकर मुनि

बधुओ !

श्रमण सघ के द्वितीय पट्टधर १००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की वाणी को अपने मे समेटे हुए 'आनन्द-प्रवचन' का यह पचम पुष्प आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है ।

मुझे अतीव हर्ष है कि एक दीर्घकालीन साधना के साधक की प्रवाहित होती हुई वचन गगा मे से मैं कुछ अजुलियाँ भरकर आपको प्रदान करती हूँ और आप उस पावन एव तप पूत जल से अपनी आत्मा को निर्मल करने का प्रयत्न करते हैं ।

सत-वाणी की महिमा बताते हुए किसी ने यथार्थ कहा है—

वेदशास्त्र की अनुभूति तपस्या का जिसमे संचय है,
सतो का वर वरद वचन वह मङ्गलमय निर्भय है ।
क्यो बैठा कर्तव्यमूढ नर बन चिन्ता का वाहन !
सत वचन के सुधा-सिन्धु मे करले नित अवगाहन ।

वस्तुत सतो के वचनो मे असभव को सभव करने की असाधारण शक्ति होती है । आप विचार करेंगे कि क्या शास्त्रो का तथा धर्मग्रन्थो का पठन-पाठन करके हम अपनी आत्मा को उन्नत नही बना सकते ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि उपरोक्त कार्य भी हमारी आत्मा को शुद्ध बनाने मे सहायक होते हैं, किन्तु सन्त मे कुछ ऐसी वर-प्रदायिनी एव उत्कट शक्ति होती है कि वह मन पर अपना तीव्र एव अद्भुत प्रभाव डालते हैं ।

इसका कारण यही है कि सत-पुरुषो के विचार, वचन और क्रिया मे एकता होती है । वे जैसा सोचते हैं, वैसा ही कहते हैं और जैसा कहते हैं, वैसा ही करते

हैं। इस प्रकार उनके विचार, वचन और क्रिया विभिन्न मार्गों मे विभाजित न होकर एक ही उद्देश्य-सूत्र मे समन्वित रहते हैं तथा इस एकता के कारण वाणी मे अद्वितीय शक्ति छिपी रहती है।

आपको याद होगा कि सत कबीर गोविन्द अर्थात् भगवान और गुरु दोनो मे से किसे नमस्कार करें, इस असमजस मे कुछ काल रहते हैं किन्तु यह ध्यान आते ही कि गुरु ही गोविन्द की प्राप्ति कराते हैं वे चट से उन्हे अधिक महान् मानकर नमस्कार कर बैठते हैं।

कबीर का यह कृत्य सभी के समक्ष आदर्श रूप है। हम भी यह सहज ही समझ सकते हैं कि भगवान की वाणी मे जहाँ शाश्वत का भाव है वहाँ सत की वाणी मे सत्य का सौन्दर्य। भगवान की वाणी मे प्रभाव और सत की वाणी सद्भाव होता है। भगवान की वाणी से लोहे का सोना बन सकता है किन्तु सतो की वाणी हमे सोना बनाने वाले पारस के रूप मे ला सकती है।

इसीलिये आवश्यक है कि प्रत्येक मुमुक्षु इस सत वाणी का स्वागत करे इसका आदर करे और पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धापूर्वक इसे आत्मसात् करके अपने जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाये।

मुझे आशा है कि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी जैसे सरल, उदारमना, तपस्वी, कर्मठ एव चिर-साधक सत के वचनो का जिस प्रकार अपने पूर्व चार भागो के द्वारा स्वागत किया है उसी प्रकार इस पाँचवें भाग को भी ग्रहण करेंगे तथा इसे अपने साधना-मार्ग का पथ प्रदीप मानकर इसके प्रकाश मे अपने कदम बढ़ायेंगे।

'आनन्द-प्रवचन' के इस पाँचवें भाग की प्रस्तावना विद्वत्वर्य पडित रत्न मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' ने लिखी है। इसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। वैसे भी दीर्घकाल से मैं समय-समय पर आपके सपर्क मे आई हूँ और सच पूछा जाय तो आपकी प्रेरणा एव उत्साह-वर्धन से ही मैंने लेखन-सम्पादन आदि साहित्य सेवा के मार्ग पर कदम बढाया है। आपके द्वारा सचालित "मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन' सस्था का प्रारम्भिक सहयोग मेरे लिये सबल बना और इसप्रकार सुमधुर एव प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी बहुश्रुत मुनि श्री 'मधुकर' जी महाराज का मुझपर दोहरा अनुग्रह है।

काश्मीर प्रचारिका एव परमविदुषी महासती जी श्री उमरावकुवर जी महाराज 'अर्चना' की भी मैं आभारी हू, जिनके द्वारा मुझे सतत प्रेरणा एव मार्ग-

दर्शन प्राप्त होता है तथा मेरा सपादन काल का काफी भाग उनके सानिध्य में व्यतीत होता है।

अन्त मे केवल यही कि 'आनन्द-प्रवचन' के पिछले चार भागों के समान ही पाठक इसे भी पसद करेंगे तथा इसमे रही हुई त्रुटियो को क्षमा करते हुए राजहस के समान सार-तत्व को ग्रहणकर अपना जीवन बनाएँगे। तभी मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगी।

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

□

अनुक्रमणिका

१ | दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

हमारे भारतीय महर्षियो तथा विचारको ने सदा यही कहा है कि हमे यह दुर्लभ मानव-जीवन बडी कठिनाई से प्राप्त हुआ है और इसलिये हमे उसे पूर्णतया सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। पर ऐसा तभी हो सकता है, जबकि हम अपनी आत्मा को उत्थान की ओर ले जाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे तथा यह पतन की ओर अग्रसर न हो, इस विषय मे सतत सजग और सावधान रहे।

अव प्रश्न उठता है कि आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले कारण कौन-कौन से हैं और उनसे आत्मा को किस प्रकार बचाया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे सहज ही यह कहा जा सकता है कि आत्मा को मलिन और दूपित बनाकर दुर्गति की ओर ले जाने वाले मुख्य कारण क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चारों कपाय हैं। इन चारो कषायो मे बडा सगठन है। जहाँ एक कपाय ने मन पर कब्जा किया कि बाकी तीनो भी चुपके से उसका पीछा करते हुए अपना स्थान बना लेते हैं।

इसलिये मोक्षमार्ग की साधना करके आत्मकल्याण करने की अभिलापा रखने वाले साधक को अपनी आत्मा की इन कपायो से सदा रक्षा करनी चाहिये तथा इन्हे आत्म-गुणो का लुटेरा मानकर इनसे बचना चाहिये।

प्रौढ कवि, शास्त्रविशारद पडित श्री अमीऋपि जी महाराज ने अपने एक भजन मे कहा है—

गाफल मत रह बनजारा, मारग में बसे हैं ठगारा।

भजन की इस प्रथम पक्ति मे कवि ने जीवात्मा को बनजारे की उपमा दी है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप तथा मोह आदि को ठग बताया है, क्योकि

ये कषाय आदि ही आत्मिक गुणों को नष्ट करते हैं। अत कहा है—अरे जीवात्मन्! तू अपने ज्ञान, दर्शन, एव चारित्र रूपी धन का सरक्षण करने के लिये सावधान रह, गाफिल मत हो, क्योकि तेरी साधना के मार्ग मे इस धन को लूटने वाले अनेक ठग हैं। अनन्त काल से ये आत्मा को लूटते और हानि पहुँचाते चले आ रहे हैं। न इन्होंने अपनी आदत छोडी है और न जीवात्मा ही सावधान हुआ है। परिणाम यही हुआ कि जीव को चौरासी लाख योनियो मे नाना प्रकार के दुख सहते हुए भटकना पडा है।

यही वात कहते हुए कवि ने आगे के लिये चेतावनी दी है—

भव अटवी में भटकत आया,
वडा शहर मनुष्य भव पाया जी।
अव कर ले यहाँ व्यापारा,
मारग में वसे हैं ठगारा।

भव अटवी यानी ससार रूपी अरण्य। इसमे भटकते-भटकते जीव इस मनुष्य जन्म रूपी वडे नगर मे आया है। नगर का महत्व आप सभी समझते हैं। प्राय देखते भी हैं कि छोटे-छोटे गांवो मे रहने वाले व्यक्ति वहां पर कोई कमाई न होने के कारण नागपुर, पूना, मद्रास, कलकत्ता तथा वम्बई आदि वडे-वडे शहरो मे चले जाते हैं और वहां पर वडे-वडे व्यापार करके लखपति और करोडपति वन जाते हैं।

मनुष्य जन्म को भी वडा शहर वताते हुए कवि ने वडी सुन्दरता और चतुराई से जीवात्मा को प्रतिवोध दिया है—भोले जीव! तू चौरासी लाख योनियो मे भटका है, किन्तु वे सभी योनियां ऐसे छोटे गांव सावित हुई हैं जहाँ तू कुछ भी आत्मा के लिये कमाई नही कर सका। पर अव अनन्त पुण्यो के उदय से तुझे मानव-जन्म रूपी यह वडा भारी शहर प्राप्त हो गया है और अव प्रयत्न करे तो चाहे जितनी कमाई तू यहाँ कर सकता है।

वस्तुत अन्य योनियो मे जीव कुछ नही कर पाता। नरक, निगोद आदि निकृष्ट पर्यायो मे न जीव मे ज्ञान होता है न बुद्धि और न विवेक की ही प्राप्ति होती है। पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि जीवो को आप देखते ही हैं। क्या वे अपनी आत्मा के हित और अहित को समझ सकते हैं? नही, यहाँ तक कि हाथी और सिंह जैसा विशाल तथा शक्तिशाली शरीर पाकर भी जीव बुद्धि और विवेक के अभाव मे अपनी आत्मा के स्वरूप को नही समझ सकता तथा अपने आत्म-कल्याण का कोई प्रयत्न नही कर सकता। उनका विशाल शरीर और अपार वल भी निरर्थक चला जाता है।

यहाँ आप विचार करेंगे कि नरक तथा तिर्यंच गति मे न सही पर देवगति मे तो जीव चाहे जो कुछ कर सकता होगा, क्योकि मनुष्य भी तो स्वर्ग पाने की अभिलाषा रखते हैं।

आपका यह विचार करना अनुचित नही है। नरक और तिर्यंच गति की अपेक्षा देवगति श्रेष्ठ है। वहाँ मृत्युलोक की अपेक्षा जीव अधिक सुख प्राप्त करता है तथा भोगोपभोगो मे निमग्न रहता है। किन्तु वह सब उसे अपनी आयु के समाप्त होने तक ही प्राप्त रहते हैं। अपने ज्ञान के द्वारा जब वह जान लेता है कि मेरी आयु सपूर्ण होने को है तो वह वहुत आर्तध्यान करता है तथा कर्मों का बधन करके वहाँ से निकलकर पुन दु ख भोगने और जन्म-मरण करने लगता है। इसके अलावा वहाँ पर जीव जितने काल तक रहता है, केवल पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त भोगो को भोगने मे ही इतना लीन रहता है कि आत्मा को कर्म-मुक्त करने का कोई प्रयत्न नही करता। स्वर्ग मे रहकर आत्म-कल्याण के लिये कुछ भी त्याग अथवा साधना नही की जा सकती।

इसीलिये कवि ने मनुष्य-जन्म को ही सबसे बडा और ऐसा नगर बताया है, जहाँ पर जीव धर्माराधन का बडे से बडा व्यापार करके उसके फलस्वरूप मोक्ष रूपी नफा भी हासिल कर सकता है।

स्थानाग सूत्र मे कहा गया है कि देवता भी तीन बातो के लिये लालायित रहते हैं—

तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा
माणुस भव, आरिए खेत्ते जम्म, सुकुलपच्चायाति।

देवता भी तीन चीजो की इच्छा करते हैं—मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र मे जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

ऐसा क्यो ? इसलिये कि जीव मानव-पर्याय पाकर ही त्याग, नियम, प्रत्याख्यान, तपस्या एव सयम साधना कर सकता है। और किसी भी गति या किसी भी योनि मे यह सभव नही है। तो देवता भी जब मानव जन्म पाने के लिये व्याकुल रहते हैं तो क्यो नही इस जन्म को सर्वश्रेष्ठ और कवि के शब्दो मे सबसे बडा शहर कहाजायेगा।

यही वह स्थान है जहाँ से मनुष्य निकृष्ट कर्म करके अधोगति मे जा सकता है और श्रेष्ठ कर्म करके सदा के लिये ससार-मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकता है।

इसलिये बधुओ प्रत्येक मनुष्य को अपने इस दुर्लभ जीवन की महत्ता को समझना चाहिये तथा उसके द्वारा अपने उत्तम और इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे अमूल्य भव को पाकर भी अज्ञान के कारण और भोगोपभोगो मे डूबे रहकर अगर हमने इसे व्यर्थ कर दिया तो इससे बढकर मूर्खता हमारी और क्या होगी ?

एक छोटा शिशु जो कि अज्ञानी होता है, उसे भले ही हाथ मे हीरा दे दिया जाय, वह उसका मूल्य नही समझता और किसी व्यक्ति के द्वारा दो पैसे का रग-विरगा मिट्टी का खिलौना लेकर ही वह हीरा उसे दे देता है या एक ओर फेंक देता है।

अगर कोई मनुष्य अज्ञानी है तो वह भी ठीक उस शिशु के समान ही है। वह भी अपने अमूल्य मानव-जन्म रूपी हीरे की कोई कद्र नही कर पाता तथा भोगोपभोग रूपी मिट्टी के रग-विरगे खिलौनो के बदले अपने मानव-जन्म रूपी अमूल्य रत्न को व्यर्थ गँवा देता है और जब वे भोग-रूपी मनमोहक खिलौने टूट जाते हैं तो फिर अन्त मे पश्चात्ताप करता है। किन्तु तब क्या हो सकता है ? बीता हुआ समय तो पुन लौटकर आता नही, केवल पछतावा ही हाथ लगता है।

वीतरागो की वाणी सुनाने वाले हमारे शास्त्र इसीलिये बार-बार प्राणियो को आगाह करते हैं तथा उन्हे समझाते हैं कि अपने इस दुर्लभ जीवन का लाभ उठाओ और प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करो ताकि यह निरर्थक न चला जाय।

कहा भी है—

> स्वर्णस्थाले क्षिपति स रज पाद शौच विधत्ते ।
> पीयूषेण प्रवरकरिण वाहयत्यैन्धभारम् ॥
> चिन्तारत्न विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं ।
> यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥

—सिन्दूर प्रकरण ५

— जो व्यक्ति आलस्य अथवा प्रमाद के वश मनुष्य जन्म को निरर्थक गँवा रहा है, वह अज्ञानी पुरुष मानो सोने के थाल मे मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, श्रेष्ठ हाथी पर ईन्धन ढो रहा है और चिन्तामणि रत्न को कौए उडाने के लिए फेंक रहा है।

वस्तुत ऐसा करने वाला व्यक्ति महामूर्ख और अज्ञानी बालक के सदृश है। पर बालक फिर भी अपनी अज्ञानता के लिये क्षम्य है, क्योकि अल्पायु होने के कारण

उसकी बुद्धि विकसित नही होती, विवेक जागृत नही होता तथा वह ज्ञानप्राप्ति भी नही कर पाता ।

किन्तु मनुष्य जो अपनी जिन्दगी के कई वर्ष विता चुकता है, उसके लिये तो यह वात है नही । क्योकि उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, विवेकपूर्णता प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी उसे वहुत समय मिल चुकता है। आवश्यकता उसे केवल इतनी ही रहती है कि वह प्रमाद का त्याग करके सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करे, मिथ्यात्व से होने वाली हानियो को शास्त्र एव सद्‌गुरु के उपदेशो से समझता हुआ उसका त्याग करे और अपनी बुद्धि तथा विवेक को सही मार्ग पर ले जाए । बुद्धि, ज्ञान और विवेक सभी मे होता है किन्तु उसका सही उपयोग सब नही कर पाते ।

आप जानते हैं कि एक डॉक्टर के हाथ मे भी शरीर को चीर देने वाले तेज अस्त्र होते है तथा एक डाकू के हाथ मे भी वैसे ही अग-भग कर देने वाले हथियार रहते हैं । किन्तु डॉक्टर अपने अस्त्रो का सही उपयोग करने के कारण प्राणी को जीवन-दान देता है और डाकू अपने हथियारो का दुरुपयोग करने के कारण जीवन का खात्मा कर देता है । हथियार दोनो के ही हाथ मे होते हैं किन्तु एक उनका सदुपयोग और दूसरा दुरुपयोग करता है ।

इसी प्रकार अपवाद रूप कुछ पागल अथवा ऐसे ही इने-गिने व्यक्तियो को छोडकर वाकी सभी मानवो के पास बुद्धि, विवेक, ज्ञान एव आत्म-शक्ति होती है । किन्तु वे इन चीजो का सदुपयोग नही करते, इन्हें आत्म-कल्याण की साधना में नही लगाते । उलटे भोगो के साधन जुटाने मे, परिग्रह वढाने मे अथवा सासारिक सवधियो के प्रति घोर ममत्व रखते हुए उनके लिये नाना प्रकार के कुकर्म और अनीतिपूर्ण व्यापारो को करने मे लगा देते हैं । परिणाम यह होता है जो साधन उन्हें आत्म-कल्याण मे सहायता दे सकते हैं, वे ही उन्हे पतन की ओर ले जाने मे सहायक वनते हैं ।

इसलिये वधुओ, हमे जवकि यह मानव-जन्म मिल गया है, पाँचो इन्द्रियां भी परिपूर्ण मिली हैं, सतो की सगति से वीतराग की वाणी सुनने का भी अवसर मिल रहा है तो इन समस्त साधनो का लाभ उठाने मे ही हमारी वुद्धिमानी है । जो कुछ हम सुनते हैं, धर्मग्रन्थो मे पढते हैं, उसे जीवन मे उतारना भी चाहिये । अन्यथा सुनने और पढने से कोई लाभ नही हो सकेगा ।

जिस प्रकार आप कपडे की दुकान पर पहुँचते हैं, और विभिन्न प्रकार के कपडे देखते हैं तथा उनके भाव आदि भी सव पूछ लेते हैं किन्तु केवल कपडों को

इसलिये बधुओ प्रत्येक मनुष्य को अपने इस दुर्लभ जीवन की महत्ता को समझना चाहिये तथा उसके द्वारा अपने उत्तम और इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे अमूल्य भव को पाकर भी अज्ञान के कारण और भोगोपभोगो मे डूबे रहकर अगर हमने इसे व्यर्थ कर दिया तो इससे बढकर मूर्खता हमारी और क्या होगी ?

एक छोटा शिशु जो कि अज्ञानी होता है, उसे भले ही हाथ मे हीरा दे दिया जाय, वह उसका मूल्य नही समझता और किसी व्यक्ति के द्वारा दो पैसे का रग-बिरगा मिट्टी का खिलौना लेकर ही वह हीरा उसे दे देता है या एक ओर फेंक देता है।

अगर कोई मनुष्य अज्ञानी है तो वह भी ठीक उस शिशु के समान ही है। वह भी अपने अमूल्य मानव-जन्म रूपी हीरे की कोई कद्र नही कर पाता तथा भोगोपभोग रूपी मिट्टी के रग-बिरगे खिलौनो के बदले अपने मानव-जन्म रूपी अमूल्य रत्न को व्यर्थ गँवा देता है और जब वे भोग-रूपी मनमोहक खिलौने टूट जाते हैं तो फिर अन्त मे पश्चात्ताप करता है। किन्तु तब क्या हो सकता है ? बीता हुआ समय तो पुन लौटकर आता नही, केवल पछतावा ही हाथ लगता है।

वीतरागो की वाणी सुनाने वाले हमारे शास्त्र इसीलिये बार-बार प्राणियों को आगाह करते हैं तथा उन्हे समझाते हैं कि अपने इस दुर्लभ जीवन का लाभ उठाओ और प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करो ताकि यह निरर्थक न चला जाय।

कहा भी है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रज पाद शौच विधत्ते ।
पीयूषेण प्रवरकरिण वाहयत्यैन्धभारम् ॥
चिन्तारत्म विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं ।
यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्त ॥

—सिन्दूर प्रकरण ५

—जो व्यक्ति आलस्य अथवा प्रमाद के वश मनुष्य जन्म को निरर्थक गँवा रहा है, वह अज्ञानी पुरुष मानो सोने के थाल मे मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, श्रेष्ठ हाथी पर ईन्धन ढो रहा है और चिन्तामणि रत्न को कौए उडाने के लिए फेंक रहा है।

वस्तुत ऐसा करने वाला व्यक्ति महामूर्ख और अज्ञानी बालक के सदृश है। पर बालक फिर भी अपनी अज्ञानता के लिये क्षम्य है, क्योकि अल्पायु होने के कारण

उसकी बुद्धि विकसित नही होती, विवेक जागृत नही होता तथा वह ज्ञानप्राप्ति भी नहीं कर पाता ।

किन्तु मनुष्य जो अपनी जिन्दगी के कई वर्ष बिता चुकता है, उसके लिये तो यह बात है नही। क्योकि उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, विवेकपूर्णता प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी उसे बहुत समय मिल चुकता है। आवश्यकता उसे केवल इतनी ही रहती है कि वह प्रमाद का त्याग करके सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करे, मिथ्यात्व से होने वाली हानियो को शास्त्र एव सद्गुरु के उपदेशो से समझता हुआ उसका त्याग करे और अपनी बुद्धि तथा विवेक को सही मार्ग पर ले जाए। बुद्धि, ज्ञान और विवेक सभी मे होता है किन्तु उसका सही उपयोग सब नही कर पाते ।

आप जानते हैं कि एक डॉक्टर के हाथ मे भी शरीर को चीर देने वाले तेज अस्त्र होते है तथा एक डाकू के हाथ मे भी वैसे ही अग-भग कर देने वाले हथियार रहते हैं। किन्तु डॉक्टर अपने अस्त्रो का सही उपयोग करने के कारण प्राणी को जीवन-दान देता है और डाकू अपने हथियारो का दुरुपयोग करने के कारण जीवन का खात्मा कर देता है। हथियार दोनो के ही हाथ मे होते हैं किन्तु एक उनका सदुपयोग और दूसरा दुरुपयोग करता है ।

इसी प्रकार अपवाद रूप कुछ पागल अथवा ऐसे ही इने-गिने व्यक्तियो को छोडकर बाकी सभी मानवो के पास बुद्धि, विवेक, ज्ञान एव आत्म-शक्ति होती है। किन्तु वे इन चीजो का सदुपयोग नही करते, इन्हे आत्म-कल्याण की साधना मे नही लगाते। उलटे भोगो के साधन जुटाने मे, परिग्रह बढाने मे अथवा सासारिक सबधियो के प्रति घोर ममत्व रखते हुए उनके लिये नाना प्रकार के कुकर्म और अनीतिपूर्ण व्यापारो को करने मे लगा देते हैं। परिणाम यह होता है जो साधन उन्हें आत्म-कल्याण मे सहायता दे सकते हैं, वे ही उन्हे पतन की ओर ले जाने मे सहायक बनते हैं ।

इसलिये बधुओ, हमे जबकि यह मानव-जन्म मिल गया है, पाँचो इन्द्रियाँ भी परिपूर्ण मिली हैं, सतो की सगति से वीतराग की वाणी सुनने का भी अवसर मिल रहा है तो इन समस्त साधनो का लाभ उठाने मे ही हमारी बुद्धिमानी है। जो कुछ हम सुनते हैं, धर्मग्रन्थो मे पढते हैं, उसे जीवन मे उतारना भी चाहिये। अन्यथा सुनने और पढने से कोई लाभ नही हो सकेगा।

जिस प्रकार आप कपडे की दुकान पर पहुँचते हैं, और विभिन्न प्रकार के कपडे देखते हैं तथा उनके भाव आदि भी सब पूछ लेते हैं किन्तु केवल कपडो की

किस्मे जान लेने से और उनकी कीमत पूछ लेने से ही क्या होगा ? कपड़ा न आपका कहलायेगा और न ही आपके उपयोग मे आएगा। जब तक आपने दुकानदार से फाड़ने के लिये नही कहा, तब तक वह दुकानदार का ही कहलाएगा न ?

इसी प्रकार आपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय मे पढ लिया तथा उनके भेद-प्रभेदो को भी सतो से जान लिया, किन्तु जब तक वह आपके जीवन में नही उतरे यानी आपने उन्हे अमल मे नही लिया, तब तक वह ज्ञान कपडे की किस्म जानने और उनके केवल भाव पूछ लेने के समान ही है। वह ज्ञान आपको कोई लाभ नही पहुँचा सकता।

इसलिये कवि ने आगे कहा है—

शुद्ध सत्तावन सवर के,
लेना पोथी माल सग भर के।
सत हित दयाल, होशियारा,
मारग में बसे हैं ठगारा॥

कहते हैं—यह मनुष्य-जन्म रूपी शहर अनेक योनिरूप वनों को पार करने के पश्चात् मिला है और यहाँ पर हम सभी तरह की कमाई कर सकते हैं। जीव के पाँचसौ त्रेसठ भेद हैं। वह इस शहर मे प्रत्येक स्थान पर जा सकता है। ऐसी बात नही है कि वह यहाँ से केवल स्वर्ग या नरक मे ही जाता है। केवल स्त्रियाँ छठे नरक तक ही जाती हैं अत इनके लिये दो भेद कम हैं अर्थात् पाँचसौ इकसठ ही हैं।

तो इस जन्म से जीव नर्कगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ही नहीं पाँचवी मोक्षगति तक भी जा सकता है तो फिर उसे नरक और तिर्यंच गति का उपार्जन करके इस अमूल्य जन्म को क्यो व्यर्थ जाते देना चाहिये ? उसकी बुद्धिमानी इसी मे है कि वह मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न करे। और इसके लिये सवर के सत्तावन भेदो का ज्ञान करके उनके अनुसार साधनापथ पर बढना चाहिये। पाच समितियों का पालन करना भी साधक के लिये परम आवश्यक है। इन समितियो का पालन करने पर ही साधक का चारित्र शुद्ध और दृढ बन सकता है। पांच समितियो में पहली समिति 'ईर्यासमिति' कहलाती है।

ईर्यासमिति

ईर्यासमिति का अर्थ है—भली-भाति देखकर चलना। प्रत्येक प्राणी को सदा देखकर चलना चाहिये। मनुस्मृति मे कहा भी है—

"दृष्टिपूत न्यसेत् पादम्।"

दृष्टि से पवित्र हुई भूमि पर कदम रखो और उसके पश्चात् बिना देखे मत चलो। बिना देखे चलने से अनेक प्रकार की हानि होती है। प्रथम तो सूक्ष्म जीवो की हिंसा होती है अत कर्मों का बन्धन होता है, दूसरे काटा चुभ जाने से अथवा पत्थर आदि की ठोकर लगने से शरीर को कष्ट होता है।

एक राजस्थानी पद्य मे बडे मधुर ढग से कहा गया है—

नीचे जोया गुण घणा, पडी वस्तु मिल जाय।
ठोकर की लागे नहीं, जीव जन्तु बच जाय।

यानी, नीचे देखकर चलने से कई लाभ होते हैं। एक तो यह कि कभी-कभी मूल्यवान वस्तुएँ भी अगर जमीन पर पडी हुई हो तो मिल जाती हैं, दूसरे कभी ठोकर भी नही लगती, तीसरे छोटे-छोटे निरपराध प्राणियो की हिंसा से भी व्यक्ति बच जाता है।

दूसरे शब्दो मे न आत्म-विराधना होती है अर्थात् स्वय के शरीर को चोट नही लगती और न पर-विराधना होती है क्योकि दूसरे प्राणियो की हिंसा भी नही होती। अहिंसा का महत्त्व केवल हिन्दू ही नही मानते अपितु अन्य सभी धर्म समान भाव से मानते हैं।

मुस्लिम धर्म भी कहता है—

"जेरे कदम हजार जानस्त।"

अर्थात् पैर के नीचे हजारो जानवर हैं, अत देखकर चलो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्मग्रन्थ मे धर्म के मूल सिद्धान्त मान्य हैं। सवर के सत्तावन भेदो मे प्रथम पाँच भेद पाँच समितियाँ हैं और पाँच समितियों मे पहली है ईर्यासमिति। यानी देखकर चलना। इस बात का कितना महत्त्व है, यह केवल जैनधर्म मे ही नही अपितु मनुस्मृति और मुस्लिम ग्रन्थ के उदाहरण से भी आपको ज्ञात हो गया होगा।

ईर्यासमिति का पालन करना केवल साधु के लिये ही नही, वरन् प्रत्येक श्रावक और प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिये आवश्यक है। हमारी बहनें प्राय गन्दा पानी तथा जूठन वगैरह ऊपर की मजिल की खिडकियो से सडक पर डाला करती हैं। अनेक बार उनके छीटे हम लोगो को भी लगते हैं और सडक पर चलने वाले व्यक्तियो को भी लगते होंगे।

ऐसा करना भी ईर्यासमिति का ध्यान न रखने से ही होता है। प्रथम तो यह असभ्यता का सूचक है, दूसरे जिस व्यक्ति पर राख व जूठन आदि का गन्दा पानी गिरता है वह व्यक्ति सज्जन हुआ तो चुपचाप आगे बढ जाता है, अन्यथा गाली-गलौज की नौबत आती रहती है। कभी-कभी तो देखकर चलने या देखकर कार्य न करने से बडा अनर्थ भी घट जाता है।

सूर्पनखा का पुत्र शबुक चन्द्रहास खड्ग की सिद्धि करने के लिये बारह वर्ष तक घोर जगल मे बाँस की एक झाडी मे तपस्या करता रहा था। बारह वर्ष पूर्ण हुए और दैविक ज्योति से जगमगाता हुआ चन्द्रहास खड्ग झाडी के समीप आकर गिरा।

किन्तु शबुक का ध्यान भग होता और वह उसे उठाता, उससे पहले ही सयोगवश लक्ष्मण घूमते-घामते उधर आ निकले और उनकी दृष्टि चन्द्रहास पर पड गई। देखकर चकित हुए, उसे उठाया और यह देखने के लिये कि इस सुन्दर खड्ग मे धार भी है या नही? उन्होने समीप की झाडी पर ही उसका वार किया। लक्ष्मण ने देखा नही कि घनी झाडी मे भी कोई प्राणी हो सकता है। परिणाम यह हुआ कि उस झाडी मे शबुक जिस चन्द्रहास खड्ग के लिये पूरे बारह वर्षों से घोर तपस्या कर रहा था, उसी खड्ग से उसका मस्तक धड से अलग हो गया और लक्ष्मण इसका कारण बने। तो यह भयकर कृत्य बिना देखे झाडी पर वार करने से ही घटा था।

इसलिये सवर के सत्तावन भेदो मे पहले पाँच समितियाँ बताई गई हैं और पाँच समितियो मे भी सबसे पहला स्थान ईर्यासमिति अर्थात् देखकर चलना चाहिये, देखकर प्रत्येक कार्य सम्पन्न करना चाहिये, इसे दिया गया है।

मैंने अनुभवी और ज्ञानी पुरुषो से सुना है कि ईर्यासमिति के शुद्ध होने पर ही व्यक्ति को चौदह पूर्व का ज्ञान हो सकता है। इसका कारण यही है कि देखकर चलने से असख्य जीवो की हत्या से बचा जा सकता है और इस प्रकार अहिंसा का पालन होता है। धर्म का मूल अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव मे कोई भी धर्म-क्रिया अपना शुभ फल नही देती।

बडे-बडे आलीशान मकान नीव के सुदृढ होने पर ही टिक सकते हैं, इसी प्रकार अहिंसा रूपी नीव के मजबूत होने पर ही धर्म का विशाल भवन खडा किया जा सकता है और वह सुदृढ बना रह सकता है। पर यह तभी संभव हो सकता है,

जबकि चलना-फिरना और अन्य कार्य भी देख-भालकर किये जाय। इस विराट विश्व मे ऐसे-ऐसे सूक्ष्म जीव भी हैं जो सुई की नोक के समान छोटे होते हैं और इतना ही नही ऐसे भी जीव होते हैं जोकि आंखो से दिखाई भी नही देते। किन्तु बधुओ! हमे जहाँ तक बने प्राणियो की विराधना से बचना चाहिये। आप चाहे जितनी सामायिकें करें, प्रवचन सुनें, शास्त्र पढ़ें, पर जीवो की विराधना से बचें तो वह आपका सबसे बड़ा धर्मकार्य होगा।

इसलिये सर्वप्रथम ईर्यासमिति को महत्त्व दिया गया है और प्रत्येक को इसका पालन करना चाहिये।

२ | तोल कर बोलो !

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने शास्त्रविशारद, सुप्रसिद्ध कवि श्री अमीऋषि जी महाराज के एक भजन के आधार पर यह जाना था कि जीव एक वनजारे के समान है, जो अनेक योनियो मे भटकते-भटकते इस मनुष्य जन्म-रूपी वडे शहर मे आ पहुँचा है। इसके मार्ग मे कपाय रूपी वडे-वडे लुटेरे बैठे हैं जो कि समय-समय पर इसके ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूपी धन को लूटते रहे हैं। यद्यपि अभी भी उन लुटेरो ने जीव का पीछा नही छोडा है, किन्तु कवि का कहना है कि इस जीवन मे सौभाग्य से इसे विशिष्ट वुद्धि, ज्ञान और विवेक प्राप्त हो गया है तो उसे अपने आत्मिक धन को सुरक्षित रखने के लिये धर्म का सुदृढ गढ तैयार कर लेना चाहिये।

कवि ने आगे भी कहा है कि धर्म-रूपी सुदृढ किले का निर्माण तभी हो सकता है जवकि सवर की आराधना की जाय। संवर के सत्तावन भेद होते हैं। जिनमे सर्व प्रथम पाच समितियाँ होती हैं और उनमे से पहली समिति ईर्यासमिति है, जिसके विपय मे कल वताया गया है। ईर्यासमिति के पश्चात् भापासमिति आती है। भापासमिति दूसरी है और उसीके विपय मे आज हमे विचार करना है।

समिति मे 'सम्' उपसर्ग और इति शब्द मे 'इन्' धातु है। अच्छी तरह से गमन करना समिति कहलाता है। मोक्षमार्ग मे अच्छी तरह गमन करना यही समिति से आशय है।

भापासमिति

मन के अन्दर जो भाव, जो विचार आते हैं, उन विचारो को स्पष्ट करने के लिये जो शब्द जवान पर आते हैं, वही भापा कहलाती है। मन मे चाहे जितने

और चाहे जैसे विचार हो, वे जब जबान के द्वारा बाहर आएँगे तभी अन्य व्यक्तियो को उनके बारे मे मालूम हो सकेगा। इस प्रकार विचारो का आदान-प्रदान मे शब्द सहायक होते हैं और व्यवस्थित रूप से भावो को प्रकट करने वाले शब्द ही भाषा कहलाती है।

भाषा हमारे सासारिक व्यवहार मे भी काम आती है और मोक्षमार्ग मे भी व्यवहृत होती है। पर वह तभी लाभकारी होती है जबकि समिति-युक्त बोली जाय। बोलते सभी हैं। आपको भी बोलना पडता है, और हमारा भी बिना बोले कार्य नही चलता। फर्क यही है कि हमे अपनी भाषा पर पूर्ण काबू रखते हुए बोलना होता है।

दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्याय के अत मे भी कहा गया है कि मुनियो को सावद्य अर्थात् पापसहित भाषा नही बोलना चाहिये।

साधक के लिये स्पष्ट कहा है—

> दिट्ठ मिय असदिद्ध, पडिपुन्न विअजिय।
> अयपिरमणुव्विग्ग, भास निसिर अत्तव॥
>
> —दशवैकालिक सूत्र ८।४९

आत्मवान् साधक दृष्ट, परिमित, सदेहरहित, परिपूर्ण और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह ध्यान मे रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरो को उद्विग्न करने वाली न हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि मुनि को न तो निश्चयकारक भाषा बोलनी चाहिये और न ही असत्य भाषण करना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र मे असत्य-भाषण के चार कारण बताए गये हैं। वे कारण हैं— क्रोध, मान, माया और लोभ।

इनके कारण ही लोग झूठ बोलते हैं। क्रोध के कारण बाप बेटे से और भाई-भाई से अनेक झूठ बोल जाते हैं। जब बँटवारा होता है तो हम प्राय देखते हैं कि प्रत्येक भाई दूसरे से जहाँ तक होता है धन-माल छिपाने की कोशिश करता है और प्रत्यक्ष रूप मे ही यही कहता है अमुक वस्तु मेरे पास है ही नही। अहकार के वश मे होकर भी व्यक्ति ख्यातिप्राप्ति के लिये अपने न किये हुए भी अनेक उत्तम कार्य गिना देता है, ताकि लोग उसकी प्रशसा करें और वह गर्व से मस्तक ऊँचा रख सके। तीसरा कारण माया अथवा कपट है, जिसकी तो नीव ही असत्य होती है। अर्थात् कपट के कारण व्यक्ति मन मे कुछ विचार करता है और जबान से कुछ कहता है। इनके अलावा लोभ के विषय मे तो आप जानते ही हैं कि दुकानदार या व्यापारी चार रुपये की चीज के आठ बताता है और थोडे-थोडे लाभ के लिये भी ईश्वर की,

धर्म की सौगन्ध खा लेता है। कोर्ट-कचहरियो मे तो झूठ का बोलबाला ही रहता है। दो पक्ष होते हैं। उनमे से अगर एक सच्चा होता है तो दूसरा निश्चय ही गलत होता है। किन्तु वह स्वय झूठी बातें कहता है, झूठी गवाहियाँ दिलाता है और उसके वकील भी उस असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह सब केवल लोभ के कारण ही होता है। मुकदमा लडने वाला किसी के धन, मकान अथवा खेत पर कब्जा करना चाहता है, या अपने किसी अपराध को छिपाना चाहता है। और वकील अपनी फीस के लोभ मे उसकी पैरवी करता है। इन सभी बातो के मूल मे लोभ ही है।

इन सबके अलावा लोग प्राय हँसी-मजाक मे भी झूठ बोलते हैं। यद्यपि मजाक में बोला हुआ झूठ अधिक कषाय पर आधारित नही होता, किन्तु उससे अनेक बार व्यक्तियो का मन दु खी अवश्य होता है। अत हँसी-मस्करी से भी झूठ नही बोला जाना चाहिये।

मराठी भाषा मे कहा गया है—

"अशी ही थट्टा, भलभल्याला लावला बट्टा।"

हँसी मे असत्य बोलने से भी पाप-कर्म की पोटली तो बँधती ही है। अतः असत्य तो किसी भी अवस्था मे नही बोलना चाहिये।

मनुष्य को अनेक पुण्यो के फलस्वरूप तो पहले जीभ प्राप्त होती है और उसके पश्चात् भी जब अनन्त पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो जीभ के द्वारा स्पष्ट बोलने की अर्थात् अन्य व्यक्ति उसे समझ सके, ऐसी भाषा बोलने की क्षमता प्राप्त होती है।

तो बुद्धिमान् पुरुष बडी भारी कीमत देने पर प्राप्त हुई भाषा-शक्ति को निरर्थक ही नही गवा देता अपितु उससे नवीन पुण्यो का सचय कर लेता है। हमारे शास्त्रो मे पुण्य के नौ भेद किये जाते हैं। उनमे से एक भेद वचन-पुण्य भी है। अत स्पष्ट है कि विवेक के द्वारा बोलने से अनन्त पुण्यो का सचय किया जा सकता है। आवश्यकता है केवल अपनी भाषा और वचनो पर काबू रखने की। बहुत सोच-समझ कर बोलने पर ही वाणी का लाभ उठाया जा सकता है।

स्थानाग सूत्र के छठे अध्याय मे कहा भी गया—

नो कप्पइ इमाइ छ अवयणाइ वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसिव वयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवित वा पुणो उदीरीत्तए।

अर्थात् छः प्रकार के वचन नही बोलना चाहिये । वे हैं—असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिडकी भरे वचन, कठोर वचन एव शान्त हुए कलह को पुन भडकाने वाले वचन ।

इस प्रकार भाषा के विपय मे हमारा धर्म बडी सावधानी रखने की आज्ञा देता है । चाहे व्यक्ति श्रावक हो या साधु । दोनो को ही भाषा का प्रयोग अत्यन्त सयम पूर्वक करना चाहिये । आप लोगो के लिये चेतावनी है—

"श्रावक जी थोडा बोले, काम पड्या सू बोले ।"

ऐसा क्यो कहा गया है ? इसलिए कि आप अगर कम बोलेंगे तो अपनी भाषा पर अधिक ध्यान रख सकेंगे तथा उसमे सयम की मात्रा बनी रहेगी । वाचाल पुरुष जब अनर्गल बोलते हैं तो उन्हे वाणी पर सयम नही रहता और वे असत्य बोलने के साथ-साथ कटु और अप्रिय भी बोल जाते हैं । इसलिये प्रत्येक पुरुष को चाहिये कि वह कम-से-कम बोले, आवश्यकता होने पर ही परिमित वचनो का प्रयोग करे ।

भगवान ने मुनियो के लिये तो भाषा पर पूरा प्रतिबन्ध लगाया है । पाँच महाव्रतो मे दूसरा व्रत है—सत्य बोलना । यह साधना की डोरी मे पहली गाँठ है । पाँच समितियो मे दूसरी भाषासमिति है । यह दूसरी गाँठ है । इसके पश्चात् तीन गुप्तियो मे एक वचनगुप्ति है यह तीसरी गाँठ है ।

आप किसी भी वस्तु को धागे से बांधते हैं तो एक गाँठ पर विश्वास न करते हुए दूसरी भी लगाते हैं और निश्चित हो जाते हैं कि अब धागा खुल नही सकता । किन्तु भगवान ने साधु की साधना को मजबूत बनाने के लिये सत्य की दो गाँठो पर भी विश्वास न करके तीन-तीन गाँठें लगाई हैं । सतो के लिये तो असत्य ही क्या, सत्य भी अप्रिय, कटु और अहितकारी हो तो नही बोलना चाहिये । निश्चयकारक भाषा का बोलना भी वर्जित है । कभी-कभी इससे बडा अनर्थ हो जाता है । एक उदाहरण से यह बात आपकी समझ मे आ जाएगी ।

निश्चयात्मक भाषा से अनर्थ

किसी गाव मे एक सन्त का चातुर्मास था । उसी गाँव मे एक राजपूत स्त्री रहती थी । स्त्री बडी धर्मात्मा थी, अत सत के दर्शन करने और उनका प्रवचन सुनने को प्रतिदिन आया करती थी । किन्तु वह सदा उदास दिखाई देती थी, अत एक दिन मुनि ने उससे पूछा—"बहन ! तुम सदा अत्यन्त उदास रहती हो, इसका क्या कारण है ?

स्त्री बोली—"भगवन् ! मेरे पति बारह वर्ष से घर नही आए हैं । वे युद्ध

मे गये थे किन्तु अब तक लौटे नही, न ही बहुत दिनो से उनके कोई समाचार ही मुझे मिले हैं।"

सत ज्ञानी और सिद्ध पुरुष थे। उन्होने कह दिया--"तुम्हारा पति कल आ जाएगा।"

यद्यपि साधु का सत्य होने पर भी निश्चयकारी भाषा कभी नही बोलनी चाहिये, किन्तु उनसे भूल हो गई और उन्होने स्त्री को निश्चयात्मक वचनो से दिलासा दे दी।

राजपूत रमणी को मुनि पर असीम श्रद्धा और विश्वास था। उसने सत की बात को पूर्ण सत्य माना और अपार खुशी से विह्वल होकर घर चली गई। घर पहुँचते ही उसने पति के स्वागत की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी। सम्पूर्ण घर को उसने साफ किया, सजाया और घर दीपावली के त्यौहार पर जिस प्रकार सुन्दर लगता है, उसी प्रकार जगमगाने लगा। वह दिन उसने घर की काया-पलट मे लगाया और अगले दिन स्वय अपने शरीर को सजाने मे लग गई। उबटन लगाकर स्नान किया तथा सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर पति की प्रतीक्षा करने लगी।

सत के कथनानुसार सत्य ही स्त्री का पति दिन के तीसरे प्रहर मे घोडी पर बैठकर अपने घर लौट आया। राजपूत स्त्री प्रसन्नता से पागल-सी होकर पति के स्वागत के लिये बाहर आई।

किन्तु राजपूत युवक अपनी पत्नी को देखकर चकित रह गया। वह अपने हृदय मे विचार करता हुआ आया था कि उसकी न जाने कैसी दशा होगी? दुख के कारण उसका चेहरा मुर्झाया हुआ और अत्यन्त क्लात होगा, उसे न खाने का ध्यान होगा, न पहनने का ही होश रहा होगा। पर जब घर आकर उसने देखा कि सम्पूर्ण घर सजावट से जगमगा रहा है और उसकी स्त्री के चेहरे पर दुख या चिंता का लेश भी नही है, उलटे वह वस्त्राभूषणो से लदी हुई परम प्रसन्न नजर आ रही है तो वह सदेह से भर गया कि उसकी पत्नी अवश्य ही दुराचारिणी है।

घोड़ी से उतरते ही उसने क्रोध से पूछा—

"यह सब श्रृङ्गार और सजावट किसके लिये हैं?"

पति की बात सुनते ही स्त्री कुछ क्षणो तक स्तभित-सी खडी रह गई। पर फिर अपने को सभालकर नम्रता पूर्वक बोली—"यह सब कुछ आपके लिये ही है। यहाँ पर जिन मुनि का चातुर्मास है, उन्होने मुझे बताया था कि आप आज आएँगे।"

मे गये थे किन्तु अव तक लौटे नही, न ही वहुत दिनो से उनके कोई समाचार ही मुझे मिले हैं।"

सत ज्ञानी और सिद्ध पुरुप थे। उन्होने कह दिया--"तुम्हारा पति कल आ जाएगा।"

यद्यपि साधु का सत्य होने पर भी निश्चयकारी भापा कभी नही वोलनी चाहिये, किन्तु उनसे भूल हो गई और उन्होने स्त्री को निश्चयात्मक वचनो से दिलासा दे दी।

राजपूत रमणी को मुनि पर असीम श्रद्धा और विश्वास था। उसने सत की वात को पूर्ण सत्य माना और अपार खुशी से विह्वल होकर घर चली गई। घर पहुँचते ही उसने पति के स्वागत की तैयारियां प्रारम्भ कर दी। सम्पूर्ण घर को उसने साफ किया, सजाया और घर दीपावली के त्योहार पर जिस प्रकार सुन्दर लगता है, उसी प्रकार जगमगाने लगा। वह दिन उसने घर की काया-पलट मे लगाया और अगले दिन स्वय अपने शरीर को सजाने मे लग गई। उवटन लगाकर स्नान किया तथा सुन्दर वस्त्राभूपणो से सुसज्जित होकर पति की प्रतीक्षा करने लगी।

सत के कथनानुसार सत्य ही स्त्री का पति दिन के तीसरे प्रहर मे घोडी पर वैठकर अपने घर लौट आया। राजपूत स्त्री प्रसन्नता से पागल-सी होकर पति के स्वागत के लिये वाहर आई।

किन्तु राजपूत युवक अपनी पत्नी को देखकर चकित रह गया। वह अपने हृदय मे विचार करता हुआ आया था कि उसकी न जाने कैसी दशा होगी? दु ख के कारण उसका चेहरा मुर्झाया हुआ और अत्यन्त क्लात होगा, उसे न खाने का ध्यान होगा, न पहनने का ही होश रहा होगा। पर जव घर आकर उसने देखा कि सम्पूर्ण घर सजावट से जगमगा रहा है और उसकी स्त्री के चेहरे पर दु ख या चिंता का लेश भी नही है, उलटे वह वस्त्राभूपणो से लदी हुई परम प्रसन्न नजर आ रही है तो वह सदेह से भर गया कि उसकी पत्नी अवश्य ही दुराचारिणी है।

घोडी से उतरते ही उसने क्रोध से पूछा—

"यह सव शृङ्गार और सजावट किसके लिये है?"

पति की वात सुनते ही स्त्री कुछ क्षणो तक स्तभित-सी खडी रह गई। पर फिर अपने को समालकर नम्रता पूर्वक वोली—"यह सव कुछ आपके लिये ही है। यहाँ पर जिन मुनि का चातुर्मास है, उन्होने मुझे वताया था कि आप आज आएँगे।"

भाषा का तो प्रत्येक व्यक्ति को बडी सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। चाहे साधु हो या श्रावक, बिना विवेक रखे बोलने से अनेक बार अप्रिय प्रसग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिये बुद्धि और विवेक की तुला मे तौले बिना कभी भी शब्दो का उच्चारण नहीं करना चाहिये। कहा भी है—

पुव्वि बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।
अचक्खुओवनेयार, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥

—व्यवहार भाष्य, पीठिका ७६

पहले बुद्धि से परखकर फिर बोलना चाहिये। अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है।

तो बधुओ, आप समझ गए होगे कि वाणी का उच्चारण करने से पहले कितनी सतर्कता रखने की आवश्यकता है। वह तभी रह सकती है जबकि भाषा के गुणो के साथ-साथ उसके दोषो को भी समझ लिया जाय। आप शरीर मे व्याधि उत्पन्न होने पर वैद्य के पास जाते हैं और वैद्य दवा देने के साथ ही यह भी बताते हैं, कि अमुक वस्तुओ को खाओ और अमुक वस्तुओ को छोडो।

इसी प्रकार मोक्षमार्ग पर चलने वाले के लिये भगवान हेय, ज्ञेय एव उपादेय का ज्ञान करने का आदेश देते हैं। वे कहते हैं—'अगर तुम्हे अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो साधना के पथ पर चलो। भाषासमिति का आश्रय लो तथा कटु बोलना छोडकर मधुर भाषा का प्रयोग करो।

जो तत्वज्ञानी होता है, वह समझ लेता है कि सदा प्रिय और हितकारी भाषा बोलनी चाहिये। किसी का नुकसान हो, ऐसी वाणी का प्रयोग करना कर्म-बधन का कारण होता है। नुकसान तो केवल आर्थिक दृष्टि से ही नही माना जाता अपितु जिन वचनो से किसी के दिल मे दुख होता हो, वैसी भाषा भी नहीं बोली जानी चाहिये।

मराठी मे कहा गया है—

बोलावे बहु गोड प्राण्या ! बोलावे बहु गोड ।
दुष्ट, दुरुक्ति, दुर्वचना ची, टाकून द्यावी खोड़, प्राण्या ।

कहते हैं—हे जीव ! सत्-चिदानद आत्मन् ! तू कठोर एव क्रूर दुर्वचनो का त्याग करके मधुर भाषा को ग्रहण कर। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके वचनो मे कठोरता होती है किन्तु अन्त करण कोमल और पवित्र होता है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है, जो ऊपर से तो बडा मधुर बोलते हैं पर उनके अन्तर् मे कलुष रहता है तथा वह औरो के अहित की कामना करते हैं।

ऐसे व्यक्तियो के बारे मे सस्कृत के एक कवि ने कहा है—

परोक्षे कार्य हतारम्, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशम् मित्रम्, विषकुम्भ पयोमुखम् ॥

अर्थात् —परोक्ष मे तो किसी की हानि का प्रयत्न करना, उसका सिद्ध होता हुआ भी विगाड देना, किन्तु प्रत्यक्ष मे मधुर वोलते हुए अपने आपको प्रिय मित्र सावित करना वहुत ही हानिकर और भयकर है। ऐसे मित्र को तो विपकुम्भ के समान मानकर त्याग देना चाहिये जिसमे ऊपर दूध भरा हुआ हो किन्तु अन्दर हलाहल जहर हो।

तो बधुओ ! दुष्टतापूर्ण, कठोर एव कर्कश भाषा वोलना अनुचित है तथा 'मुँह मे राम वगल मे छुरी' इस कहावत को सार्थक करने वाली कपट भाषा भी निपिद्ध है। भाषा वही उत्तम है जो ऊपर से मधुर हो और वोलने वाले के अन्तर् मे भी मधुरता तथा अन्य के हित की भावना हो। जैसा कि कहा गया है—

"अंतर वाहिर न वाधे साखर
सेवी सुखाची कोड - प्राण्या ।

जिस प्रकार शक्कर वाहर से मीठी होती है औद अन्दर से भी मीठी होती है, वैसा ही मनुष्य को वनना चाहिये। उसका हृदय और वाणी दोनो मे ही मधुरता हो, तभी वह अपने व्यवहार को शुद्ध और साधनामय वना सकता है।

ऐसा करने पर ही भाषासमिति का पालन होता है और आत्मा मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। भापासमिति पर अकुश रखना ही सवर की ओर वढ़ने का सच्चा प्रयास है। अत प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक श्रावक को और प्रत्येक साधु को इस तत्त्व की ओर ध्यान देना चाहिये तथा वडी सावधानीपूर्वक अपने वचनो का प्रयोग करना चाहिये। तभी वह अपने गन्तव्य की ओर वढ सकेगा तथा इच्छित फल की प्राप्ति करने मे समर्थ वनेगा।

३ | मधुकरी

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

मैंने पिछले दिनो मे बताया है कि इस जीवात्मा का उद्धार करने वाला एकमात्र मार्ग सवर का है। सवर शब्द का अर्थ है—सव्रियते, अर्थात् रोकना। बहते हुए पानी के प्रवाह को रोकने के लिये जिस प्रकार बाँध बनाया जाता है, उसी प्रकार पाप-रूपी जल के प्रवाह को रोकने के लिये भी संवर-रूपी बाँध बनाया जाता है।

सवर के सत्तावन भेद किये गए हैं और उन भेदो मे सर्वप्रथम पाँच समितिया बताई गई हैं। पाँच समितियो मे भी पहली ईर्यासमिति और दूसरी भाषासमिति है। इनका वर्णन हम सक्षेप मे कर चुके हैं। आज तीसरी 'एषणासमिति' के विषय मे हम विचार करेंगे।

एषणा को दूसरे शब्दो मे हम शुद्ध गवेषणा भी कह सकते हैं। इससे तात्पर्य यह है—साधु-साध्वी जब भिक्षा के लिये निकलें तो शुद्ध गवेषणा करके निर्दोष आहार ग्रहण करें। हमारे शास्त्र बताते हैं कि साधु को एकसौ छ दोषो से बचाव करते हुए आहार-पानी लेना चाहिये। इन एकसौ छ मे भी बयालीस दोष मुख्य हैं। इन सबके विषय मे अभी विस्तृत बताया नहीं जा सकता, अत यही कहा जा रहा है कि समस्त दोषो को टालकर निर्दोष आहार ही मुनि ग्रहण करे। सदोष या अग्राह्य आहार लेना सयम के मार्ग पर चलने वाले साधक के लिये निषिद्ध है। क्योंकि सदोष या तामसिक आहार लेने से उसके जीवन और मन पर अशुद्ध प्रभाव पडता है और मन के अशुद्ध होने पर सयम की साधना भी शुद्ध कैसे हो सकती है ? आप कहते भी हैं —

जैसा अन्न-जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी वानी होय॥

कबीर जी का यह कथन यथार्थ है और हम प्रयोग करके सहज ही इसकी सत्यता का अनुभव कर सकते हैं। हम देखते हैं कि तामसिक आहार करने वाला अर्थात् अण्डे, मास, मछली, मदिरा अथवा ऐसी ही सर्वथा निकृष्ट वस्तुएँ खानेवाला व्यक्ति क्रोधी, क्रूर और निर्दयी होता है तथा सात्विक भोजन करने वाला सरल, दयालु, स्नेहशील और अहिंसक प्रवृत्ति रखता है।

मेरे कहने का आशय यही है कि साधक को न जीभ-लोलुपता के लिए आहार ग्रहण करना है, और न शरीर की पुष्टि के लिये। उसे केवल शरीर को चलाने के लिये आहार ग्रहण करना है, क्योंकि मोक्षमार्ग की साधना का माध्यम शरीर ही है। शरीर के द्वारा ही वह आन्तरिक एव बाह्य तपादि करके कर्मों की निर्जरा करता है। जिस प्रकार मक्खन में से घी निकालने के लिए मक्खन को सीधा आप अग्नि मे नही डाल सकते, वरन किसी बर्तन मे रखकर बर्तन के माध्यम से उसे तपाते हैं, और घी निकालते हैं। उसी प्रकार आत्मा मे रहे हुए सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र-रूप आत्मिक एव शुभ गुणो को अपने उज्ज्वल रूप मे प्राप्त करने के लिये उसे शरीर-रूपी पात्र मे रखते हुए तपस्या की अग्नि मे तपाते हैं और ऐसा करने पर ही आत्मा शुद्ध होती है तथा पापकर्म रूपी मैल उससे अलग होता है।

निशीथभाष्य मे भी कहा गया है—

> मोक्खपसाहण हेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो ।
> देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥

ज्ञानादि गुण मोक्ष के साधन हैं, ज्ञान आदि का साधन देह है, और देह का साधन आहार है। अत साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है।

तो समय पर निर्दोष भिक्षा लाकर परिमित मात्रा मे ग्रहण करना ही एषणा-समिति का अर्थ है।

भिक्षा कैसी हो ?

साधु को भिक्षा किस प्रकार और कैसे लानी चाहिये, यह भी बडी महत्त्व-पूर्ण और जानने योग्य बात है। भिक्षा के पात्र लेकर रवाना हुए और किसी एक ही घर मे जाकर पात्र खाद्य पदार्थों से भर लाये, यह साधु के लिये सर्वथा वर्जित है। अगर वह ऐसा करता है, यानी किसी एक गृहस्थ का भार बनता है तो गृहस्थ की अश्रद्धा का पात्र तो बनेगा ही, साथ ही उसके स्वय के चारित्र मे भी भारी दोष या कलक लगेगा।

आपको ज्ञात होगा कि भिक्षा को 'मधुकरी' अथवा 'गोचरी' भी कहा जाता है। ऐसा क्यो ? क्योकि इन शब्दो के पीछे भी बडा महत्त्वपूर्ण भाव है। भिक्षा को मधुकरी क्यो कहते हैं, इस विषय मे दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्याय की दूसरी गाथा मे कहा गया है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस ।
ण य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय ।।

अर्थात् जिस प्रकार द्रुम यानी वृक्ष पर लगे हुए फूल पर भ्रमर आकर बैठता है और रसपान करता है। किन्तु वह पुष्प को तनिक भी कष्ट नही पहुँचाता तथा अपनी आत्मा को भी तृप्त कर लेता है। उसी प्रकार साधु को भी गृहस्थ रूपी फूल से इसी प्रकार थोडा-थोडा आहार लेना चाहिये, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार की कमी महसूस न हो और उसे भार न लगे। यद्यपि भँवरे मे इतनी शक्ति होती है कि वह चाहने पर काष्ठ मे भी छेद कर देता है किन्तु पुष्प को कष्ट नही पहुँचाता। यही भावना मुनि की होनी चाहिये कि वह एक ही गृहस्थ के यहाँ से ढेर-सा आहार लेकर उसे किसी भी प्रकार की परेशानी मे न डाले।

भिक्षा के लिये दूसरा शब्द 'गोचरी' आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—गौ-चरी, यानी गाय के समान चरना। तो बधुओ, भिक्षा को गोचरी ही क्यो कहा गया ? अश्वचरी या गर्दभचरी क्यो नही कहा ? इसलिये कि गधे और घोडे जब चरते हैं तो घास के न निकलने पर उसे जडसमेत उखाड कर खा जाते हैं। किन्तु गाय ऐसा नही करती। वह जब घास चरती है, घास के ऊपरी हिस्से को ही साव-धानी से खाती है, उसे जड से नही उखाडती। यही कारण है भिक्षा को गौचरी कहने का तथा अश्वचरी, गर्दभचरी या पशुचरी न कहने का।

आपके मन मे प्रश्न आएगा कि गोचरी को सवर मे कैसे लिया गया है ? अरे भाई ! शरीर को चलाने के लिये अन्न-पानी तो लेना ही पडता है। इनके अभाव मे शरीर चल नही सकता। किन्तु साधारण व्यक्तियो के आहार मे और साधु के आहार करने मे बडा भारी अन्तर है। साधारण व्यक्ति खाने के लिये जीता है और साधु केवल जीवित रहने के लिये खाता है। खाते दोनो हैं, किन्तु दोनो की भावनाओ मे जमीन-आसमान का अन्तर है।

अधिकतर व्यक्ति जिह्वा की तृप्ति करने के लिये अत्यन्त गृद्धता और लोलुपता पूर्वक भोजन करते हैं। अमुक वस्तु स्वादिष्ट बनी है और अमुक वस्तु बेस्वाद, यही विचार करते हुए और कहते हुए संतुष्ट अथवा असतुष्ट होकर खाना खाते हैं। उनके लिये मधुर, पौष्टिक और स्वादिष्ट खाना ही महत्त्वपूर्ण है। यह

बात उनके ध्यान मे नही आती कि खाना किसलिये चाहिये ? खाना ही जीवन का उद्देश्य है अथवा खाने से किस उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिये ? उनके जीवन का सबसे बडा उद्देश्य केवल शरीर को भोगोपभोगो से सुख पहुँचाना है और उनमे से एक है, खूब स्वादयुक्त पदार्थों का भोजन करना।

लेकिन सत-मुनिराजो के लिये यह बात नही है। उनके जीवन का उद्देश्य अच्छा और मधुर खाना नही, अपितु जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये साधना करने में सहायक शरीर को थोडी खुराक देते रहना है। उनके लिये भगवान ने कई प्रतिबन्ध लगाये हैं, जिनका पालन न करते हुए आहार करने से दोषो का भागी बनना पडता है।

शास्त्रो मे वे कारण मुख्य रूप से पाँच कहे गये हैं—

सजोयणा, पम्माणा, इगाले, धूमे, कारणे।

(१) इन पाँच कारणो मे से पहला कारण 'सजोयणा' अर्थात्—सयोग मिलाकर आहार करना। उदाहरण स्वरूप अगर मुनि माडले पर बैठ जाय यानी आहार करने के लिये बैठ जाय, पर खीर चखने पर ज्ञात हो कि इसमे शक्कर नही है और वह उठकर शक्कर लावे तो उसे सयोग का दोष लगता है।

(२) दूसरा कारण 'पम्माणा' है। इसका अर्थ है प्रमाण के अनुसार ही साधु को आहार करना चाहिये। अगर वह अधिक आहार करता है तो शरीर मे प्रमाद की अधिकता होती है और ज्ञानाभ्यास, स्वाध्याय अथवा साधना की अन्य क्रियाओ में बाधा पडती है।

(३) तीसरी बात कही गई है 'इगाले'। अगर मुनि आए हुए स्वादिष्ट आहार की प्रशसा अथवा सराहना करते हुये उसे ग्रहण करे तो मानो वह अपने सयम के कोयले करता है।

(४) चौथा है 'धूमे'। आए हुए नीरस पदार्थ की निंदा और अप्रशसा करता हुआ साधु उसे ग्रहण करे तो वह अपने सयम का धुआ कर देता है।

(५) पाँचवा बताया गया है 'कारण'। कारण के बारह भेद हैं, जिनमे से छ कारणो से साधु आहार करता है और छ कारणो से आहार का त्याग करता है। तो जिन कारणो से आहार ग्रहण करता है, वे हैं—क्षुधा वेदनीय सहन न होने के कारण, वैयाव्रत यानी सेवा करने के लिये, ईर्यासमिति के लिये, सयम का निर्वाह करने के लिये जीवो की रक्षा के लिये, और धर्मकथा यानी धर्मोपदेश देने के लिये।

तो वधुओ आप समझ गए होगे कि सत-मुनिराज कितने सयम पूर्वक आहार करते हैं तथा सेवा, धर्मोपदेश तथा जीवो के रक्षण आदि की कैसी उत्तम भावनाओं को लेकर ही शरीर को खुराक देते हैं।

सतो के लिये आहार के सरस और नीरस होने का कोई महत्त्व नही होता, वे उसका उपयोग केवल शरीर को कायम रखने के लिये करते हैं।

भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्य थे। एक बार महाराजा श्रेणिक ने भगवान से सहज ही पूछ लिया—"भगवन् ! आपके चौदह हजार शिष्यो मे से कौन-सा शिष्य आपको अधिक प्रिय है ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"राजन् ! मेरे सभी शिष्य सयम-साधना में सतर्क और योग्य हैं, किन्तु सबसे उत्कृष्ट करणी करने वाला धन्ना मुनि है, वही मुझे अत्यधिक प्रिय है।"

धन्ना-मुनि के विषय मे आज ही हम गाते हैं—

धन्ना मुनि धन मानव भव पायो।
वार इक्कीसे जल माहि धोई,
ते अन्न खाइ जल पीयो।
ऐसो तप सुणता उर कपे,
धन धन थांरो जीयो—धन्ना मुनि ।

भगवान के शिष्य धन्ना मुनि सदा वेला अर्थात् दो दिन उपवास करते थे और दो उपवासो के पश्चात् पारणे के दिन आयविल किया करते थे। किन्तु आयविल भी कैसा ? वे जिस अन्न को लाते थे उसे इक्कीस वार जल से धोकर तत्पश्चात् खाते थे। पशु-पक्षी भी जिस अन्न को न खा सकें, वैसे अन्न को दो उपवासो के पश्चात् खाना क्या साधारण वात है ? केवल भव्य आत्माएँ ही ऐसा कर सकती हैं। श्री धन्ना मुनि ने केवल नौ माह तक सयम का पालन किया। किन्तु अपनी उत्कृष्ट साधना से उस अल्प-समय मे ही उन्होने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त कर ली।

तो वधुओ, श्री धन्नामुनि का उदाहरण देने से मेरा आशय यही वताना है कि सच्चा सत कभी आहार के सरस, नीरस या कम-ज्यादा होने की परवाह नहीं करता। वह जैसा भी मिल जाय उसे निस्पृह भाव से ग्रहण करता है। ध्यान केवल इस वात का रखता है कि आहार सदोष न हो, पूर्णतया निर्दोष हो। निर्दोष भिक्षा ही वह शरीर को देता है ताकि शरीर चलता रहे और साधना मे किसी प्रकार की वाधा न पड़े।

सत कबीर ने भी कहा है—

कबिरा काया कूतरी, करत भजन मे भग ।
ताको टुकडा डारि के, भजन करो उमग ।।

कबीर ने शरीर को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए उसे कुतिया की उपमा दी है और कहा है कि यह भजन मे बाधा डालती है अत रोटी का टुकडा डाल दो ताकि यह चुपचाप बैठ जाय और हम निश्चित होकर भगवान का भजन कर सकें।

दोहे के शब्दो मे कोई रस, अलकार या ऊँचे शब्द नही हैं, किन्तु उसके अन्दर भाव बडे ऊँचे हैं। शरीर को कुतिया की उपमा देना यह जाहिर करता है कि साधक या भक्त को अपने शरीर के प्रति तनिक भी मोह-ममत्व नही होता।

जहाँ साधारण व्यक्ति शरीर को पुष्ट बनाने मे और इन्द्रियो को तृप्त करने मे ही अपने जीवन के उद्देश्य को पूर्ण हुआ समझते हैं तथा इन्ही कार्यों के लिये जीवन भर परिश्रम करते हैं, वहाँ साधक इस शरीर को तुच्छ मानता है तथा इसके भोजन माँगने के कारण झुझलाता हुआ इसे कुत्ते की उपमा देता है। उसके लिए जीवन का उद्देश्य भगवत् प्राप्ति या समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना होता है। अच्छा-अच्छा पहनाकर शरीर को सजाना और पौष्टिक पदार्थ खा-खाकर इसे पुष्ट करना नहीं। इसीलिये इसके भोजन माँगने पर वह क्रोधित होता है और उस समय को निरर्थक गया हुआ समझता है।

रामायण के रचयिता सत तुलसीदास जी भी कहते हैं—

मगन भये तुलसी रामा प्रभु गुण गाय के।
कोई खावे लड्डू पेड़ा, दूध दही मगाय के,
साधु खावे रूखा-सूखा रग मे रगाय के ।।

तुलसीदास जी का कथन है कि सच्चा भक्त तो भगवान के गुण-गान करके ही मगन हो जाता है। उसकी भूख आत्मिक होती है, शारीरिक भूख को वह महत्व नही देता।

गृहस्थ तो दूध-दही, लड्डू-पेडे और अन्य नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ बनवाकर या मँगाकर खाते हैं। किन्तु साधु तो रूखा सूखा जो भी मिल जाय उसे ही ग्रहण कर लेता है। भक्ति के रग से रगे हुए होने के कारण उसे भोज्य-पदार्थों के स्वाद का पता ही नही चलता।

अगर कोई साधु भी गृहस्थ के समान भोज्य-पदार्थों मे रुचि रखता है तो वह सच्चा साधु नही कहला सकता। अभी मैंने आपको बताया था कि भिक्षा लाते समय मुख्य रूप से व्यालीस दोपो के न लगने का पूर्ण ध्यान साधु को रखना चाहिये। व्यालीस में से सोलह दोप तो गृहस्थ की ओर से लगते हैं, सोलह साधु की ओर से तथा दस दोष दोनो मिलकर लगाते हैं। इस प्रकार कुल व्यालीस दोप होते हैं, जिनका ध्यान रखना साधु के लिये अनिवार्य है।

कहने का अभिप्राय यही है कि इन समस्त दोपो को बचाने पर जो भी रूखा-सूखा या नीरस आहार मिल जाय, वही साधु को पूर्ण सतोष और समता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। हमारे बुजुर्ग कहते हैं—

"कभी तो घी घणा, कभी मुट्ठी भर चना और कभी वो भी मना।"

साधु को ये सब अनुभव होते ही रहते हैं। आप जैसे श्रीमतो के यहाँ चातुर्मास काल मे आहार के लिये जाने पर स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, पर जब विहार करते हुए छोटे-छोटे गाँवो मे ठहरना पडता है तो कभी एक रोटी, आधी रोटी या वह भी नही मिलती। कही मक्की या बाजरी की रोटी मिल गई तो शाक नहीं मिलता और शाक मिल गया तो रोटी प्राप्त नही होती। जिन क्षेत्रो मे वर्पा काफी होती है, वहाँ तो वर्पाकाल मे कई फाके भी हो जाते हैं। किन्तु हमे ऐसे अवसरो पर भी बडे आनन्द और सतोष का अनुभव होता है। कभी खाना न मिला तो क्या? शरीर चला तो जाता नही, उलटे आत्मा मजबूत बनती है।

तो आहार का शुभा-शुभ फल भावनाओ पर निर्भर होता है। अगर मुनि गृद्धतापूर्वक आहार ले तथा सदोप आहार लेकर आए तो शास्त्रो मे बताया गया है कि वह अपने कर्मो के बधनो को निविड अर्थात् मजबूत बना लेता है, और केवल शरीर को भाडा देने का विचार रखते हुए निरासक्त भाव से निर्दोप आहार लाता है तो उससे अनेकानेक कर्मो की निर्जरा होती है। इसीलिये एपणासमिति' को सवर में लिया गया है।

यद्यपि भिक्षा के लिये जाना बडा कठिन होता है। अगर आप लोगो से अभी एक दिन भी हमारे समान भिक्षा लाकर खाने के लिये कह दिया जाय तो आप अपनी हेठी समझेंगे तथा इसे बडी भारी मान-हानि का कारण मानेंगे। किन्तु बडे-बडे राजा-महाराजा, चक्रवर्ती अथवा करोडपति भी जब दीक्षित हो जाते हैं तो उन्हे भिक्षा के लिये जाना पडता है। आज भी यही बात है। प्राय लोग अवश्य कह देते हैं कि कमाया नहीं जाता या परिवार का पालन-पोपण नही किया जाता तो अकर्मण्य

व्यक्ति साधु बन जाया करते हैं। किन्तु जानकारी करने पर उन्हे सहज ही मालूम पड सकता है कि आज भी अधिकतर सत उच्च घराने के, उच्च विचारो के और समृद्धि-शाली कुलो के दीपक हैं जो कि अपने धन को ठोकर मारकर और स्वजनो के मोह को छोडकर मुनि बनते हैं। न वे परिवार के आग्रह की, उनके आँसुओ की और अत मे उन्हें नाना प्रकार के परीषह दिये जाने की भी परवाह करते है। लाख प्रयत्न करने व रोकने पर भी उन पर चढा हुआ वैराग्य का रग नही उतरता और वे दीक्षित होकर आत्म-कल्याण करते हैं।

ध्यान मे रखने की बात है कि जो व्यक्ति गृहस्थावस्था मे अकर्मण्य होता है, वह कायर सयम ग्रहण करके भी क्या कर सकता है ? सयम का मार्ग फूलो का नही, काटो का है। इस पर कमजोर और कायर कदापि नही चल सकते। गृहस्थावस्था मे कितना भी कष्ट क्यो न हो, वह सयमपथ के कष्टो की तुलना नही कर सकता। इसलिए ऐसा विचार करना और कहना कि अकर्मण्य व्यक्ति साधु बनते हैं, सरासर गलत है। साधु बनने पर ही इस बात का अनुभव हो सकता है कि सयम के मार्ग की कठोरता मे गृहस्थावस्था का कष्ट सौवाँ हिस्सा भी नही है। दूसरे, साधु बनने के लिये धनी होना या निर्धन होना कोई महत्व नही रखता। महत्व केवल विरक्ति का है। जिसका मन जितना अधिक ससार से विरक्त है वही सबसे अधिक धनवान होता है और वही साधु बनने के काबिल होता है।

साधु ससार मे सबसे अमीर व्यक्ति होता है। सासारिक धन-वैभव कितना भी अधिक क्यो न हो, वह अनित्य होता है, इस देह के साथ ही छूट जाने वाला होता है और उसकी एक सीमा होती है। किन्तु साधु के पास जो आत्मिक गुण, ज्ञान, दर्शन एव चारित्र होते हैं तथा सतोष एव शाति रूपी धन होता है, वह इस लोक मे भी कभी समाप्त नही होता तथा परलोक मे भी अक्षय सुख के रूप मे बदल जाता है।

आशा है आप समझ गए होगे कि मुनिवृत्ति सहज नही है, जिसे कोई भी अकर्मण्य व्यक्ति स्वीकार करके आनन्द से अपने जीवन-यापन का साधन बना ले। श्री उत्तराध्ययन के उन्नीसवें अध्ययन मे बताया गया है—

जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करा।
जहा भुयाहि तरिउ, दुक्करं रयणायरो।
जहा तुलाए तोलेउ, दुक्करो मन्दरोगिरी।

अर्थात्—मुनिवृत्ति मोम के दातो से लोहे के चने चबाना है या भुजाओ से

अथाह सागर को तैरकर पार करना है अथवा गिरिराज सुमेरु को करतल पर धर कर तोलना है ।

वस्तुत यह वृत्ति ऐसी करनी ही है, जिस पर मनुष्य के धैर्य, साहस, सहनशीलता, सयम, शाति, सन्तोप एव दृढता की परख होती है । चोखे सोने के समान खरे और वीर व्यक्ति ही इस पर पूरे उतरते हैं । कायर व्यक्ति प्रथम तो इसे ग्रहण कर ही नही सकते और कदाचित् ग्रहण कर लें तो उस पर चल नही सकते, मार्ग में ही भ्रष्ट हो जाते हैं । इसलिये इस वृत्ति को सरल और आनन्दमय कहना निरा अज्ञान है । ऐसा कहने वाले व्यक्ति की वातो का उत्तर यही है कि उनसे कहा जाय—"अगर साधुवृत्ति अत्यन्त सरल और आनन्दमय है तो तुम भी इस जीवन को अपनाकर इसका अनुभव कर लो ।" मैं समझता हू कि ऐसा कहते ही उनकी समस्त उछल कूद वद हो जायगी और भविष्य मे ऐसा प्रलाप करने का वे सर्वथा त्याग कर देंगे ।

तो वधुओ, हमारा आजका मुख्य विपय तो 'एपणामिति' है । जिसका अर्थ है शुद्ध आहार की गवेपणा करना । निर्दोप आहार लाना सवर का एक भेद है जो कर्मों की निर्जरा करता है । प्रत्येक सत चाहे वह निर्धन कुल से आया हो या धनी कुल मे से, समान है और समान भाव से प्रत्येक को निर्दोष आहार की खोज करके उसे लाना चाहिये तथा निरासक्त भाव से विना उसकी सरसता या नीरसता पर ध्यान दिये केवल शरीर को खुराक देना है, इस वात को ध्यान मे रखते हुए उसे ग्रहण करना चाहिये ।

भिक्षाचरी निर्जरा का कारण तभी वनती है जव मानापमान का खयाल किये विना जहाँ जैसा आहार मिले उसे साधु लेकर आए और समता व सतोपपूर्वक ग्रहण करे ।

स्वामी रामदास जी एक वडे भारी सत हुए हैं । उनका एक शिष्य एक वार किसी गृहस्थ के यहाँ भिक्षा लेने गया । गृहस्थ ने आहार तो नहीं दिया किन्तु वदले में वहुत-सी गालियाँ दी । शिष्य ने गालियाँ शाति से सुन ली और एक कपडे मे कई गाठें लगाकर उसे झोली मे डाल लिया । अपने स्थान पर जव वह लौटा तो भिक्षा गुरु को दिखानी चाहिये अत उसने कपडे मे वँधी हुई गाठें गुरुजी को वता दी । गुरुजी ने चकित होकर पूछा—"यह क्या है ?" शिष्य ने वताया कि गुरुदेव ! आज गालियों की ही भिक्षा मिली है, अतः ले आया हू ।

गुरुजी अपने शिष्य की समता पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे वताया कि साधु का यही धर्म है कि प्रत्येक स्थिति में वह शान्ति और सहिष्णुता रखे ।

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज जी जब प्रथम बार घोडनदी पधारे और भिक्षा के लिये गये तो एक गृहस्थ ने पहले तो तिरस्कारपूर्वक कह दिया— "यहाँ कुछ नही है।" किन्तु जब महाराजश्री शांतिपूर्वक दस-पाँच कदम आगे बढ गए तो पुन बुलाकर कहा—"देखो ! घर मे कुछ हो तो ले लो।"

गुरुदेव ने चुपचाप जो मिला ले लिया। न तो उन्होंने दुबारा लौटने मे क्रोध या अनिच्छा प्रदर्शित की और न ही गृहस्थ से पूछा कि पहले आपने क्यो इनकार किया था ? इसी प्रकार राग-द्वेष रहित होकर आहार लाने और राग-द्वेष रहित होकर सेवन करने से ही कर्मों की निर्जरा होती है तथा एषणासमिति का पालन होता है।

●●

४ | विवेको मुक्ति-साधनम्

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

शास्त्रकारो ने सवर के सत्तावन भेद वताये हैं। उनमे से तीसरा भेद एषणा-समिति है। कल इस पर सक्षिप्त विवेचन किया गया था कि निवृत्ति-मार्ग पर चलने वाले सत महात्मा को शरीर चलाने के लिये आहार-जल लेना पडता है, किन्तु वह आहार किस प्रकार लाये और किस प्रकार उसे ग्रहण करे ताकि वह सवर के रूप मे आकर कर्मों के आने मे बाँध का काम कर सके।

आज सवर का चौथा भेद जो कि चौथी समिति भी है, उसका वर्णन किया जाता है। चौथी समिति है—'आयाणभडमत्तनिक्षेपणा-समिति।'

'आयाण' यानी ग्रहण करना, 'भड मत्त' यानी उपकरण, चीज-वस्तु, और 'निक्षेपणा' से अभिप्राय है रखना। इस प्रकार कोई भी पात्रादि उपकरण विवेकपूर्वक उठाना और विवेकपूर्वक ही रखना, चौथी समिति कहलाती है।

भगवान ने कहा है कि विवेकपूर्वक चीजो को उठाना और रखना भी सवर है। जो ऐसा नही करता अर्थात् चीजो को सावधानी से उठाता और रखता नही वह सवर का अधिकारी नही वनता, उलटे आश्रव का अधिकारी वन जाता है।

आश्रव का अर्थ है—कर्मों का आना या कर्मों का वँधना। इसके भी वीस भेद या कारण हैं और अतिम भेद है—

'सुई कुशाग्रे अजयणा सू लेवे अजयणा सू देवे।'

अर्थात्—सुई और कुश के अग्रभाग जितना तिनका भी अगर साधक असावधानी से उठाए और असावधानी से रखे तो उसके कर्मों का वधन होता है। अर्थात्

कर्मों का आगमन होता है। सवर इससे उलटा है यानी सुई और कुश का अग्रभाग भी अगर सावधानी से उठाए और सावधानी से रखे तो कर्मों का आगमन रुकता है।

तो सावधानी से वस्तु उठाना और सावधानी से रखना जहाँ सवर कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक जीवन मे सभ्यता और शिष्टता का द्योतक भी होता है। अपने से बडे व्यक्तियो को अगर कोई वस्तु देनी है तो उसे वहीं से फेककर देना या उनके पास ले जाकर जोर से पटकना असभ्यता मालूम देती है। अविवेक के कारण ऐसा किया जाता है, किन्तु साधक ऐसा करके सवर का आराधन नही कर सकता उलटे आश्रव का सामान जुटाता है।

इस प्रकार सवर और आश्रव मे बहुत-थोडा फर्क है। तुला पर चीज तौलते समय तनिक-सा भाग भी पलडे पर ज्यादा हो जाता है, वही झुक जाता है, नल को भी आप जरा-सा इधर करते हैं तो पानी आने लगता है और जरा-सा उधर करते हैं तो पानी का बहना रुक जाता है। यही हाल सवर और आश्रव का है। वस्तु सावधानी से उठाकर रखो तो कर्मों का आगमन बद और असावधानी से उठाकर रख दी तो कर्मों का आगमन हो जाता है अर्थात् कर्म बँध जाते हैं।

पाप और पुण्य मे केवल भावनाओ का भेद अधिक होता है। मन पर सयम रखते हुए क्रियाएँ की जायें तो पुण्य और असयम के साथ कार्य करने पर पाप का भागी बनना पडता है। अत सच्चा साधक वही है जो पूर्ण सभ्यता और शिष्टता-पूर्वक कार्य करता है तथा अपने उपयोग मे आने वाली समस्त वस्तुओ को बडी सावधानी से उठाता है, धरता है तथा इधर-उधर बिखरी हुई न छोडकर व्यवस्थित रूप से उचित स्थान पर रखता है। ऐसा न करने पर साधु को कभी-कभी बडी परेशानी का सामना करना पडता है। एक उदाहरण से यह समझाया जा सकता है।

एक सत बडे ज्ञानवान और चारित्र के धनी थे किन्तु उनका शिष्य अविनीत था। सत समय-समय पर उसे शिक्षा देते थे पर वह उन्हे न करके मनमानी किया करता था।

एक बार दोनो विहार करके किसी छोटे से ग्राम मे पहुँचे, जहाँ इने-गिने घर ही थे। उस दिन का विहार काफी लम्बा हो गया था अत गुरु-शिष्य दोनो किसी मकान की खोज करके वहाँ रात्रि को विश्राम करने के उद्देश्य से पहुँच गए। गुरुजी ने कहा—"वत्स, अन्दर जाकर अपने वस्त्र एव पात्र आदि सावधानी से रख दो।"

पर शिष्य कुछ तो थका हुआ था, दूसरे लापरवाह भी था अत उसने वस्त्र आदि तो जैसे-तैसे रख दिये पर पात्रो की झोली को असावधानी से किसी ऊँचे स्थान पर जल्दी से रखने ही लगा था कि झोली पात्र समेत लुढक गई और नीचे जमीन पर गिर पडी।

सत काष्ट के पात्र रखते हैं जो हलके होने के कारण काफी कमजोर भी होते हैं, अत झोली के लुढककर गिर जाने से वे सभी पात्र फूट गए। शिष्य कुछ क्षण भौंचक्का-सा खडा रहा और फिर गुरुजी के पास जाकर बोला—"गुरुजी झोली गिर पडी अत पात्र तो सब फूट गए, अब भिक्षा किसमे लाऊँ।"

गुरुजी सुनकर बडे असमजस मे पडे और बोले—"मैं तुमसे बार-बार कहता था कि सभी वस्तुएँ एव पात्र इत्यादि सावधानी से रखा करो। किन्तु तुमने मेरी सीख नही मानी। अब क्या किया जा सकता है? इस छोटे से गाव मे तो पात्र उपलब्ध हो नहीं सकते, अत कल जब हम शहर मे पहुँचेंगे, पात्रो की तलाश करके तभी भिक्षा ला सकेंगे।"

शिष्य मन मारकर रह गया। वैसे भी विहार करके आया था अत भूखा था पर उस दिन उसे उपवास करना पडा। किन्तु इस घटना से उसे भविष्य के लिये सीख मिल गई और उसने असावधानीपूर्वक काम न करने के लिये सदा के लिये कान पकड लिये।

इसीलिये शास्त्रो मे साधु के लिये अत्यन्त सावधानीपूवक अपने भडोपकरण उठाने और रखने का विधान किया गया है और उसे चौथी समिति "आयाणभड-मत्तनिक्षेपणा-समिति" नाम दिया है। प्रत्येक साधक को सवर-धर्म की आराधना के नाते एव सभ्यता के नाते भी इसका पूर्णतया पालन करना चाहिये।

अब हम सवर के पाचवें भेद और पाँचवी समिति पर आते हैं। पाँचवी समिति है—"उच्चार-पासवण-जल-खेल-सघयण परिठावणियासमिति।"

शरीर आहार ग्रहण करता है और उसका रस जब वह ले लेता है तो व्यर्थ की वस्तु को मल-मूत्रादि के रूप मे बाहर फेंकता है। साधुभाषा मे उसे परिष्ठापना अथवा परठना कहते हैं। अगर इस विषय मे ध्यान न रखा जाय तो कभी-कभी भारी विवाद उठ खड़ा होता है। मान लीजिये, अगर आपको थूकना है तो पहले आपको देखना चाहिये कि खिडकी और झरोखे से थूकने पर किसी राह चलते व्यक्ति पर तो वह नहीं गिरता है। असावधानी रखने पर अगर किसी व्यक्ति के शरीर पर गदगी गिरी तो लडाई-झगडे और मार-पीट तक की नौबत आ सकती है।

साधु को तो सारण व्यक्तियो की अपेक्षा भी अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। उसे ख्याल रना चाहिये कि परठने के स्थान पर भी कोई जीव-जतु अथवा कीडी-मकोडे के बिल आदि न हों अन्यथा अनेक जीवो की हिंसा होने की सभावना रहती है। साधु केलये तो कहा गया है कि रात्रि को जिस स्थान पर वह परठने जाय, उस स्थान को ि रहते ही भली-माति देख-परख लेना चाहिये। क्योकि रात्रि के समय उस स्था को ठीक तरह से नही देखा जा सकता।

मेरे कहने का अभिप्राय य नही है कि केवल साधु को ही इन बातो का ध्यान रखना चाहिये, श्रावक को नो। ध्यान तो प्रत्येक व्यक्ति को रखना आवश्यक है किन्तु साधु महाव्रतो का धार होता है अत उसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव की हिंसा से भी अपने आपको बचाना आवश्यक है और यह सब विवेक पर आधारित है। जो साधक विवेकी होगा वह अपने ्येक कार्य को पूर्ण सावधानी एव यतना पूर्वक करेगा। चाहे श्रावक हो या सा हो, ज्ञानी हो या ध्यानी हो, वह अपने जीवन को ऊँचाई की तथा श्रेष्ठता की ोर तभी ले जा सकेगा, जबकि अपनी प्रत्येक क्रिया और आचरण मे विवेक रखेगा। हमारे चेहरे पर दो आँखें हैं किन्तु अगर अन्तर् मे विवेक रूपी आँख नहीं है तो ऊपरी दोनो आँखें होते हुए भी हम अधे के समान ही सावित होगे।

एक गुजराती कवि ने विवेक का मत्त्व बताते हुए एक भजन मे लिखा है—

> विवेक विना धर्म नहि पारे
> विना विवेक समकित नव जामे।
> विवेक विना मन रहे टाचू,
> एक ववा विना सघलू काचू।

कहा है—विवेक के अभाव में धर्म की प्राप्ति नही हो सकती तथा सम्यक्त्व यानी श्रद्धा भी कभी दृढ नही होती। हम उपदेश देते हैं और आप सुनते हैं। किन्तु वीतराग की यह वाणी किसके गले से उतरेगी? यानी कौन इसे अपने जीवन मे व्यवहृत करेगा? वही, जिसमे विवेक होगा। अविवेकी व्यक्ति तो इस कान से सुन लेगा और उस कान से निकाल देगा।

कबीर जी ने भी कहा है—

> समझा समझा एक है, अनसमझा सब एक।
> समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक॥

वस्तुत जिसके हृदय मे विवेक होता है वही वस्तुतत्त्व को समझ सकता है और पढे हुए, सुने हुए या सीखे हुए ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। किन्तु जो विवेकहीन होता है वह उसी ज्ञान को प्रथम तो उपयोग मे लाता ही नहीं और लाना चाहता है तो अपने अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण उसका दुरुपयोग कर लेता है।

कवि ने भी कहा है कि विवेक के अभाव मे मन कच्चा रहता है। जो विवेकी होता है वह स्वय तो अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ विवेकपूर्वक करता ही है, औरो को भी क्षणमात्र मे परख लेता है।

कहा जाता है कि एक बार एक सेवाभावी सज्जन किसी सस्था का निर्माण करने के लिये चन्दा लेने निकले। घूमते-घामते वे एक मन्दिर के समीप पहुँच गये। वहाँ एकत्रित जनसमूह मे उन्होने अपना उद्देश्य प्रकट किया। परिणामस्वरूप किसी धनी व्यक्ति ने दस हजार रुपये चदे मे लिखाए और यह देखकर एक अति निर्धन वृद्धा ने, जिसके शरीर पर वस्त्र भी पूरे नहीं थे, केवल गद्‌गद् हृदय से उन्हे चार पैसे सेवा कार्य करने वाली सस्था के निमित्त मे दिये और वहाँ से चली गई।

सज्जन व्यक्ति ने उसी समय चार पैसे देने वाली वृद्धा का नाम अपनी लिस्ट में ऊपर लिख लिया और उसके नीचे दस हजार रुपये देने वाले व्यक्ति का नाम लिखा। पास मे खडे हुए कई व्यक्तियो ने यह देखा तो बोल पडे—"वाह साहब! आपने चार पैसे देने वाली बुढिया का नाम पहले लिख लिया और दस हजार देने वाले हमारे सेठजी का नाम उसके नीचे लिखा है, ऐसा क्यो?"

सज्जन व्यक्ति ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"भाइयो! सेठजी ने दस हजार रुपये जो चदे मे दिये हैं ये उनके लिये कोई बडी बात नही हैं, वे चाहे तो सहज ही दस हजार और दे सकते हैं, दूसरे ये रुपये उन्होने दान-दाता के रूप मे अपना नाम छपवाने और यश-प्राप्ति की इच्छा से दिये हैं। किन्तु उस वृद्धा ने जो कि चली गई है, देकर अपना नाम प्रकट करना नही चाहा है और ये चार पैसे उसके लिये बडे महत्व के हैं। वह दिन भर में चार पैसे ही कमाती है, अत शायद इनके लिये उसे आज भूखा भी रहना पड जाये। फिर आप ही बताइये किसका पैसा अधिक महत्त्व का है? सेठजी का या उस वृद्धा का?"

लोग यह बात सुनकर चुप रह गए और सज्जन व्यक्ति के न्याय एव विवेक-पूर्ण विचारों को मन-ही-मन दाद देने लगे।

ऐसे होते हैं विवेकी पुरुष के विचार। वह व्यक्ति के मनोभावो को और

उनके कार्यों को विवेक की तुला पर तोलकर सच्ची परख कर लेते हैं। कवि ने आगे कहा है—

> **बुद्धि थोडी ने बहु भरडे,**
> **विण समझ्यां मोटाना वेण भरडे।**
> **समझ्या बिना केम कहेशे साचू ?**
> **एक ववा बिना सघनू काचू।**

जिसके पास बुद्धि कम होती है वह बकवास अधिक करता है तथा बिना समझे ही बडो की बातो मे मीन-मेख निकालता है और उन्हे अनुपयुक्त साबित करने की कोशिश करता है। उसकी जिह्वा सदा कैंची के समान चलती है और उसे प्रिय-अप्रिय, उचित और अनुचित वचन कहने का भान नही रहता। परिणाम यह होता कि कोई भी व्यक्ति उसकी बातो पर विश्वास नही करता और उन्हे महत्व नही देता।

स्पष्ट है कि व्यक्ति को कम और विवेक पूर्ण बोलना चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि अधिक बोलना ही बुद्धिमानी का लक्षण नही है। उलटे बुद्धिमानी का लक्षण तो कम और विवेकपूर्वक बोलना होता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

"Silence is one art of conversation"

अर्थात्—मौन बातचीत की महान कला है।

कबीर जी ने अपना विचार व्यक्त किया है—

> **बोली एक अमोल है, जो कोई बोलै जानि।**
> **हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आनि॥**

कितनी सुन्दर बात है! बोली वास्तव मे एक दुर्लभ वस्तु है पर केवल उसके लिए, जो बोलना जानता हो। आप विचार करेंगे, बोलना तो सभी जानते हैं यह कौनसी बात हुई ? पर ऐसा नही है। बोलना सब जानते हैं यह सत्य है पर वही बोली उत्तम होती है जो औरो को प्रिय हो और लाभकारी हो। जिस बात से कोई लाभ न निकले, ऐसी व्यर्थ की और बेसिर-पैर की हांकने को बोली कहना बोली का अनादर करना है। हृदय की तराजू क्या है ? विवेक। विवेक की तराजू पर तोलकर ही मनुष्य को अपने विचार जबान से बाहर लाना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नही करता, वह खाली घडे के समान निरर्थक ही शब्द करता रहता है, ऐसा मानना चाहिये।

वचनो का वडा महत्व होता है और वे उसके अर्थ के लिये जिम्मेदार होते हैं। इस जिम्मेदारी को समझ लेना ही विवेकी पुरुष का कार्य है।

आगे कहा गया है—

"लोहवाणियो जिम आ पडायो,
जेणे हीरा तजी लोहो वाह्यो।
वोराए जेम नाडु खाच्यू,
एक ववा बिना सघलू कांचू॥

राजप्रश्नीय सूत्र मे वर्णन आया है कि केशीस्वामी महाराज ने प्रदेशी राजा को आत्मा के विषय मे वहुत कुछ समझाया और उसे ग्रहण करने की प्रेरणा दी। किन्तु राजा ने उत्तर दिया—"महाराज! जो मेरे दादा, परदादा से चला आया है, उसे कैसे छोड दूँ?"

यह सुनने पर स्वामी जी ने कहा—"लगता है कि तुम लोहवाणिये के साथी हो।"

राजा ने जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया—"लोहवाणिया कौन था और उसका यह नाम कैसे पडा?"

केशीस्वामी ने तव दृष्टान्त दिया कुछ व्यापारी धन कमाने के इरादे से साथ-साथ परदेश जा रहे थे।

सयोगवश मार्ग मे उन्हे ऐसा स्थान मिला जहाँ लोहे की खान थी। व्यापारियो ने सोचा चलो मुफ्त मे लोहा मिल रहा है तो यही ले लें। फलस्वरूप उन्होंने एक-एक गठरी मे लोहे के टुकडे वांध लिये और आगे वढ चले।

चलते-चलते जव वे और कुछ दूर पहुँच गए तो उन्हे तावे की खान दिखाई दी। व्यापारियो ने विचार किया—लोहे की अपेक्षा तो तांवे की कीमत अधिक होती है। अत सवने लोहा फेंक दिया और अपनी गठरी तांवे से भर ली। किन्तु एक व्यापारी उनमे ऐसा था जिसने लोहा नही फेंका और उसे ही लिये रहा।

अन्य व्यापारियो ने कहा—"भाई! लोहा फेंक दो और तावा ले लो, यह लोहे से ज्यादा कीमती है।'

पर वह व्यापारी वोला—"वाह इतनी दूर से तो वजन उठाकर लाया हूँ, अव कैसे उसे फेंक दूँ।"

उसके न मानने पर व्यापारी सव आगे वढ गये। भाग्य से वे ऐसे मार्ग पर चल पडे थे कि उस रास्ते पर खानें ही खानें आ रही थी। काफी दूर चलने के

बाद उन्होने देखा कि अब एक चादी की खान आई है। व्यापारी बडे खुश हुए और सबने अविलम्ब तावा फेंककर चाँदी की गठरियाँ बाँध ली। किन्तु वह लोहवाणिया अपनी जिद पर ही अडा रहा कि इतनी दूर से लाई हुई वस्तु अब क्यो फेंकूँ।

व्यापारियो का क्या बिगडता था, वे सब और आगे चले। जब काफी मील चल चुके तो उन्होने आश्चर्य से देखा कि आगे सोने की खान है। जहाँ चारों ओर सोना बिखरा पडा है। सभी व्यापारियो की प्रसन्नता का पार ही न रहा। उन्होने चाँदी को भी छोड दिया और सोने को गठरियो मे बाँध लिया। वास्तव मे ही सोने को छोडकर चाँदी कौन रखता ? उस लोहवाणिये से भी सबने यहाँ बहुत कहा कि अब तक लोहे का वजन तुमने उठाया तो कोई बात नही। पर अब तो सोना बाँध लो, हम सब मालामाल हो जायेंगे। किन्तु वह तो लकीर का फकीर था, जो धुन मे आ गई उसे छोडा ही नही और उस लोहे की गठरी को लिये हुए ही चल पडा। साथी वेचारे क्या करते ? वे भी उसकी नासमझी पर दु ख करते हुए उसके पीछे चल दिये।

सभी व्यापारी अब सोने की खान मे वहुत दूर आ गये। मीलो चल चुके थे। पर उन्हे नही मालूम था कि इस बार उनके भाग्य का सितारा बडी बुलदी पर है। इसलिये ज्योही उनकी दृष्टि एक ओर गई, देखा कि आगे जगमगाते हुए हीरे ही हीरे विखरे हुए हैं। सभी की आँखें फटी की फटी रह गई। देखते क्या हैं कि यहाँ तो हीरो की खान है। सब व्यापारियो ने हाथ जोडकर भगवान को बार-बार प्रणाम किया और अपार प्रसन्नता पूर्वक हीरो की वडी-बडी पोटलियाँ बाँध ली।

इस बार उन्होंने लोहवाणिया को बहुत जोर देकर कहा—"मूर्खराज ! मूर्खता की भी हद होती है। इस समय तो तुम्हारे सामने ये हीरे ही हीरे पडे हैं। कम्बख्त लोहे को फेंककर अब तो हीरे समेट लो। लोहा ले जाकर क्या करोगे ? एक हीरे के मूल्य मे ही इससे अनेक गुना लोहा आ जाएगा। जल्दी फेंको इसे और हीरे समेटो। हम तुम्हारे हितचिंतक हैं, सब साथ आए हैं, अत सभी का भाग्य खुल जाए यह चाहते हैं।

किन्तु लोहवाणिया भी बनिया था। कुत्ते की पूछ पकडी सो पकडी ही। वह टस से मस नही हुआ और बोला—"अब मजिल के समीप पहुचकर भी

अपनी जवान से फिर सकता हूँ क्या ? मैं तो भगवान के समझाने पर भी अपनी इतनी दूर से मेहनत करके लाई हुई वस्तु को नही छोड सकता। तुम लोगो को जचे सो करो। मैं तुम्हे मना नही करता ? फिर मुझे क्यो तुम लोग परेशान कर रहे हो ?"

व्यापारी वेचारे क्या करते ? उसकी मूर्खता को कोसते हुए और उसकी विवेक रहित बुद्धि पर तरस खाते हुए आगे वढ गये।

इसीलिये पाँचवी समिति मे अत्यन्त विवेक पूर्वक परिष्ठापना के लिये भगवान ने आदेश दिया है। पूर्ण विवेक रखने पर ही इसका पालन हो सकता है तथा साधक सवर के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

●●

५ | धोबीड़ा, तू धोजे मननूं धोतियो रे!

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव बहनो !

मोक्षमार्ग पर अग्रसर करने वाले सवर के सत्तावन भेद हैं, जिनमे से प्रथम पांच पर हम विचार कर चुके हैं। आज छठे भेद मनोगुप्ति को लेना है। मनोगुप्ति का अर्थ है अशुभ व्यवहारों से मन को हटाना तथा शुभ व्यवहारो मे मन को लगाना।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौबीसवें अध्याय मे भी दिया गया है—

सरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
मण पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥

सरभ, समारभ और आरभ, ये तीन प्रक्रियाएँ हैं, इनमे प्रवृत्त होते हुए मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही सच्चा साधक होता है। पाप-क्रियाएँ करने का विचार करना ही मनोगुप्ति के लिये घातक है। क्योंकि अशुभ विचार मन मे आते ही आत्मा को पापो से कसने लग जाते हैं। तो अशुभ विचारो मे प्रवृत्त होने वाले मन को यतनापूर्वक काबू मे रखता हुआ जो साधक मोक्षमार्ग की ओर बढे, वही साधु है। कहा भी है—**'मोक्षमार्गे यतते इति यतिः।'**

अर्थात्—जो मोक्षमार्ग के लिये प्रयत्न करे, वह यति है।

जिज्ञासा होती है कि मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति कब होगी ? उत्तर यही दिया जा सकता है कि जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप होगा। और ये चारो उसी साधक के पास हो सकते हैं, जो पापो मे प्रवृत्त होने वाले मन को काबू मे रखता है, पापपूर्ण क्रियाओ से निवृत्त होता है तथा शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति करता है।

मन अत्यन्त चचल होता है। इस विषय मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे केशीस्वामी और गौतमस्वामी का सवाद दिया गया है जिसमे प्रश्नोत्तर हैं। जिस

समय उनका वार्तालाप हुआ, दोनों के पाँचसौ-पाँचसौ शिष्य तथा दर्शक जनसमूह भी उपस्थित था।

गौतमस्वामी श्री केशीस्वामी के समीप पधारे तथा केशीस्वामी ने अत्यन्त स्नेह पूर्वक आसनादि से उनका सम्मान किया। हमे भी इसी प्रकार का आदरपूर्ण व्यवहार सवसे करना चाहिये। किन्तु होता कुछ और ही है। सव सोचते हैं हम दूसरे हैं और वे दूसरे। तथा सयोगवश अगर कभी ऐसे व्यक्तियो का मिलन हो भी जाता है तो वहाँ तमाशवीन पहले ही आकर इकट्ठे हो जाते हैं कि आज यहाँ वाद-विवाद होगा और हमे तमाशा देखने को मिलेगा।

पर यह केवल वही होता है, जहाँ अज्ञान होता है। ज्ञानियो के सम्मेलन में ऐसा कदापि नही होता। किसी कवि ने कहा भी है—

> ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की वात।
> मूरख से मूरख मिले, थापा, मुक्की लात ॥

अर्थ स्पष्ट है कि जव एक ज्ञानी दूसरे से मिलता है तो आध्यात्मिक चर्चा करता है तथा जीवन को उन्नत वनाने के विषयो पर भी विचार करता है। किन्तु अगर एक मूर्ख दूसरे मूर्ख से मिलता है तो दोनो वात का वतगड वनाते हुए लडना प्रारम्भ कर देते हैं और थप्पड, घूसो तथा लातो से वातें करते हैं।

तो केशीस्वामी और गौतमस्वामी दोनो ही ज्ञानी पुरुप और सच्चे सन्त थे, अत उनमे पारमार्थिक प्रश्नोत्तर हुए। श्री केशीस्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—

> अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
> जंसि गोयमा आरूढो, कह तेण न हीरसि ॥

अर्थात्—हे गौतम! यह घोडा वडा साहसी और भयकर है, जिस पर तुम चढे हो। अत्यन्त चचल होने के कारण यह इधर-उधर दौडता है। क्या तुम इससे पराजित तो नही हो रहे हो?

वधुओ आप समझ गये होंगे कि यहाँ पर 'घोडा' शब्द का प्रयोग मन के लिये किया गया है। घोडा भी चचल होता है और मन भी, अत मन के स्थान पर घोडा शब्द दिया गया है।

तो केशीस्वामी के प्रश्न का उत्तर गौतमस्वामी देते हैं—

> पधावत निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं।
> न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥

यानी – यह घोडा बडी तेजी से दौड रहा है किन्तु उसे खीचकर पकडता हू। मैं घोडे के कब्जे मे नही हूँ अपितु वह मेरे कब्जे मे है।

गौतमस्वामी सुन्दर प्रश्न का उत्तर भी बडे सुन्दर ढग से देते हैं। वे घोडे के उदाहरण से ही अपने मन के विषय मे कह देते हैं कि मेरा मन यद्यपि अपनी चचलता के कारण इन्द्रियो के विषयो की ओर उन्मुख होता है, किन्तु मैं सम्यक् ज्ञान रूपी लगाम से इसें पुन अपनी आत्मा की ओर खीच लेता हू अत यह अपनी इच्छानुसार इधर-उधर नही जा पाता।

बधुओ, केशीस्वामी ने प्रश्न किया और गौतमस्वामी ने उत्तर दिया किन्तु वह प्रश्नोत्तर साधारण जनता की समझ मे कैसे आता ? जनता प्रश्न और उत्तर मे भी 'घोडे' शब्द से क्या समझती ? अत फिर से प्रश्न किया गया—

आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेव बुवत तु गोयमो इणमब्बवी॥

गाथा मे पूछा गया है—हे गौतम ! जिस घोडे पर तुम बैठे हो वह कौन-सा है ? उन्मार्ग क्या है ? तुम और हम तो यह समझ गये किन्तु जनता क्या समझेगी ? इस प्रकार पूछे जाने पर गौतमस्वामी ने उत्तर दिया—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
त सम्म तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथग॥

गौतमस्वामी कहते हैं —हे पूज्य ! आप पूछ रहे हैं कि वह घोडा कौन-सा है ? उसका जवाब यह है कि वह घोडा मन है। मन रूपी यह दुष्ट अश्व अत्यन्त साहसी, भयकर एव चपल है। अपनी चपलता के कारण यह इधर-उधर अर्थात् इन्द्रियो के विषय की ओर दौडने लगता है किन्तु मैं इसे धर्म-शिक्षा रूपी लगाम से पुन खीचकर वश मे कर लेता हूँ।

वस्तुत मन बडा चचल है और यह कभी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। अगर इसे शुभ विचारो और शुभ क्रियाओ की ओर न लगाया जाय तो चूकि यह क्षण भर के लिये भी खाली नही रहता अत अशुभ प्रवृत्तियो की ओर बढ जाता है। साथ ही यह इन्द्रियो को किसी एक पाप मे प्रवृत्त करके भी चुप नही बैठता। उन्हें एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा और इसी प्रकार शनै-शनै सभी पापो की ओर बढा देता है।

एक के पीछे अनेक

कहा जाता है कि एक बार राजा भोज कुसगति के कारण मद्यपान की ओर

आकर्षित हो गये। उनके हितचिन्तक कालिदास ने जब यह देखा तो उनके होश उड गए। उन्होंने विचार किया—

'छिद्रेष्वनर्था　　बहुलीभवन्ति।'

यानी एक सुराख जिस प्रकार हजारो सुराख पैदा कर देता है, उसीप्रकार एक दुर्गुण भी अनेको दुर्गुणो को जन्म देता है। अत अगर महाराज को अभी ही सचेत न किया गया तो वे इस एक दुर्गुण के साथ-साथ अन्य अनेको दुर्गुण भी अपना लेंगे और इस विशाल साम्राज्य को सभालना उनके लिये कठिन हो जाएगा।

इसी कारण कालिदास ने हर-हालत मे राजा को मद्यपान की ओर से विरक्त करने का निश्चय किया और उसके लिये एक दिन वह भिक्षुक का वेश बनाकर तथा ऐसी गुदडी ओढकर राज्यसभा मे आया, जिसमे अनेक छिद्र थे।

जब कालिदास ने राज-दरबार मे प्रवेश किया, उस समय राजा भोज अपने मत्रियो, सामतो व सेनापतियो से घिरे हुए बैठे थे।

भिक्षुक को देखकर वे चकित हुए और उपहास सहित बोले—"वाह! भिक्षुराज तुम्हारी यह कथडी तो बडी अजीब है। इतनी जीर्ण और सहस्रो छेदों वाली गुदडी ओढकर तुम राजसभा में कैसे दर्शन देने आ गए?"

भिक्षुक ने हसकर उत्तर दिया—"महाराज! यह कथडी नही है। यह तो मछलियाँ पकडने का जाल है। इसे देखकर आप समझे नही।"

"मछलियाँ पकडने का जाल है? क्या तुम मछलियाँ पकडा करते हो?" राजा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"हा, मछलियाँ पकडता हू। नही पकडू तो फिर खाऊँ क्या?"

"क्या तुम मछलियाँ खाते भी हो?" राजा ने भिक्षु की बात काटकर बीच में ही पूछ लिया।

'जी हा, हुजूर! मछलियाँ खाता हूँ। क्योकि मैं शराब पीता हूँ। शराब पीने वाले को मास भी तो चाहिये।"

राजा भोज आश्चर्य मे अभिभूत-से हो गये। बोले— "तुम शराब पीते हो, मास खाते हो, क्या यही भिक्षु का कर्तव्य है।"

"पर महाराज! मैं वेश्याओ के साथ रहता हूँ, वहाँ तो बिना मास-मदिरा के कुछ आनन्द ही नही आता।"

"ओह! भिक्षु होकर भी वेश्यागमन? मास एव मदिरा का प्रयोग? तुम

कैसे भिक्षु हो ? और इन सबके लिये आखिर तुम्हारे पास धन आता कहाँ से है ?" राजा आश्चर्य मे डूबा हुआ था।

"धन प्राप्त करना कौनसी बडी बात है महाराज ? मैं दिन को जुआ खेलकर पैसा बना लेता हूँ और रात को चोरी करके धन लाता हूँ। फिर आप ही बताइये, धन की क्या कमी रह सकती है मेरे पास ?"

राजा की आँखें मारे आश्चर्य के फटी की फटी रह गई, वे सोचने लगे—'एक भिक्षुक के जीवन का इतना पतन ? उसके जीवन में मद्यपान, मासभक्षण, वेश्यागमन, चौर्यकर्म एव जुआ खेलना भी। कैसे ये सारे के सारे दुर्गुण इसके जीवन मे आ गये।' वे कुछ बोल ही न सके, विचारों में डूबे रहे। इतने मे ही भिक्षुक उनका आशय समझ कर बोला—

"महाराज ! इसमे आश्चर्य की क्या बात है ? जब जीवन मे एक बुराई आ जाती है तो अन्य बुराइयाँ भी एक-एक करके आती रहती हैं। मैंने सर्वप्रथम मद्यपान करना प्रारम्भ किया था पर धीरे-धीरे अब ये सारे दोष मुझमे आ गये हैं और लाख प्रयत्न करने पर भी मैं अब इन्हें नही छोड सकता।" भिक्षुक ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

राजा अवाक् बैठा था। उसे भिक्षुक की एक-एक बात हथौडे की चोट के समान महसूस हो रही थी। उसे लगा कि इस भिक्षुक ने मानो मेरे सामने एक बडा भारी रहस्य उघाड़ दिया है तथा मुझे जीवन का सर्वोत्कृष्ट उपदेश सुनाकर सजग किया है। वह सोचने लगा—"मैंने भी तो मद्यपान प्रारम्भ किया है, तो क्या धीरे-धीरे मुझमे भी ये सब दुर्गुण आने वाले हैं। ओह, क्या दशा होती मेरी ? अच्छा हुआ इस भिक्षु ने मुझे समय पर सचेत कर दिया, अन्यथा मैं न जाने पतन के गढ्ढे मे कितने नीचे तक चला जाता। मन ही मन राजा ने भिक्षुक को धन्यवाद दिया और उसी क्षण से मदिरा की ओर दृष्टिपात करने का भी त्याग कर दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि अगर मन को नियन्त्रण मे न रखा जाय तो वह एक दुर्गुण की ओर बढने पर अनेक दुर्गुणों को अपनी ओर खीच लेता है तथा जीवन को बुराइयो का घर बना देता है।

समयसुन्दर जी नामक एक सत ने मन के विषय मे एक भजन लिखा है। आप बडे अनुभवी और पुराने कवि थे, अत आपके भजन मे उपमा और उपमेय अलकार बडे सुन्दर ढग से दिये गये हैं। भजन की लाइनें इस प्रकार हैं—

धोबीडा ! तू धोजे मननू धोतियो रे !
रखे राख तो मैल लगा रहे,
एणो रे मेले जग मेलो कयो रे ?
धोईने कर उज्ज्वल उदार रे धोबीड़ा '

पद्य मे कहा गया है—"हे आत्मन् ! हे धोबी !! तू इस मन रूपी वस्त्र अथवा धोती को धो डाल ।" जिस प्रकार धोबी कपडा धोकर उसका मैल छुड़ा देता है, उसी प्रकार आत्मा को भी मन रूपी कपडे को धोने की प्रेरणा दी है ।

आगे कहा है – इस मनरूपी कपडे पर तनिक भी मैल लगा हुआ मत रहने देना । क्योकि इसी मैल ने सारी दुनिया को मैली बना दिया है । अत इस मनरूपी वस्त्र को अब उदारतापूर्वक पूर्णतया साफ कर दे, उज्ज्वल कर दे ।

कपड़ा जब साफ हो जाता है अर्थात् उसका मैल धुल जाता है तो वह उज्ज्वल और हल्का हो जाता है । इसी प्रकार जब पाप रूपी मैल आत्मा से छूट जाएगा, उससे अलग हो जाएगा तो आत्मा शुद्ध और हल्की हो जाएगी ।

कहा भी है—

अप्पो विय परमप्पो, कम्मविम्मुक्को य होइ फुड ।

आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है तो वह परमात्मा बन जाता है ।

इसलिये कवि का कहना है कि 'हे आत्मा रूपी धोबी ! तू मन रूपी इस वस्त्र को धोकर साफ तथा शुद्ध कर दे ।'

आगे कहा गया है—

मिथ्याते करी ने मन मैलू थयू रे,
पापो ना लाग्या ये दास रे ।
कालू थयूं छे विषय कषाय थी से,
दोषो थी उठे छे दुर्वास रे धोबीडा तू

इस पद्य मे कहा गया है कि मनरूपी यह वस्त्र मैला क्यो हुआ ? इसलिये कि मिथ्यात्व के कारण इसने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा मान लिया है । अर्थात् जो सच्चा पदार्थ है उसे झूठा और ससार के झूठे पदार्थो को सच्चा मान लिया है । इसी झूठेपन के कारण यह मन मैला हो चुका है ।

इस मन रूपी कपडे पर अठारह प्रकार के पापो के दाग लगे हैं । झूठ, क्रोध, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, कषाय, गर्व आदि के बडे चिकने धब्बे इस पर लगे हुए हैं और इसी से यह काला हो चुका है । भगवती सूत्र मे रगो के विषय मे बताया गया है कि

कौनसा रग शुभ होता है और कौनसा अशुभ। रग पांच होते हैं। काला, नीला, लाल, सफेद और पीला। इनमे से काले रग को अशुभ और सफेद को शुभ माना गया है।

तो कषायरूपी रगो से मन रूपी कपडा मैला हो गया है तथा पाप रूपी दोषो की इसमे से दुर्गंध आ रही है। मन के मैलेपन और दुर्गंधि को दुनिया के व्यक्ति भी अच्छा नही मानते तथा पारमार्थिक उद्देश्य भी कोई सिद्ध नही होता। इसीलिये मेरा बार-बार आग्रह है कि हे आत्मन्! तू अपने मन रूपी वस्त्र पर चढे हुए कषायो के काले रग को धो ले तथा इससे पापो की उठती हुई दुर्गन्ध को मिटा डाल।

आगे कहा गया है—

राग ने द्वेष ए रगेल छे रे,
निर्मलता थई छे सघली नाश रे।
दाघा छे अनेक दुर्बोध नारे,
ए चीवर मां टेवोनी चीकाश रे धोबीडा'

राग और द्वेष के काले रग से यह मन ऐसा रग गया है कि इसकी समस्त निर्मलता नष्ट हो गई है। साथ ही इसमें अज्ञान के अनेक दाग भी लगे हुए हैं। इतना ही नही, कुटेवो की बडी बुरी आदत के कारण इसमे चिकनापन यानी चीकटपना भी बहुत आ गया है, अत इसे खूब मेहनत और प्रयत्नपूर्वक धोकर शुद्ध बना।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्याय में भगवान ने फरमाया है—

"रागो य दोसो विय कम्म बीय,
कम्म च मोहप्पभव वयन्ति।
कम्म च जाईमरणस्स मूल,
दुक्ख च जाईमरण वयति॥

—राग और द्वेप ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुत दुख है।

वस्तुत किसी चीज के साथ प्रेम करना और किसी से द्वेष रखना, ये दोनो ही कर्मबन्धन करने वाले कर्मबीज हैं। जिस प्रकार शुभ बीज से शुभ अन्न और अशुभ बीज से अशुभ वस्तु उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शुभ कर्मो से शुभ फल और अशुभ कर्मो से अशुभ फल की प्राप्ति होती है। राग-द्वेप अशुभ बीज हैं। अत.

इनसे शुभ फल की प्राप्ति सभव भी कैसे हो सकती है ? इनसे तो जन्म और मरण रूपी परिणाम ही सामने आता है। इनका मूल कर्म हैं। अशुभ कर्मों के कारण ही जीव को पुन पुन जन्म-मरण करने पडते हैं।

इस ससार मे जन्म और मरण के समान अन्य कोई दुख नही है। अध्यात्म-प्रेमी कविवर श्री दौलतराम जी ने अपनी छहढाला नामक पुस्तक की पहली ढाल मे कहा है—

जननी उदर वस्यो नव मास,
अंग सकुच तें पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर,
तिनको कहत न आवे ओर।

इस प्रकार ससार मे जन्म लेते समय जीव को घोर दुख उठाना पडता है और मरते समय तो उससे भी अनन्तगुना कष्ट भोगना पडता है। पर इन दुखो का कारण कर्म ही होते हैं जो जीव को पुन पुन इन कष्टों को भोगने के लिये बाध्य करते हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष मन को निर्मल रखने के लिए बार-बार प्रेरणा देते हैं ताकि मन की अशुद्धता के कारण कर्मों का बधन न हो।

मराठी भाषा मे सत तुकाराम जी कहते हैं—

नाहीं निर्मल जीवन, काय करील सावणा।
तैसे चित्त शुद्ध नाहीं, तेथे बोध करील काही ?
वृक्ष न धरी पुष्प फल, काय करील वसतकाल ?

पद्य का भावार्थ है—जब पानी स्वच्छ नही होता तो वस्त्र पर साबुन रगडने से क्या लाभ हो सकेगा ? ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे वणन आता है कि खून से सना हुआ वस्त्र खून से ही धोया जाय तो वह कदापि साफ नही होगा।

यही बात तुकाराम जी ने कही है कि जब तक जीवन शुद्ध नही होगा और मन मे कलुषता रहेगी तब तक उपदेश रूपी साबुन का क्या असर होगा ? कुछ भी नहीं। जिस प्रकार चिकने घडे पर पानी डालने मे वह निरर्थक बह जाता है, इसी प्रकार मन के राग-द्वेष से मलिन रहने पर बोध दिया हुआ भी निरर्थक चला जाता है।

एक उदाहरण भी दिया गया है कि—मान लो वसत ऋतु आती है और वह सम्पूर्ण पृथ्वी को हरी-भरी कर देती है। प्रत्येक वनस्पति पुष्प और फल

प्रदान करती है। किन्तु कैर का झाड जैसा होता है, वैसा ही बना रहता है। उस पर वसत ऋतु का कोई असर नही होता। ऐसी स्थिति मे वसत क्या कर सकता है ?

कहने का अभिप्राय यही है कि हमे मन को शुद्ध करना चाहिये तथा राग और द्वेष को छोडना चाहिये। राग-द्वेष के कारण ही ससार मे कलह होते हैं। आप के घर में आप चार भाई हैं। चारो के सतान है। किन्तु आप अपने पुत्र को देखकर प्रसन्न होते हैं, उसे खिलाते हैं, प्यार करते हैं तथा बाजार से मिठाई, खिलौने आदि लेकर आते हैं। पर अपने भाई के पुत्र से द्वेष रखते हैं, उसे साधारण-सी बात पर फटकार देते हैं और गालियाँ देते हैं, तो उसका परिणाम क्या होगा ? यही कि आपका भाई आपसे लडेगा और अपने हिस्से का धन लेकर आपसे अलग हो जाएगा।

इसीलिये बधुओ, हमे राग-द्वेष को अपने मन से हटाकर सासारिक पदार्थों पर रही हुई आसक्ति को जीत लेना है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारो मन को मलिन बनाने वाले दोष है। जो भव्य प्राणी इन्हे जीत लेता है, उसका मन ही शुद्ध और स्वच्छ बनता है।

कहते हैं कि एक बार रामकृष्ण परमहस ने स्वामी विवेकानन्द से कहा—"मैं तुम्हे अष्टसिद्धि प्रदान करना चाहता हूँ। क्योकि तुम्हे अभी जीवन मे बडे-बडे कार्य करने हैं, अत इनसे बहुत सहायता मिल सकेगी। बोलो, लेना चाहते हो इन्हें ?"

कुछ क्षण गभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् विवेकानन्द जी ने पूछा—"महात्मन् ! क्या इनसे मुझे ईश्वर की प्राप्ति हो जाएगी ?"

"नही, ईश्वर की प्राप्ति तो इनसे नही हो सकेगी।" परमहस ने उत्तर दिया।
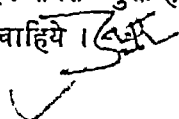
यह सुनकर विवेकानन्द जी विरक्त होकर बोले—"जिन सिद्धियो से मुझे ईश्वर-लाभ न होकर केवल सासारिक यश प्राप्त हो, उन्हे लेकर मैं क्या करूगा ? मुझे इनकी फिर कोई आवश्यकता महसूस नही होती।"

वास्तव मे वही प्राप्ति श्रेष्ठ होती है जिसके द्वारा आत्मा कर्म-भार से हलकी होती हुई परमात्मपद को प्राप्त होती है। इसलिये महापुरुष मन की शुद्धि का ही प्रयत्न करते हैं। वे केवल यही सकल्प रखते हैं कि—

'नो उच्चावय मण नियछिज्जा।'

यानी कैसी भी विकट परिस्थितियाँ क्यो न सामने आएँ, मन को ऊँचा-नीचा, अर्थात् डाँवाडोल नही होने देना चाहिये।

जव तक हमारा मन मलिन भावनाओ से भरा रहता है, प्रत्येक कषाय तेजी से अपना कार्य करता है। तुच्छ घटना भी क्रोध का सचार कर देती है, तनिक से धन की प्राप्ति होते ही गर्व की लहरें उठने लगती हैं, पराई उन्नति से ईर्ष्या की आग सुलग उठती है और कुवेर का खजाना पाकर भी लोभ का उदर नही भरता। अत इन सवसे मुक्त होना ही कल्याण का मार्ग है, जिस पर साधक को अग्रसर होना चाहिये।

६ | चोख् तू करजे मननो चीर रे !

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव बहनो !

सवर के सत्तावन भेदो मे से छठा भेद 'मनोगुप्ति' है, जिस पर कल विचार किया गया था। अशुभ विचारो का त्याग और शुभ विचारों का ग्रहण करना ही मनोगुप्ति है।

मन के क्षेत्र मे जैसा बीज बोया जाता है, उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। हम देखते हैं कि किसान खेतो मे मटर का एक बीज डालता है। उस छोटे से बीज से मटर का पौधा अकुरित होता है और पौधे मे से सैकडो फलियाँ लगती हैं। उन फलियो मे से एक एक फली मे से कई-कई दाने मटर के निकलते हैं।

इसी प्रकार हमारे मन की एक छोटी सी शुभ या अशुभ भावना अपने हजारो शुभ या अशुभ फल पैदा कर देती है। हमारे शास्त्र बताते हैं कि जीव एक समय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग मे ही अनन्तानन्त कर्म परमाणुओ का बध कर लेता है। किन्तु अगर मन की भावना शुभ हुई तो अनन्तानन्त शुभ परमाणुओ का बध होगा और भावना अशुभ हुई तो अनन्तानन्त अशुभ कर्म-परमाणु आत्मा से चिपट जाएँगे।

अशुभ कर्म-परमाणु ज्यो-ज्यो बँधते जाते हैं, मन की मलिनता भी बढ़ती जाती है और मन की मलिनता के बढते जाने से आत्मा का अनन्त ससार बढता जाता है। इसलिये मन मे शुभ विचारो की उत्पत्ति हो और अशुभ विचारो से उत्पन्न हुई मलिनता दूर हो, यही साधक का प्रयत्न होता है।

इस विषय मे कल मैंने कविवर स्वामी श्री समयसुन्दर जी के एक भजन की कुछ कडियाँ उसके सामने रखी थी, जिनमे कवि ने मन को वस्त्र और आत्मा को धोबी की उपमा देते हुए कहा है—

"अरे धोबी ! तू अपने मन के वस्त्र को, मन की धोती को स्वच्छ धो डाल। उसमे तनिक भी मैल मत रहने दे। क्योंकि वह मैल सारी दुनिया को मैला बना रहा है। मन के मैले होने का कारण कवि ने बताया है – मिथ्यात्व के कारण मन मैला हुआ है और अठारह दोषो की इससे दुर्गन्ध निकल रही है। कषायो के काले धब्बे भी इस पर जगह-जगह लगे हैं अत इसकी सम्पूर्ण निर्मलता नष्ट हो गई है। परिणाम यह हुआ कि जिन-वचनो के बोध-रूपी साबुन का इस पर कोई असर नहीं होता है अत तू इस मन रूपी धोती को धोकर पूर्ण स्वच्छ बना।"

आगे इसके लिये उपाय भी बताया है—

> जिन शासन सरोवर छे शोभतु रे,
> समकितनी समी तेनी पाल रे।
> दान, शील, तप, भावना रे,
> चार ए द्वार छे विशाल रे।
> धोबीड़ा, तू धोजे मननू धोतियो रे ॥

मन को निर्मल बनाने का कितना सुन्दर तरीका बताया गया है ? कहते हैं— अपने मैले मन को तू जिन-शासन रूपी सरोवर पर ले चल। यह सरोवर जिन-वचन रूपी निर्मल जल से भरा हुआ अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। इसकी पाल श्रद्धा या सम्यक्त्व से बाँधी गई है। विचार उठता है कि इस सरोवर की पहचान कैसे की जाय और इस तक कैसे पहुचा जाय ? उसका भी उपाय कवि ने बताया है कि दान, शील, तप और भावना, ये चार ऐसे विशाल द्वार हैं, जिनमे प्रवेश करके तू इस सरोवर पर पहुच सकता है।

अब देखिये, जिन शासन रूपी सरोवर के विषय मे आगे क्या कहा गया है—

> तेमा झीले छे मुनिवर हसला रे,
> पीये छे निर्मल जप-तप नीर रे।
> शम, दम, क्षमानी शिला ऊपरे रे,
> चोखू तू करजे मननू चीर रे धोबीडा ।

कितने सुन्दर भाव हैं ? कहा है—इस जिन-शासन रूपी सरोवर मे मुनिराज रूपी हस कल्लोल कर रहे हैं, रमण कर रहे हैं। हसो का कार्य क्या होता है ? मोती उठा लेना और कंकर छोड देना। इसी प्रकार मुनि रूपी हस भी यहाँ पर सार-सार ग्रहण करते हैं और असार तत्त्व को छोड रहे हैं। अपने चिंतन और मनन से ये सही

तत्व की जानकारी कर लेते हैं। कहा भी है—'मननात् मुनि ।' जो मनन करते हैं वही सच्चे मुनि हैं।

आगे कहा है—हसरूपी मुनि जप और तप रूप निर्मल जल का पान कर रहे हैं। हम अपने शरीर की तृषा मिटाने के लिये जल का प्रयोग करते हैं। मुनि भी करते हैं, किन्तु शरीर की तृषा मिटाने के साथ-साथ वे आत्मा की तृषा शात करने का भी प्रयत्न करते हैं और उसके लिये जप-तप रूपी निर्मल जल का पान करते हैं।

वह जप-तप भी कैसा ? जिसके बदले मे कुछ भी प्राप्ति की कामना नही होती। सासारिक वैभव तो वे नही ही चाहते पर देवपद और इन्द्रपद की प्राप्ति की भी इच्छा नही रखते। दशवैकालिक सूत्र के नवमे अध्याय मे तपस्या के बारे मे कहा गया है कि तप आत्म-कल्याण के लिये करो। धन, सतति, स्वर्ग या इन्द्रपद भी प्राप्त करने की आकाक्षा मत रखो। ये सब सासारिक बधन हैं। इन्द्र बन जाएगे, तब भी मरना पडेगा। दूसरे, स्वर्ग मे रहकर तो आत्मकल्याण के लिये कुछ भी नही कर सकोगे।

तामली नाम के एक तापस थे। वे घोर तपस्वी थे। उनके जीवनकाल मे नीचे के एक लोक के इन्द्र का आयुष्य पूरा हो गया और वहाँ के देवताओ ने अपने ज्ञान से देखा को पाया कि ताम्रलिप्ति नगर के तामली नामक तापस अपने यहाँ इन्द्र बनने की योग्यता रखते हैं।

वे सब मिलकर तामली तापस के पास गए और बोले—"आप हमारे इन्द्र बनने की सामर्थ्य रखते हैं अत कृपा करके हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। आपको अधिक कुछ भी नही करना है, केवल इतना ही कहना है कि मेरी करनी का फल हो तो मुझे इस लोक का इन्द्रपद मिले। इतना कह देने मात्र से ही आप हमारे इन्द्र बन जाएगे और हम धन्य होगे।"

किन्तु तामली तापस उनकी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए बोले—"मैंने किसी भी फल की कामना से तपस्या नही की है। मेरी करनी का फल तो मुझे मिलेगा ही, पर अगर मैं ऐसी भावना करूगा तो मुझे उतना ही मिल कर रह जाएगा। अधिक मिलेगा ही नही। अत मैं कोई इच्छा प्रगट नही करता, मेरी तपस्या के अनुसार जो कुछ भी मिलना होगा, मिल जाएगा।"

इस प्रकार तामली तापस ने कोई नियाणा नही किया अत वे ऊपर के लोक मे ईशानेन्द्र बने। आशय यही है कि अगर व्यक्ति शुद्ध भावना से तपादिक उत्तम करनी करता है तो उसका फल स्वय ही उसे मिल जाता है। मागने की आवश्यकता

नही रहती । और माँगने से अथवा कामना करने से कि मेरे अमुक त्याग या तप का अमुक फल मिले तो वह सीमित हो जाता है ।

तो पद्य मे बताया है कि इस जिनशासन रूपी निर्मल सरोवर मे मुनि रूपी हस क्रीडा कर रहे हैं । कवि का आशय यही है कि अगर व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहता है तो उसे सतो की शरण मे जाना चाहिये । सगति का जीवन पर बडा भारी असर पडता है । कुसगति करने से मन को सदा हानि उठानी पडती है और सुसगति से लाभ होता है । इसलिये मूर्खों की सगति न करके मनुष्य को सदा सज्जनो की सगति करना चाहिये ।

सोनी जी से पूछो !

एक बार एक सुनार काफी रकम लिये हुए किसी एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहा था । मार्ग मे उसे एक मूर्ख जाट मिल गया । सुनार ने सोचा चलो इसका साथ अच्छा हो गया । रास्ता सुगमता से कटेगा ।

दोनो साथ-साथ कुछ दूर गए थे कि सामने से दो व्यक्ति ऊट पर बैठे आते दिखाई पडे । उनकी मुखाकृति और खूखारता देखकर सुनार को लगा कि ये कही डाकू न हो । यह सन्देह होते ही वह अपने साथी जाट से बोला—"देख भाई ! तेरे पास तो कुछ भी धन नही है अत तू चुपचाप चला चल, किन्तु मेरे पास रकम है अत मैं सडक के उस ओर छिप जाता हू । पर याद रखना, मेरा पता उन्हें मत देना ।

जाट ने सोनी जी की इस बात को स्वीकार कर लिया और सडक पर चलता रहा । ऊटवाले व्यक्ति पास आ गए और जैसा कि सुनार ने सोचा था, वे डाकू ही थे । अत उनमे से एक ने अपनी लाठी उठाकर जाट के सिर पर मारनी चाही ।

यह देखकर जाट चिल्लाया और बोला—"अरे ! मारना मत मेरे सिर पर ! क्योकि सिर पर साफा बँधा है और उसमे एक रुपया है, कही वह टूट न जाय ।"

लाठी उठाने वाले व्यक्ति ने घुडककर कहा—"क्या बकता है ?"

जाट बेचारा भोला था । डाकू की घुडकी सुनकर उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई और वह चट से बोल उठा—"बक नही रहा हूँ । सच कह रहा हूँ । मेरे सिर पर एक रुपया है, पर वह खरा है या खोटा, यह मैं नही जानता । सोनी जी से पूछ लो, वे इधर छिपे बैठे हैं ।"

जाट की यह बात सुनते ही दूसरा व्यक्ति जाकर सोनी जी को पकड लाया और उनकी पूरी रकम छीन ली ।

ऐसा होता है कुसगति या मूर्खों की सगति का परिणाम। अब एक सुसगति का उदाहरण देखिये।

सत्सगति का फल

कहा जाता है कि एक बार नारद जी विष्णु के पास गए और बोले--"देव ! आज मैं आपसे यह पूछने आया हूँ कि सत्सगति से क्या लाभ होता है ?'

विष्णु जी ने उत्तर दिया—"नारदजी, आपकी इस बात का मैं तो उत्तर नही दे सकता। आप नरक मे जाकर अमुक नारकीय जीव से यह बात पूछ लें।"

नारद सोचने लगे—"मुझे नरक मे जाना पडेगा, पर यह जानना तो जरूर है।" अत. वे नरक मे गये और विष्णु के बताए हुए जीव से उन्होने यह बात पूछी। पर वे चकित रह गए यह देखकर कि उनकी बात समाप्त भी नही हो पाई थी कि वह जीव समाप्त हो गया। नारद जी चकित हुए और सोचने लगे -"विष्णु भगवान ने क्या मुझसे उपहास किया था ? अब कभी उनके पास जाने का नाम नही लूँगा।"

पर उन्हें कहाँ चैन पड सकती थी। थोडे दिन बाद फिर पहुँच गए विष्णु के पास और कहने लगे—"उस बार तो आपने मुझे नरक में भेज कर खूब बनाया पर इस बार तो अब बताना ही पडेगा कि सत्सगति का क्या फल होता है ?"

विष्णु हँस पडे और बोले—"अच्छा, विंध्याचल पर्वत पर एक तोता है उससे यह बात पूछ लेना।" नारद जी भागे हुए विंध्याचल पर्वत पर भी पहुँचे और तोते से यह बात पूछने लगे—पर उन्हे बडा आश्चर्य हुआ कि उनके प्रश्न पूछते-पूछते तोता भी मर गया।

नारद झल्लाये हुए वहाँ से लौटे और फिर कभी विष्णु के पास न जाने का निश्चय किया। पर थोडे दिन बाद जब फिर नही रहा गया तो पुन उनके पास पहुँच गए। इस बार भी विष्णु ने उन्हे एक गाय के बछडे से यह बात पूछने के लिए भेज दिया। और बछडे का भी वही हाल हुआ जो नारकीय जीव और तोते का हुआ था।

नारद जी बडे हताश हुए और उन्होने प्रतिज्ञा की कि अब तो विष्णु के पास फटकूँगा भी नही। पर कुछ वर्ष बीतने पर फिर वे अपनी प्रतिज्ञा भूलकर विष्णु के पास आ गए और बोले—"भगवन् ! आपने मुझे बहुत भटकाया है। पर इस बार जाने बिना नही छोडूँगा कि सत्सगति से क्या होता है ?"

विष्णु तैयार ही थे, बोले—"इस बार आपको अवश्य ही बात का पता मिल

जाएगा पर आपको अमुक राज्य के राजा के यहाँ जाना पडेगा। उनका राजकुमार आपको सही उत्तर देगा।"

नारद जी वडे चक्कर मे पडे पर सोचा—एक वार और सही, अगर इस वार भी मेरी जिज्ञासा का समाधान न हुआ तो फिर कभी विष्णु जी की ओर मुख करूँगा ही नही। यह सोचकर वे सीधे विष्णु के वताए हुए राज्य की ओर चल पडे। उन्हे देर क्या लगती थी ? तीर की तरह सीधे राजमहल मे पहुँच गए।

वहाँ के राजकुमार से उन्होंने अपना प्रश्न पूछा। राजकुमार वोला—"सतसगति के लाभ के वारे मे तो जव विष्णु जी नही वता सके तो मैं कैसे वता सकता हूँ कि सत-दर्शन से क्या लाभ होता है ?"

नारद जी ने कहा—"अरे यही वता दो भाई ! भागते भूत की लगोटी ही भली।"

तव राजकुमार ने कहा—"देखिये ! आप नरक मे आए तो आपके दर्शन करते ही मेरा नरक का सारा आयुष्य टूट गया, उसके वाद विध्याचल पर्वत पर मैंने तोते के रूप मे पक्षी की योनि प्राप्त की थी, पर वहाँ भी आपके दर्शन करते ही वह समाप्त हो गई। उसके वाद मैंने तिर्यंच योनि मे वछडे के रूप मे जन्म लिया। पर मेरे सौभाग्य से वहाँ भी आपके दर्शन हुए और मैं तिर्यंच योनि से मुक्ति प्राप्त कर मनुष्य-भव मे राजकुमार वना हूँ। यह सत-दर्शन से ही हुआ है। जव सत के दर्शन से भी इतना लाभ होता है तो फिर सतो की सगति करने से तो न जाने कितना महान फल मिलता होगा।"

"वाह ! अच्छी महिमा वताई सत-दर्शन की।" राजकुमार की वात पर इस प्रकार भुनभुनाते हुए नारद वहा से चल दिये।

वधुओ ! यह एक रूपक है किन्तु यथार्थ मे भी हम देखते हैं कि अगर हम किसी सज्जन अथवा सत पुरुष के समीप पहुँचते हैं तो उसकी सौम्यता, स्नेहसिक्त दृष्टि एव मधुर वाणी सुनकर हमारा हृदय शाति से भर जाता है तथा चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। और अगर हम उनके उपदेशो को, उनके दिये हुए वोध को जीवन मे भी उतार लेते हैं तो फिर कहना ही क्या है, निश्चय ही हमारी आत्मा निर्मल वनती हुई ऊँचाई की ओर वढती है।

भगवती सूत्र मे कहा गया है—

> सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चक्खाणे य सजमे।
> अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥

इस गाथा मे बताया गया है—सत्सग से धर्म-श्रवण करने को मिलता है। धर्म-श्रवण से तत्वज्ञान हासिल होता है और तत्त्वज्ञान से विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान से प्रत्याख्यान यानी सासारिक पदार्थों से विरक्ति की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार प्रत्याख्यान से सयम और सयम से अनाश्रव होता है। अनाश्रव से तप एव तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश हो जाता है। जब पूर्व-बद्ध कर्मों का नाश हो जाता है तो निष्कर्मता, यानी कर्म रहित अवस्था आ जाती है और कर्म रहित अवस्था से सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

यह सब तभी प्राप्त होता है जब कि प्रारम्भ मे सत्सग किया जाय। अगर मूल मे ही बीज न डाला जाय तो इच्छित फल की प्राप्ति नही होती। इस प्रकार जब तक सतो का समागम न किया जाय तब तक न जिन-वचनो का श्रवण ही करने को मिलता है और न ही सम्यक् बोध हासिल होता है। फिर आत्म-मुक्ति का सवाल ही कैसे उठ सकता है।

सतो का समागम एक का अक है जिसके होने के पश्चात् ही क्रमश बिंदियाँ लगाने पर सख्या बढती है। अगर एक न लिखा जाय तो न बिंदियाँ लगाई जाती हैं और लगाने पर उनका कोई मूल्य नही आका जा सकता।

कहने का आशय यही है कि अगर व्यक्ति सत-मुनिराजो की सगति करता है तो धीरे-धीरे अपनी आत्मा को मुक्तात्मा बना सकता है, और अगर दुर्भाग्य से वह दुर्जनो की सगति मे पड जाता है तो नवीन गुण ग्रहण करने के बजाय पूर्व मे रहे हुए सद्गुणो का नाश कर लेता है, यानी ब्याज तो कमा नही पाता उलटे मूल की पूँजी ही खोकर आत्मा को पतित बना लेता है। जैसा कि कहा गया है—

> सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसमेलणाए दोसेण।
> माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडयससिट्ठा॥
>
> —भगवती आराधना ३४५

—दुर्जन की सगति करने से सज्जन का महत्व भी गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है।

तो बधुओ! इसीलिये समयसुन्दर मुनिजी ने अपने भजन के द्वारा जीव को बोध दिया है कि जिन-शासन रूपी सरोवर मे जो हस-रूपी मुनि क्रीडा कर रहे हैं, उनका सत्सग करके तू भी उस सरोवर के निर्मल जल से अपने मन-रूपी वस्त्र का मैल धो डाल।

कवि ने आत्मा को धोवी की उपमा दी है और मन-रूपी धोती को स्वच्छ एव शुद्ध करने का आदेश दिया है। ध्यान देने की वात है कि कवि की निगाह से कोई भी वात नही वची है। उदाहरणस्वरूप—धोवी जब वस्त्र धोता है तो उन्हे किसी शिला पर पछाड कर उनका मैल हटाता है। अत इन्होंने भी मन रूपी वस्त्र धोने के लिये शम, दम और क्षमा रूपी शिला वताई है।

शम अर्थात् शाति दम यानी इन्द्रिय-सयम और क्षमा से आप परिचित ही हैं। क्षमा मानव-जीवन का एक ऐसा अमूल्य गुण है, जिसकी तुलना में अन्य कोई भी गुण नही रखा जा सकता। कहा भी है—

"क्षमा वशीकृतेर्लोके, क्षमया किं न साध्यते।"

क्षमा ससार मे वशीकरण मत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नही होता ? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है। एक छोटासा उदाहरण है—

सबसे वडी सजा

वगदाद के खलीफा हारू रशीद वडे धर्मपरायण, न्यायप्रिय एव प्रजावत्सल पुरुष थे। एक वार उनका शाहजादा क्रोध से आग-ववूला होता हुआ उनके पास आया।

खलीफा ने उसके क्रोध का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—"आपके अमुक अफसर ने मुझे वडी गदी और असह्य गाली दी है। इसका प्रतिकार होना चाहिये।"

खलीफा ने शाति से पुत्र की वात सुनी और अपने सामने वैठे हुए वजीर, सेनापति आदि उच्चपदस्थ व्यक्तियो से पूछा—"आप लोग मुझे सलाह दीजिये कि उस अफसर को क्या सजा दी जानी चाहिये ?"

खलीफा की वात सुनकर उपस्थित व्यक्तियो मे से किसी ने कहा—उसे फासी दे देनी चाहिये। किसी ने कहा—उस नीच की जीभ खिचवा लेनी चाहिये। और किसी ने कहा - उसका मुँह काला करके तथा धन-माल जब्त करके देश-निकाला दे देना चाहिये।

खलीफा हारूँ रशीद ने सबकी वात सुनी पर उनमे से कोई भी सजा उस अभियुक्त के लिये उन्हें उचित नही लगी। यह जानकर सब हैरान रह गये कि आखिर इन सजाओ की अपेक्षा भी और कौन-सी कडी सजा हो सकती है, जो वादशाह उसे देना चाहते हैं ? वे वादशाह के मुँह से वह सजा सुनने के लिये उत्सुक होकर चुपचाप वैठे रहे।

अब खलीफा ने अपने शाहजादे को सबोधित करते हुए कहा—"पुत्र ! उस व्यक्ति के लिये सबसे बडी सजा तो मेरी दृष्टि मे यह है कि तुम उसे क्षमा कर दो। क्योकि जो व्यक्ति औरो के सौ अपराध माफ करता है, खुदा उसके हजार अपराध क्षमा कर देता है। हाँ, अगर तुम ऐसा नही कर सकते हो और बदला ही लेना चाहते हो तो जाकर उसे भी वही गाली दे आओ, किन्तु याद रखो कि फिर उसमे और तुममे कोई फर्क नही रहेगा। और अगर तुम उसकी अपेक्षा अधिक उत्तेजित हो गए तो उससे बडे अपराधी सावित होओगे।"

शाहजादा पिता की सीख का मर्म समझ गया और उसने सच्चे हृदय से अपने अपराधी को क्षमा कर दिया।

वास्तव मे, क्षमा जीवन की ऐसी उत्तम भावना है जिसमे शाति, सयम, करुणा, दया, स्नेह, सहानुभूति आदि सभी श्रेष्ठ भावनाओ का समावेश हो जाता है। इसीलिये कवि ने क्षमा रूपी अडिग शिला पर मन रूपी वस्त्र को धोकर शुद्ध करने की सीख जीव को दी है।

आगे कहा है—

> छाटा उठे नहीं पाप अठारना रे,
> सुव्रत थी राखजे समाल रे।
> साबू आलोयणा लगावणो रे,
> आवे नहीं माया नो सेवाल रे। धोबीडा

कहते हैं—'हे आत्मन् ! तू क्षमा रूपी शिला पर अपने मन के वस्त्र को धोना, पर ऐसी सावधानी से धोना कि अठारहो पापो मे से किसी भी पाप के छीटे औरो पर न लगने पाएँ। अगर अपने मन को शुद्ध करते हुए यह अभिमान आ गया कि 'मैं ऐसा हू।' और दूसरो के लिये कह दिया कि 'वह ऐसा है।' तो यह अपनी प्रशसा तथा औरो की निंदा होगी तथा इनके कारण तुझे दोषी बनना पडता। पर-निंदा दूसरो पर कीचड या मैल उछालने जैसी ही होती है। अत हे जीव ! तू इससे बचना और किसी पर भी पाप रूपी मैल के छीटे मत गिरने देना।

एक सस्कृत के श्लोक मे कहा गया है—

> स्व-श्लाघा परनिन्दा च कर्ता लोक. पदे पदे।
> परश्लाघा स्व निंदा च कर्ता कोऽपि न विद्यते ॥

—अपनी प्रशसा और दूसरो की निंदा करने वाले व्यक्ति तो आपको कदम-

कदम पर मिल जाएँगे लेकिन अपनी निंदा और दूसरो की प्रशंसा करने वाले कहीं भी नही मिलते ।

आशय यही है कि विरले व्यक्ति ही ऐसे होते हैं । कोई भी ऐसा न होता हो, यह तो कहा नही जा सकता क्योकि ससार मे अवतारी, महापुरुष एव महात्यागी सत ऐसे ही हुए हैं, जिन्होने अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्ति हासिल की है। अगर कोई भी ऐसा न हुआ होता तो वे आत्म-कल्याण किस प्रकार करते ? पर हाँ, हजारो मे या लाखो मे सभवत कोई कोई ही भव्य पुरुष ऐसा वीतरागी होता है। क्योकि अपने अवगुणो की निंदा और दूसरो के गुणो की प्रशसा करना वडा कठिन होता है । वडे त्याग और आत्म-सयम से ही यह सभव हो सकता है ।

समयसुन्दर जी ने इसीलिये कहा है कि तू ! त्याग, नियम एव प्रत्याख्यान के द्वारा पर-निंदा से वचना और इतने पर भी अगर भूल से ऐसा हो जाय तो तुरन्त ही आलोचना एव प्रायश्चित रूपी सावुन लगाकर इस मन रूपी वस्त्र को पुन शुद्ध कर लेना ।

भगवान महावीर ने आलोचना का महत्व दर्शाते हुए फरमाया है—

कयपावो वि मणूसो, आलोइय निन्दिय गुरुसगासे ।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवाही ॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक, १०२

अर्थात् जिस प्रकार भारवाही अपना भार उतार कर अत्यन्त हलकापन महसूस करता है, उसी प्रकार दोषी मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने पापो की आलोचना करके उनके भार से हलका हो जाता है ।

वस्तुत सरल एव शुद्ध भावो से अपने पापो की आलोचना करने वाला व्यक्ति धर्मपरायण एव जिनवाणी पर विश्वास रखने वाले होते हैं, वे अपने छोटे से छोटे पाप की भी आलोचना करते हैं । साधु-साध्वी तो प्रतिदिन रात्रि मे और अनजान मे हुए पापो के लिये सुवह और दिनभर मे लगे पापो का सायकाल मे प्रायश्चित करते हैं । इसके अलावा अपने गुरुओं के या वडो के समक्ष समय-समय पर विगत पापों को प्रगट करते हुए आलोचना कर लेते हैं ।

आलोचना किनके समक्ष की जाय ?

इस विषय में कहा गया है—जो शास्त्रज्ञ हैं, गभीर और हृदय से गहरे हैं उनके समक्ष आलोचना करनी चाहिये । आलोचना केवल साधु-साध्वियो के लिये ही नही, वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिये आत्म-कल्याणकर और आवश्यक है । उसे शास्त्रज्ञ

सत के समक्ष आलोचना करनी चाहिये । पर अगर ऐसे सत न मिलें तो ज्ञान-ध्यान मे रमण करने वाली साध्वी के समक्ष भी करनी उचित है । और अगर दोनो ही उपलब्ध न हो तो धर्मपरायण एव ज्ञानी श्रावक के सामने भी आलोचना की जा सकती है । अनेक उदाहरण तो हमे ऐसे भी मिलते हैं, जिनमे सतो ने भी श्रावको के समक्ष आलोचना की है ।

रतलाम के महान् शास्त्रज्ञ, श्रावक अमरचद जी पितलिया के आगे एक सत ने आलोचना की थी । महाराष्ट्र मे अहमदनगर वाले श्री किसनलाल जी मूथा बडे गहरे शास्त्रज्ञ थे । मैंने भी उनसे शास्त्रो का कुछ अध्ययन किया था । तो ऐसे महान् श्रावको के समक्ष आलोचना की जा सकती है और श्रावक न मिलें तो गूढज्ञान रखने वाली श्राविकाओ के सामने भी आलोचना करना उत्तम है । शास्त्रो मे तो आलोचना का इतना महत्व बताया है कि अगर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, इन चारो तीर्थों मे कोई भी ऐसा न मिले जिसके सामने आलोचना की जा सकती हो तो मुमुक्षु को एकात जगल मे जाकर आलोचना करनी चाहिये और वहाँ तक जाने की भी शक्ति न हो तो अपने ठहरने के स्थान पर ही एकान्त जगह मे जाकर स्वय अपनी आत्मा की साक्षी से आलोचना करनी चाहिये कि—'परमप्रभो, परमात्मा ! मुझसे अमुक-अमुक पाप हुए हैं ।'

शास्त्र मे आलोचना करने की विधि इस प्रकार बताई है—

ज पुव्व त पुव्व, जहाणुपुव्वि जइक्कम सव्व ।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविधि अभिन्दतो ॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक १०५

यानी श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल का उल्लघन न करते हुए, दोषों की क्रमश आलोचना करनी चाहिये । जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और बाद मे लगे दोष की बाद मे करनी चाहिये ।

कुछ व्यक्ति कहा करते हैं कि 'बीती ताहि बिसार दे' कहावत के अनुसार जो हो चुका उसके लिये पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नही उलटे उसके लिये पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है । पर ऐसा कहना उचित नही है, जो ऐसा कहते हैं उनकी दृष्टि दूषित होती है और यह मानना चाहिये कि उनके समक्ष कोई उच्च लक्ष्य नही होता ।

एक पश्चिमी विद्वान ने भी कहा है—

"Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light."

अर्थात्—अपने दोषो और पापो को प्रकट करो, इससे तुम्हे प्रकाश की प्राप्ति होगी।

जो व्यक्ति आलोचना और पश्चात्ताप करके अपने समय को निरर्थक गँवाना नही चाहता। और अपने दुष्कृत्यो की गुरु के समीप आलोचना नही करता उसे अत मे एक उर्दू कवि के कथनानुसार पश्चात्ताप करते हुए कहना पडता है -

मैं अपने बद अमलों से हूँ इस कदर नादम ।
कि शरम आती है खुद अपनी शरमसारी पर ॥

—सहर

यानी—मैं अपने कदाचार मे इतना लज्जित हूँ कि मुझे अपनी लज्जा पर भी लज्जा आती है।

साराश कहने का यही है कि आलोचना करना जीवन को उच्च और पवित्र बनाने की एक सर्वोत्कृष्ट कला है। शास्त्रों मे तो इसको दैनिक कर्तव्य का रूप दिया गया है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

प्रश्न—अलोयणाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— आलोयणाए ण माया-नियाण-मिच्छादसण सल्लाण मोक्खमग्ग-विग्घाण, अणतससारवघणाण उद्धरण करेइ, उज्जुभाव जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य ण जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसकवेय च न वघइ। पुव्वबद्ध च ण निज्जरेइ।

प्रश्न—हे भगवन् ! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गुरु के समक्ष आलोचना करने मे मोक्षमार्ग मे विघ्न डालने वाले और अनन्त ससार की वृद्धि करने वाले माया, मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीन शल्यो को जीव हृदय से निकाल देता है अर्थात् उसके तीनो शल्य नष्ट हो जाते हैं। और इस कारण उसका हृदय सरल बन जाता है। जब सरल बन जाता है तो निष्कपट भी हो जाता है और वह स्त्रीवेद एव नपुसकवेद का वध नही करता। अगर इन दोनो वेदो का पूर्व मे वध हो चुका हो, तो उसकी निर्जरा हो जाती है।

तो वधुओ, प्रसग आ जाने के कारण तथा अत्यधिक महत्त्व की बात होने के कारण आलोचना के विषय मे मैंने काफी कुछ कह दिया है। हमारे भजन मे भी कवि ने कहा है कि आलोचना रूपी साबुन के द्वारा मनरूपी वस्त्र को क्षमा-रूपी शिला पर धोकर शुद्ध कर लो। पर यह ध्यान रखना कि माया रूपी काई या शैवाल कही इस वस्त्र पर न लग जाय। अन्यथा वह शुद्ध नही हो सकेगा।

आगे कहा है—

समयसुन्दर नी आ शीखडी रे,
करजे पुरुषारथ नू वर काम रे।
आलस न करिये आवा काममा रे,
पामीश परम सुख नू धाम रे ।धोबीडा

अत मे कवि ने यही कहा है कि मेरी इस हितशिक्षा पर ध्यान देते हुए अपने पुरुषार्थ से उत्तम करणी करो। धर्म कार्यों मे अगर आलस नही करोगे तो निश्चय ही तुम्हे अनन्त सुख के धाम मोक्ष की प्राप्ति होगी।

हम प्राय' देखते हैं कि लोग सासारिक कार्यों मे तो तत्पर रहते हैं। खाना, पीना, घूमना और मौज-शौक के कार्यों को करने मे विलम्ब नही करते, किन्तु धर्म-कार्य के लिये आज का काम कल पर, कल का परसो पर और इसी प्रकार महीनो और वर्षों तक भी टालते जाते हैं। कहते हैं अभी तो हमारी उम्र खाने-पहनने और ससार के सुखो को भोगने की है। धर्मध्यान तो बुढापे मे भी कर लेंगे। बीमार होने पर अगर घर वाले कह भी देते है कि महाराज, इनको पचक्खाण करा दो तो नाराज होकर कह बैठते हैं—"अभी हम मर रहे हैं क्या ? ऐसा कहने वाले यह विचार नही करते कि बुढ़ापे मे और मरते समय ही क्या धर्माराधना की जा सकती है ? और फिर यह कौन कह सकता है कि वृद्धावस्था आएगी ही। जीवन का क्या ठिकाना है, अगला श्वास भी आयेगा या नही, उसका पता किसी को नही लग सकता।

अत प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की अस्थिरता पर विचार करते हुए इस मानव जन्म रूपी स्वर्णावसर का लाभ उठाना चाहिये। सद्गति प्राप्त कर लेना या मोक्ष हासिल कर लेना हाथ का कौर नही है जो सहज ही उठाकर मुँह मे डाल लिया जाय। इसके लिये शरीर मे शक्ति रहते हुए ही प्रयत्न और पुरुषार्थ करना चाहिये। सासारिक सुखो के प्रति निरासक्त भाव रखते हुए इन्द्रियो पर तथा मन पर पूर्ण सयम रखने वाला व्यक्ति ही साधना के मार्ग पर बढ सकता है। उस मार्ग पर गमन करने के लिये चित्त को अथवा मन को पूर्ण शुद्ध और पवित्र बनाना अनिवार्य है। इसीलिये मैंने मनोगुप्ति का महत्व बताते हुए समयसुन्दर जी महाराज के भजन के द्वारा भी कई श्रेष्ठ बातो की ओर आपका ध्यान दिखाने का प्रयत्न किया है। अगर आप उन्हे ग्रहण करेंगे और जीवन मे उतारेंगे तो इस लोक तथा परलोक मे सुख हासिल कर सकेंगे।

● ●

अर्थात्—जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरन्तर लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिये।

इस प्रकार वैरागी ससार को असार मानता है तथा इससे मुक्त होने का प्रयत्न करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। उस पर वैराग्य का ऐसा रग चढ जाता है कि मृत्यु का भय भी उसे उतार नही पाता। किन्तु अगर किसी प्रकार के दुख, क्रोध या अन्य प्रकार के आवेश मे आकर व्यक्ति विरक्त होने का जामा पहन लेता है तो आवेश के समाप्त होने पर वह पुन अपने आदर्श से गिर जाता है तथा सयम ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी अपने साधना-पथ से च्युत हो जाता है।

इसलिए गुरु नाना प्रकार से वैराग्यावस्था को प्राप्त व्यक्ति की परीक्षा लेते हैं और उसमे खरा उतरने पर ही सयम-पथ पर बढाते हैं। ताकि कही साधक पथ-भ्रष्ट न हो जाय—

से मइम परिन्नाय माय हु लाल पच्चासी।

—विवेकी साधक कही लार यानी थूक चाटने वाला न बन जाय। अर्थात्—वह परित्यक्त भोगो की पुन कामना न करने लगे।

तो ऐसी ही भावना लेकर नमिराय ऋषि की परीक्षा लेने के लिये स्वय इन्द्र आते हैं और उनसे भाति-भाति के प्रश्नोत्तर करते हैं। पर उनका वैराग्य तो असली था, नकली नही। अत इन्द्र के लुभावने एव सासारिक भोगो की ओर ललचाने वाले प्रश्नो का उत्तर उन्होने पक्के किरमची रगो मे रगे हुए वस्त्र के सदृश मन के साथ दिया। और इस कारण जब इन्द्र को उनके सच्चे वैराग्य पर पूर्ण प्रतीति हो गई तो उन्होंने राजा की भूरि-भूरि प्रशसा की। और कहा -

"अहो ते निज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो ते निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ॥
अहो ते अज्जव साहु, अहो ते साहु मद्दव।
अहो ते उत्तमा खति, अहो ते मुत्ति उत्तमा॥

अर्थात्—'हे राजन्! आपने क्रोध को जीत लिया, अभिमान को भी परास्त कर दिया। माया का आपके हृदय मे कोई स्थान नही और लोभ को तो पूर्णतया आपने वश मे कर लिया है।'

आगे कहा है—'हे नमि राजऋषि! आपको सरलता प्रशसनीय है, कोमलता भी सराहनीय है। आपकी क्षमा अति उत्तम और श्रेष्ठ है तथा निर्लोभता अद्भुत है।

इस प्रकार इन्द्र ने उनकी वहुत प्रशसा एव सराहना की। किन्तु इन्द्र के द्वारा अपनी तारीफ सुनकर भी नमिराय ऋषि मन मे फूले नही, अभिमान नहीं आया। कहते है—यह मेरी तारीफ नही है ज्ञान एव गुणो की ही तारीफ है।

इसी प्रकार अभी वक्ताओ ने श्रद्धा के और भावना के वश गुण-वर्णन किया है। पर मेरी आत्मा को तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी तारीफ नहीं, केवल गुणो की तारीफ है। जो भी व्यक्ति ऐसा समझता है वह कभी अपनी आत्मा को नीचा नहीं गिराता। किन्तु जो व्यक्ति यह विचार करता है कि—'लोग मेरी प्रशसा कर रहे हैं।' बस यही आत्मा के पतन का कारण वन जाता है। एक छोटा सा दृष्टान्त है—

कीर्ति अर्थात् प्रशसा, यह सस्कृतसाहित्य मे स्त्रीलिंगी है। पुल्लिग या नपुसकलिंग नही। तो कीर्ति को एक कन्या के रूप मे माना गया है। अब जब कि कन्या घर मे होती है तो उसे किसी को अर्पण तो करना होता है, अत उसके हाथ मे वरमाला दी गई।

कीर्ति वरमाला हाथ मे लिये हुए अपने लिये उपयुक्त वर की खोज मे चली। उसे देखकर अनेक व्यक्ति लालायित हो उठे कि हमारे गले मे कीर्ति वरमाला डाले। किन्तु कीर्ति ने अपनी आकाक्षा रखने वाले किसी भी व्यक्ति के गले मे माला नहीं डाली और ऐसे सत महात्माओ के पास पहुँची जो उसकी चाह कभी भी नही करते थे। उनके समीप जाकर उसने एक के वाद एक महात्मा के गले मे वरमाला डालनी चाही किन्तु उन्होंने स्पष्ट और दृढ शब्दो मे कह दिया—"हमे तुम्हारी जरूरत ही क्या है ?"

इस प्रकार वेचारी कीर्ति कुमारी ही रह गई। क्योकि जिन्होंने उसे चाहा उन्हे उसने स्वय पसद नही किया और जिनको उसने चाहा वे उसकी चाह नहीं करते थे।

कहने का आशय यही है कि सज्जन पुरुष कीर्ति की चाह नहीं करते और अपनी प्रशसा सुनकर खुश नही होते। अपनी प्रशसा सुनकर केवल वे ही व्यक्ति प्रसन्न होते हैं जिनमे गुणो का अभाव होता है।

एक पाश्चात्य विद्वान सेनेका ने कहा है—

You can tell the caractor of every man when you see how he receives Praise.

—आप प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र बता सकते हैं, यदि आप देखे कि वह अपनी प्रशसा से कैसा प्रभावित होता है ।

आशा है आप लेखक के कथन का आशय समझ गए होगे । वह यही कहना चाहता है कि सच्चरित्र एव निस्पृही व्यक्ति अपनी प्रशसा को सुनकर कभी प्रसन्न नही होता और उसके हृदय मे अहकार का भाव भी पैदा नही होता । किन्तु जो व्यक्ति अपनी प्रशसा को सुनकर खुशी से फूले नही समाते तथा गर्व से भर जाते हैं, उनके लिये समझना चाहिये कि वह धन एव कीर्ति के लोलुप हैं तथा वे जो कुछ भी करते हैं अपने आत्म-सतोप अथवा आत्म-कल्याण की दृष्टि से नही अपितु लोगो मे प्रशसनीय बनने के लिये तथा ख्यातिप्राप्ति के लिये अच्छे कार्य करने का दिखावा करते हैं । ऐसे व्यक्तियो का चरित्र उनकी आत्मा को श्रेष्ठ एव ससारमुक्त कभी नही बना सकता ।

छत्रपति शिवाजी ने अपना सम्पूर्ण राज्य अपने गुरु स्वामी श्री रामदास जी महाराज को प्रदान कर दिया था ।

स्वामी जी ने कहा — 'मैं तो साधु हू । राजपाट लेकर क्या करूगा ? मेरे लिये तो यह धन-वैभव सोना-चांदी, मकान सब मिट्टी के समान हैं ।"

किन्तु शिवाजी ने उत्तर दिया—"मैं तो यह सब आपको अपण कर चुका । और भेट की हुई चीज को पुन ले नही सकता ।"

इस पर स्वामी रामदास जी ने कुछ सोच-विचार कर कहा—"ठीक है, मुझे सब कुछ सौप चुके हो तो अब मेरा समझकर ही इस राज का कार्य-भार एक कमचारी के नाते सम्हालो । जब तुम इसे अपना नही समझोगे तो इसके लिये कभी तुम्हारे मन मे अभिमान नही आएगा कि मैं राजा हू और इसके प्रति तुम्हारी मोह-ममता अथवा आसक्ति भी नही रहेगी । इससे तुम प्रजापालक बनोगे तथा अपने आपको प्रजा का सेवक समझोगे । और यही सब बाते तुम्हारी आत्मा को निरतर श्रेष्ठता की ओर ले जाएगी ।

बधुओ, महापुरुप इसी प्रकार प्राणियो को बोध देते है । तथा उन्हे सन्मार्ग पर चलाते हैं । आवश्यकता है सदुपदेशो को ग्रहण करने की तथा महान् व्यक्तियो के दिये हुए बोध को जीवन मे उतारने की ।

मैं भी आपसे यही आशा रखता हूँ । मैं अपनी प्रशसा इसी मे समझूँगा कि आप सुने हुए और समझे हुए जिन वचनो को आत्म-सात् करे तथा उन्हे आचरण मे उतारे । इस ससार मे रहते हुए व्यक्ति को धन, शक्ति, बुद्धि अथवा

सौन्दर्य आदि किसी भी वात का गर्व नही करना चाहिये। क्योकि ये सब उसे पूर्व पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं। देखना तो यह है कि वह इस मानव-शरीर को पाकर अव क्या करता है ?

यह जन्म ऐसा जन्म है कि इसमे वह निकृष्ट करनी करके सातवें नरक तक भी जा सकता है और उत्कृष्ट करनी करके पचमी गति, मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। अत पूर्वोपार्जित कर्मों का फल प्राप्त कर लेने मे उसके लिये गर्व की वात ही कौन सी है ? महत्व तो इस वात का है कि शुभ कर्मों के सयोग से इस जन्म मे उच्चकुल, उच्चगोत्र, आर्यक्षेत्र, उत्तम धर्म एव सन्तो का समागम आदि सभी कुछ पाकर वह इनसे क्या लाभ उठाता है ?

ससार मे अभिमानी व्यक्तियो को कमी नही है। जो कुछ पुस्तकें पढ गये हैं, वे अपनी विद्या के गर्व मे चूर हो रहे हैं और जिन्होंने थोडा धन इकट्ठा कर लिया है, वे लक्ष्मी के नशे में मतवाले हो रहे हैं। पर उन्हे यह भान नही है कि वे जिस चीज का घमण्ड करते हैं वह सदा टिकने वाली नहीं है, अनित्य और असार है।

आज जो लक्ष्मी का लाल है और नाना प्रकार के भोगविलासो मे डूबा हुआ है वह कल दर-दर का भिखारी वन सकता है, अपनी विद्या का जो घमड करते हैं, वे कल को पागल होकर अपनी चेतना खो सकते हैं। अपने यौवन और शरीर के सौन्दर्य का जो अभिमान रखते हैं वह कल को किसी असाध्य वीमारी के कारण अधा, लूला-लगडा या कुरूप हो सकता है और इनसे वच जाय तो वृद्धावस्था के अनिवार्य आक्रमण से अशक्त और सौन्दर्यविहीन हो सकता है। इस प्रकार सासारिक सुख कोई भी शाश्वत सुख नही है। सभी असार है। केले के पत्तो या प्याज के छिलको के समान ही सारहीन हैं। आज जो भी अच्छे सयोग हमें मिले हैं वे अगले क्षण ही वियोग मे वदल सकते हैं। अधिक क्या कहा जाय ? जिस शरीर को हम सवसे ज्यादा चाहते है, पौष्टिक पदार्थ खिलाकर मजवूत वनाते हैं, मलते हैं, धोते हैं और सजाते हैं, वह भी तो किसी क्षण हमारी आत्मा का साथ छोडकर अलग हो जाता है। एक क्षण मे जीव जन्म लेता है और एक क्षण मे ही मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अत जो अज्ञानी ससार के नाशवान पदार्थों से राग रखते हैं, उन्हे दु खो के अथाह सागर मे डूवना पडता है।

इसलिये अगर व्यक्ति दु खो से दूर रहकर शाश्वत सुख भोगना चाहे तो उसे लोक-परलोक की असारता और सयोग-वियोग का विचार करके ससार के अनित्य और नाशवान् पदार्थों से मोह, ममता या आसक्ति नही रखना चाहिये। यह जगत मिथ्या, नाशवान्, जड और दुख मय है। किन्तु आत्मा चेतन, नित्य और शाश्वत

सुख का खजाना है। अत इसे कर्मों के आवरणो से मुक्त करके असली स्वरूप मे लाना चाहिये। जब तक कर्मों का परदा आत्मा पर रहता है तब तक अपने निज गुणो को विकसित नही कर सकती। एक उदाहरण है—

किसी महात्मा के पास एक भक्त आया और बोला -"भगवन्! मैंने आपकी इतने दिनो तक सेवा की है अत. मुझे अब कोई दुर्लभ वस्तु प्रदान कीजिये।"

महात्माजी ने उत्तर दिया—"वत्स! तुम्हारी बात सच है। तुमने मेरी अनेक वर्षों तक बहुत मन लगाकर सेवा की है अत मुझे तुम्हे कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये। जाओ, सामने बने हुए उस आले मे से अमुक डिबिया उठा लाओ।"

भक्त अत्यन्त प्रसन्न होकर डिबिया ले आया और उत्सुकतापूर्वक पूछने लगा—"क्या है इस मे ?"

"इसमे पारस पत्थर है। इसके द्वारा तुम जीवन भर चाहे जितने लोहे का सोना बना सकोगे ?" महात्माजी ने कहा और वह डिबिया उसे दे दी।

भक्त खुशी के मारे फूला नही समाया, उसे अपने गुरुजी से ऐसा उपहार पाने की आशा नही थी। अत पारस-पत्थर जैसी दुर्लभ वस्तु प्राप्त करके मानो वह निहाल हो गया और महात्माजी को नमस्कार करके वहाँ से शीघ्रतापूर्वक चल दिया।

किन्तु कुछ काल पश्चात् जब वह पुन महात्माजी के पास लौटा, उसका चेहरा उतरा हुआ था। यह देखकर उन्होंने पूछा—"भाई मैंने तुम्हे पारस पत्थर जैसी अमूल वस्तु दी, किन्तु फिर भी तुम उदास हो ? क्या कारण है इसका ?"

भक्त बोला—'गुरुदेव! आपने मुझे धोखा दिया है। इस पत्थर से तो एक तोला लोहा भी सोना नही बना। आप अपनी वस्तु रखिये।" कहकर व्यक्ति ने डिबिया महात्माजी के सामने रख दी।

महात्मा जी ने उसे खोलकर देखा तो पाया कि पारस-पत्थर पर जो महीन कागज लिपटा हुआ था वह ज्यो का त्यो ही उस पर लिपटा हुआ है। अत उन्होने कहा—"भले आदमी क्या तुमने इस कागज समेत ही इसे लोहे से छुआया था ?"

"जी हाँ!" व्यक्ति ने उत्तर दिया।

'बस, इसीलिये तो इससे लोहा सोना नही बन सका। जब तक इस आवरण को इस पारस पत्थर से अलग नही करोगे, तब तक कैसे यह लोहे को छूने पर उसे

सोना वनायेगा ? ले जाओ, और इस कागज को अलग करके तव इसे लोहे से छुआना। तुम्हारा मनवाछित कार्य सिद्ध हो जाएगा।"

व्यक्ति ने ऐसा ही किया और फिर मालामाल होकर आनन्द से रहने लगा।

भाइयो ! हमारी आत्मा भी पारस पत्थर के समान सिद्धि प्रदान करने वाली है। यह आपको मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकती है। किन्तु शत यह है कि इस पर रहे हुए कर्मों के आवरणो को हटा दिया जाय। जब तक ये आवरण इस पर चढे रहेगे तब तक हम अपने इच्छित उद्देश्य को कभी सिद्ध नही कर पाएँगे।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

बहुकम्म लेव लित्ताण, बोही होइ सुदुल्लुहा तेसि।

—जो आत्मायें बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

भावार्थ यह है कि जब तक आत्मा कर्मों से अधिकाधिक जकडी हुई रहती है तब तक जीव को कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नही रहता और अतराय कर्म का तीव्र उदय होने के कारण उसकी आत्मा मे रहे हुए ज्ञान, दर्शन एव चारित्र गुणों का आविर्भाव नही हो पाता। मिथ्यात्व एव अज्ञान के कारण उसे जिन वचनो पर प्रतीति नही होती तथा सतो के उपदेश मे भी रुचि नही रहती।

किन्तु इसके विपरीत ज्यो-ज्यो उस की आत्मा पर से मिथ्यात्व का एव अज्ञान का आवरण हटता जाता है त्यो-त्यो उसकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती जाती है और साधक सयम की साधना करते-करते अपने मन, वचन एव काय योग को भी कम करता चला जाता है। कहा भी है—

जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अबुआणे॥

—बृहत्कल्प भाष्य ३९२६

जसे जैसे मन, वचन, काय के योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णत निरोध होने पर आत्मा मे बध का सर्वथा अभाव होता जाता है। जैसे कि समुद्र मे रहे हुए छिद्ररहित जहाज मे जलागमन का अभाव होता है।

मेरे कहने का आशय यही है कि हमारी आत्मा ही हमे जन्म-मरण के दुखो मे डालती है और आत्मा ही शाश्वत सुख की प्राप्ति कराती है, आवश्यकता केवल यही है कि इसे शुद्ध विचारो की ओर प्रवृत्त किया जाय।

आप उत्तराध्ययन का पारायण करते समय पढ़ते होगे—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

—आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता व भोक्ता है। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार मे प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सदाचार मे प्रवृत्त किस प्रकार हुआ जाय ? इसका उत्तर यही है कि मुमुक्षु व्यक्ति जिन-वचनो मे श्रद्धा रखे, सद्गुरुओ के उपदेशो को आत्मसात् करे तथा सद्गुणो का सचय करने का प्रयत्न करता रहे।

किन्तु उसके लिये तोते के समान शास्त्रो का पारायण कर लेना, लोकदिखावे के लिये स्थानक मे जाकर किसी तरह प्रवचन सुन लेना और महापुरुषो की जन्म-तिथियाँ मना लेना ही काफी नही है। आप प्रतिवर्ष भगवान महावीर की जयन्ती मनाते हैं और भी वर्ष मे अनेक महापुरुषो की जयन्तियाँ मनाते समय जुलूस निकालते हैं, गाना-बजाना करते हैं और स्टेज पर खडे होकर लच्छेदार भाषा मे उनके गुणगान करते हैं। किन्तु केवल गुणगान करने से क्या हो सकता है ?

आप हलवाइयो की गली मे से निकले और प्रत्येक मिठाई के नाम-धाम गुण और मधुर स्वाद के विषय मे कहते चले जायें तो आपका पेट भर जायगा ? या कपडा-बाजार मे जाकर नाना प्रकार के कपडो की कीमत और उनके मोटे और महीनपने की आलोचना या प्रशसा करे तो क्या वह आपके शरीर पर आ जायगा ? नहीं, कपड़ा खरीदकर पहनने से आपका शरीर ढँकेगा और मिठाइयाँ खाने पर ही पेट भरेगा। इसी प्रकार महापुरुषो के केवल गुणगान करने से ही अपनी आत्मा गुणवान नही बन जाएगी, अपितु उन गुणो को कहने की अपेक्षा आचरण मे उतारने पर ही आप गुणवान कहलायेंगे और उन गुणो के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इसलिये बधुओ, आप जयतियाँ या जन्मदिन मनाने और महा-मानवो के गुणानुवाद करने में ही न रह जायें बल्कि उन्हें जीवन मे उतारने का प्रयत्न करें। चिन्तन और मनन करें कि उन महामानवो ने अपने आत्म-कल्याण के लिये

क्या-क्या प्रयत्न किये थे और किस प्रकार अपनी आत्मा को राग-द्वेप से रहित किया था ?

जव आप एकान्त और शात वातावरण मे बैठकर चिंतन करेंगे तो अवश्य ही आपका मन श्रेष्ठ कार्यों के महत्त्व को समझेगा तथा त्याग, नियम एव प्रत्याख्यान आदि की महिमा का अनुभव करता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होगा तथा उन्हें क्रियात्मक रूप मे लाने का विचार और विचार के पश्चात् सकल्प भी करेगा।

अन्यथा हम प्रतिदिन वोलते हैं और आप प्रतिदिन सुन लेते हैं। समय समय पर जयतियो या जन्म दिन भी मना लिया करते हैं पर उससे लाभ क्या हासिल करते है ? हमारा समय तो व्यर्थ नही जाता क्योकि हमारे लिये तो स्वाध्याय और धर्मकथा भी तप है। किन्तु आपका समय निरर्थक चला जाएगा। अत सुनी हुई सौ वातो में से आप अगर एक वात भी अपना लें तो आपका जीवन तो उन्नत बनेगा ही, हमे भी सन्तोष का अनुभव होगा। अगर इतने श्रोताओ मे से दो-चार या एक भी हमारे कहे हुए शास्त्र-वचन पर श्रद्धा करता है, विश्वास करता है और उसे अमल मे लाने का सकल्प करता है तो वह भी हमारे लिये प्रसन्नता की बात है।

आपने सुना होगा कि अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व का स्वरूप समझाकर उन्हे आत्मोत्थान का सच्चा मार्ग वताया था। इसी प्रकार अगर आपमे से एक भी व्यक्ति जीवन के महत्व को समझ लेता है तथा आत्म-कल्याण के प्रयत्न मे जुट जाता है तो हमारे लिये हर्ष का विषय है।

यह दुर्लभ जीवन बार-बार नही मिलता। एक बार अगर इसे व्यर्थ कर दिया जाय तो दूसरी वार कब इसकी प्राप्ति होगी, यह कहा नही जा सकता। इस सबध मे हमारे यहाँ दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। पर उनका उल्लेख करने से विस्तार अधिक हो जाएगा। कभी प्रसगवश ही उन्हे बताया जा सकेगा। किन्तु जिन भव्य प्राणियो को मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझने की जिज्ञासा हो उन्हे अवश्य पढ़ना चाहिये।

अभी तो मुझे यही कहना है कि इसी मानव शरीर का निमित्त पाकर अनेक अवतारी पुरुषो ने ससार से मुक्ति प्राप्त की है और मुनिजन छठे आदि उच्च गुण-स्थानो को प्राप्त करते हैं। ऐसे महान उपयोगी जीवन को प्राप्त करके भी यदि विशेष आत्म-कल्याण की साधना नही हो सकी तो समझना चाहिये कि उसकी प्राप्ति निरर्थक हो गई। इतना ही नही, अनन्त पुण्य-रूप गाँठ की पूजी, जिसके बल पर यह जीवन मिला था वह भी गई। साथ ही विषय भोगो को भोगकर जो असख्य

कर्मों का वन्धन कर लिया, उनके कारण अगले जन्मो तक के लिये ऋणी भी और हो गया जिसे चुकाने मे न जाने कितने जन्म-मरण करने पडेंगे।

इसलिये प्रत्येक प्राणी को भलीभाति समझ लेना चाहिये कि विषयासक्ति समस्त अनर्थों का मूल है। हाथी एव मृग आदि तो एक-एक इन्द्रिय के प्रति आसक्त होने के कारण ही जान से हाथ धो वैठते हैं, फिर जो मनुष्य पांचो इन्द्रियो के विपयो मे आसक्त रहेगे उनकी क्या दुर्दशा होगी इसकी कल्पना करना ही भयकर है। विपयो मे ऐसी विचित्रता और प्रवल आकर्पण है कि ज्यो-ज्यो इनका सेवन किया जाता है, त्यो-त्यो भोग की लालसा घटने के वजाय वढती ही जाती है। इनके सेवन से किसी भी प्राणी को कभी तृप्ति नही हुई है और न ही भविष्य मे हो सकती है।

तृप्ति केवल उसी को होती है जो उनका परित्याग करके इनसे विरक्त हो जाता है। श्री भर्तृहरि भी कहते हैं—

> भोगो भ गुरवृत्तयो वहुविधास्तैरेव चाय भव—।
> स्तत्कस्यैव कृते परिभ्रमन रे लोका कृत चेष्टितै ।
> आशापाशशतोपशान्ति विशद चेत समाधीयता ।
> कामोच्छित्तिवशेस्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वच ।।

कहा गया है—ये नाना प्रकार के विपय-भोग नाशवान और समार-वधन के कारण हैं। इस वात को जानकर भी, मनुष्यो! उनके चक्कर मे क्यो पडते हो ? इस निरर्थक चेष्टा से क्या लाभ होगा ? अगर आपको हमारी वात का विश्वास हो तो आप अनेक प्रकार के आशा जाल के टूटने से शुद्ध हुए चित्त को सदा काम-नाशक एव स्वय-प्रकाशक शिवजी के चरणो मे लगाओ अथवा अपनी इच्छाओ का समूल नाश करने के लिये, अपनी ही आत्मा के घ्यान मे मग्न हो जाओ।

तो वघुओ, अत मे मैं केवल आप से यही कहना चाहता हूँ कि आप मानव जीवन की दुर्लभता पर विचार करें तथा इसे सार्थक वनाने के लिये गभीर चिंतन करते हुए आत्मा की शुद्धि के लिये जुट जायें। मैं यह नही कहता कि आप आज ही गृहस्थ जीवन को त्यागकर साधु वन जायें, नही, अपने कतव्यो का पालन मनुष्य को करना चाहिये किन्तु उसे यह भी नही भूलना चाहिये कि इस जीवन के वाद भी अगला जीवन होता है और उसकी सफलता के लिये हमे इसी जीवन में प्रयत्न भी करना है। अत सासारिक कर्तव्यो को करते हुए भी सासारिक जजालो मे आप लिप्त न रहे तथा जल मे कमल के समान इस ससार मे रहते हुए भी अपने उत्तम

लक्ष्य आत्म-मुक्ति को न भूलें। अगर आप इसे याद रखेंगे तो निश्चय ही आपका मन ससार मे उलझा नही रहेगा।

आप जयतिया मनाएँ, जन्मतिथियाँ मनाएँ पर यह ध्यान रखें कि क्यो हम महापुरुषो को स्मरण करते हैं ? उनके व्यक्तिगत जीवन को याद करना तो कुछ भी अर्थ नही रखता, वे केवल इसीलिये स्मरणीय हुए कि उनमे ऐसे श्रेष्ठतम गुण थे, जिनके कारण वे स्वय तो ससार से मुक्त हुए ही, हमारे समक्ष भी अपने महान् गुणो को आदर्श के रूप मे छोड गए। अत उन गुणो को हमे भी जीवन मे उतारना है। आज आपने मेरे लिये जो भाव प्रगट किये वे आपके स्नेह के द्योतक हैं। मेरी यही कामना है कि आप आत्मोन्नति के मार्ग पर निरन्तर बढें तथा अपने श्रेष्ठतम लक्ष्य को प्राप्त करें।

●●

८ | # सफलता के बहुमूल्य सूत्र

धर्मप्रेमी बघुओ, माताओ एव बहनो !

इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य जीवन जीता है और अपने जीवन को सफल बनाने की कामना रखता है। किन्तु जीवन की सफलता किसमे है ? इस विषय पर गभीर विचार करने वाले व्यक्ति बहुत कम पाए जाते हैं।

अधिकाश मनुष्य जीवन की ऐहलौकिक सफलता के बारे मे ही विचार करते हैं और उसी के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। कोई अधिक से अधिक धन कमाकर इकट्ठा कर लेने मे जीवन का साफल्य मानते हैं, कोई यश-कीर्ति की प्राप्ति मे, कोई परिवार की वृद्धि मे और कोई अधिकाधिक भोगोपभोगो को भोगने मे।

किन्तु ऐसे समस्त व्यक्तियो की दृष्टि मे शरीर और उसका सुख मुख्य होता है, तथा इस शरीर मे स्थित आत्मा और आत्मा का सुख नगण्य होता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि वे शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न तत्त्व नही समझते और शरीर को सुख पहुचाना ही आत्मा को सुखी करना मानते हैं। किन्तु यह उनकी महा भयकर भूल है। शरीर तथा आत्मा कभी एक नही हो सकते।

विद्वद्वर्य पडित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने आत्मा और शरीर का अन्तर बताते हुए कहा है—

सिद्ध विशुद्ध बुद्ध चेतन है सहज सुखो का सागर,
अव्याबाध अरूप निरञ्जन साम्य सुधा का आगर।
सप्त धातु निर्मित काया है, पुद्गल-पिण्ड विनश्वर,
दोनों एक कदापि न होगे समझ सयाने सत्वर॥

पद्य मे स्पष्ट कहा गया है कि शरीर आत्मा दोनो भिन्न हैं और वे कदापि एक नही हो सकते । आत्मा अथवा चेतन पूर्णतया विशुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, अरूपी, निरञ्जन एव अव्याबाध सुखो का सागर है, शाश्वत है। किन्तु यह शरीर सात धातुओ के सयोग से उत्पन्न हुआ पिंड और नश्वर है, जैसा कि हम सदा देखते हैं।

प्रतिदिन किसी न किसी के लिये कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति मर गया।' व्यक्ति मर गया से तात्पर्य उसके शरीर के नाश हो जाने से है। आत्मा से नहीं। आत्मा अनश्वर है जो कि अपने ऊपर लिपटे हुए कर्मों के अनुसार उनका भुगतान करने उच्च या नीच गति मे जाता है।

तो शरीर को सुख पहुचाकर आत्मा को सुखी मानने वाले तथा सासारिक पदार्थों को इकट्ठा करके उन्हें 'मेरी' कहने वाले महान् भूल करते हैं। शारीरिक सुखो को प्रदान करने वाली वस्तुएँ कभी आत्मा को सुख पहुचाने मे समर्थ नही बन सकती।

कवि ने आगे यही बात कही है—

हो जल मे उत्पन्न जलज ज्यो जल से ही न्यारा है ।
त्यो शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है ॥
तो दुनिया की अन्य वस्तुए कैसे होंगी तेरी ?
समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी मेरी ॥

—जिस प्रकार जल से उत्पन्न होकर भी कमल जल से ऊपर यानी जल से अलग रहता है, उसी प्रकार शरीर मे स्थित चेतना भी शरीर से पूर्णतया भिन्न होती है। अत हे प्राणी अपने शुद्ध और शाश्वत आत्म-स्वरूप को भली-भाँति समझ ले और दुनिया की वस्तुओ को मेरी मानकर उन्ही मे आसक्त मत बन। अगर तू आत्मा और शरीर को भिन्न नही समझेगा तो जीवन भर केवल शरीर की खुराक ही जुटाता रह जाएगा तथा आत्मा की खुराक के लिये कुछ भी नही कर सकेगा। अत कवि के अगले शब्दो मे सदा इस बात का चिन्तन किया कर—

मैं हूँ सबसे भिन्न अन्य अस्पष्ट निराला,
आत्मीय-सुखसागर में नित रमने वाला ।
सब सयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा,
हाय न जाना मैंने अपना रूप अनोखा ॥

विवेकी पुरुष को चिन्तन करना चाहिये कि—"मैं अर्थात् चेतन, ससार के समस्त पदार्थों से, सब सबधियो से और इतना ही नही बल्कि अपने शरीर से भी

भिन्न और निराला तत्व हू जो कि आत्मा मे रहे हुए शाश्वत सुख के असीम सागर मे रमण करता हूँ। यह शरीर और सम्पूर्ण सासारिक पदार्थ वाह्य हैं जो सयोग के द्वारा प्राप्त होकर अपने प्रबल आकर्षणो से मुझे धोखे मे डाले हुए हैं। इनके प्रति मोह और आसक्ति के कारण अब तक मैंने अपना चिदानन्द चेतनमय रूप नही पहचान पाया और इस अन्यत्व भावना के अभाव मे अनन्त काल से नाना योनियो मे भटकता हुआ घोर कष्ट उठाता रहा।"

तो बधुओ! मैं आपको यह बता रहा था कि अज्ञानी पुरुप शरीर और आत्मा को एक मानकर धन-वैभव, शारीरिक सुख और कीर्ति-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त कर लेने मे ही जीवन की सफलता मान लेते हैं। किन्तु ज्ञानी और विवेकी पुरुष ऐसा नही करते। वे इस शरीर को पिंजरा और आत्मा को इसमे कैद हस की उपमा देते हैं। पिंजरा और हस अलग-अलग होते हैं तथा कभी भी पिंजरे का द्वार खुला पाकर जिस प्रकार हस उड जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी हस भी इस शरीर रूपी पिंजरे से अचानक ही निकल जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जीवन की सफलता के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे पहले ही यह बात भली-भाति जान लेनी चाहिये कि आत्मा अमर है पर जीवन अमर नही है। इस जीवन को सुख पहुँचाने के लिये कितने भी प्रयत्न क्यो न किये जायँ वे सब सुख शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। किन्तु अगर हम आत्मा को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करे तो वह शाश्वत होगा यानी इस जीवन के बाद भी वह आत्मा को अपना श्रेष्ठ फल प्रदान कर सकेगा?

अब हमारे सामने प्रश्न यह है आत्मा को सुखमय अर्थात् दु खमुक्त किस प्रकार किया जा सकता है तथा उसके साधन क्या-क्या हैं।

आत्म-दर्शन

जो मुमुक्षु व्यक्ति अपने जीवन मे सफल बनाना चाहता है, वह सर्वप्रथम वीतराग वचनो पर श्रद्धा रखकर तथा सद्गुरुओ के उपदेशो को सुनकर यह विश्वास करता है कि हमारा शरीर और हमारी आत्मा सर्वथा भिन्न है। शरीर के विषय और हैं तथा आत्मा के विपय और हैं, शरीर को सुख पहुँचाने वाले साधन दूसरे हैं तथा आत्मा को सुख पहुँचाने वाले दूसरे।

इस प्रकार जान लेने पर वह आत्म-दर्शन अथवा आत्मा के सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। आत्मद्रष्टा विचार करता है—

सोना बनायेगा ? ले जाओ, और इस कागज को अलग करके तब इसे लोहे से छुआना। तुम्हारा मनवाछित कार्य सिद्ध हो जाएगा।"

व्यक्ति ने ऐसा ही किया और फिर मालामाल होकर आनन्द से रहने लगा।

भाइयो! हमारी आत्मा भी पारस पत्थर के समान सिद्धि प्रदान करने वाली है। यह आपको मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकती है। किन्तु शत यह है कि इस पर रहे हुए कर्मों के आवरणो को हटा दिया जाय। जब तक ये आवरण इस पर चढे रहेगे तब तक हम अपने इच्छित उद्देश्य को कभी सिद्ध नही कर पाएँगे।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

बहुकम्म लेव लित्ताण, बोही होइ सुदुल्लुहा तेसि।

—जो आत्माये बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

भावार्थ यह है कि जब तक आत्मा कर्मों से अधिकाधिक जकडी हुई रहती है तब तक जीव को कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नही रहता और अतराय कर्म का तीव्र उदय होने के कारण उसकी आत्मा मे रहे हुए ज्ञान, दर्शन एव चारित्र गुणो का आविर्भाव नही हो पाता। मिथ्यात्व एव अज्ञान के कारण उसे जिन वचनो पर प्रतीति नही होती तथा सतो के उपदेश मे भी रुचि नही रहती।

किन्तु इसके विपरीत ज्यो-ज्यो उस की आत्मा पर से मिथ्यात्व का एव अज्ञान का आवरण हटता जाता है त्यो-त्यो उसकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती जाती है और साधक सयम की साधना करते-करते अपने मन, वचन एव काय योग को भी कम करता चला जाता है। कहा भी है—

जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अबुआणे॥

—बृहत्कल्प भाष्य ३९२६

जसे जैसे मन, वचन, काय के योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूणत निरोध होने पर आत्मा मे बध का सर्वथा अभाव होता जाता है। जैसे कि समुद्र मे रहे हुए छिद्ररहित जहाज मे जलागमन का अभाव होता है।

मेरे कहने का आशय यही है कि हमारी आत्मा ही हमे जन्म-मरण के दुखो मे डालती है और आत्मा ही शाश्वत सुख की प्राप्ति कराती है, आवश्यकता केवल यही है कि इसे शुद्ध विचारो की ओर प्रवृत्त किया जाय।

आप उत्तराध्ययन का पारायण करते समय पढ़ते होगे—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

—आत्मा ही सुख-दु ख का कर्ता व भोक्ता है। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार मे प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सदाचार मे प्रवृत्त किस प्रकार हुआ जाय ? इसका उत्तर यही है कि मुमुक्षु व्यक्ति जिन-वचनो मे श्रद्धा रखे, सद्गुरुओ के उपदेशो को आत्मसात् करे तथा सद्गुणो का सचय करने का प्रयत्न करता रहे।

किन्तु उसके लिये तोते के समान शास्त्रो का पारायण कर लेना, लोकदिखावे के लिये स्थानक मे जाकर किसी तरह प्रवचन सुन लेना और महापुरुषो की जन्म-तिथियाँ मना लेना ही काफी नही है। आप प्रतिवर्ष भगवान महावीर की जयन्ती मनाते हैं और भी वर्ष मे अनेक महापुरुषो की जयन्तियाँ मनाते समय जुलूस निकालते हैं, गाना-बजाना करते हैं और स्टेज पर खडे होकर लच्छेदार भाषा मे उनके गुणगान करते हैं। किन्तु केवल गुणगान करने से क्या हो सकता है ?

आप हलवाइयो की गली मे से निकलें और प्रत्येक मिठाई के नाम-धाम, गुण और मधुर स्वाद के विषय मे कहते चले जायँ तो आपका पेट भर जायगा ? या कपडा-बाजार मे जाकर नाना प्रकार के कपडो की कीमत और उनके मोटे और महीनपने की आलोचना या प्रशसा करें तो क्या वह आपके शरीर पर आ जायगा ? नही, कपडा खरीदकर पहनने से आपका शरीर ढँकेगा और मिठाइयाँ खाने पर ही पेट भरेगा। इसी प्रकार महापुरुषो के केवल गुणगान करने से ही अपनी आत्मा गुणवान नही बन जाएगी, अपितु उन गुणो को कहने की अपेक्षा आचरण मे उतारने पर ही आप गुणवान कहलायेंगे और उन गुणो के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इसलिये बधुओ, आप जयतियाँ या जन्मदिन मनाने और महा-मानवो के गुणानुवाद करने मे ही न रह जायँ बल्कि उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करे। चिन्तन और मनन करें कि उन महामानवो ने अपने आत्म-कल्याण के लिये

क्या-क्या प्रयत्न किये थे और किस प्रकार अपनी आत्मा को राग-द्वेष से रहित किया था ?

जब आप एकान्त और शात वातावरण मे बैठकर चिंतन करेंगे तो अवश्य ही आपका मन श्रेष्ठ कार्यों के महत्त्व को समझेगा तथा त्याग, नियम एव प्रत्याख्यान आदि की महिमा का अनुभव करता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होगा तथा उन्हें क्रियात्मक रूप मे लाने का विचार और विचार के पश्चात् सकल्प भी करेगा।

अन्यथा हम प्रतिदिन बोलते हैं और आप प्रतिदिन सुन लेते हैं। समय-समय पर जयतियो या जन्म दिन भी मना लिया करते हैं पर उससे लाभ क्या हासिल करते हैं ? हमारा समय तो व्यर्थ नही जाता क्योकि हमारे लिये तो स्वाध्याय और धर्मकथा भी तप है। किन्तु आपका समय निरर्थक चला जाएगा। अत सुनी हुई सौ बातो मे से आप अगर एक बात भी अपना लें तो आपका जीवन तो उन्नत बनेगा ही, हमें भी सन्तोष का अनुभव होगा। अगर इतने श्रोताओ मे से दो-चार या एक भी हमारे कहे हुए शास्त्र-वचन पर श्रद्धा करता है, विश्वास करता है और उसे अमल मे लाने का सकल्प करता है तो वह भी हमारे लिये प्रसन्नता की बात है।

आपने सुना होगा कि अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व का स्वरूप समझाकर उन्हे आत्मोत्थान का सच्चा मार्ग बताया था। इसी प्रकार अगर आपमें से एक भी व्यक्ति जीवन के महत्व को समझ लेता है तथा आत्म-कल्याण के प्रयत्न मे जुट जाता है तो हमारे लिये हर्ष का विषय है।

यह दुर्लभ जीवन बार-बार नही मिलता। एक बार अगर इसे व्यर्थ कर दिया जाय तो दूसरी बार कब इसकी प्राप्ति होगी, यह कहा नही जा सकता। इस सबध मे हमारे यहाँ दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। पर उनका उल्लेख करने से विस्तार अधिक हो जाएगा। कभी प्रसगवश ही उन्हें बताया जा सकेगा। किन्तु जिन भव्य प्राणियो को मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझने की जिज्ञासा हो उन्हे अवश्य पढना चाहिये।

अभी तो मुझे यही कहना है कि इसी मानव शरीर का निमित्त पाकर अनेक अवतारी पुरुषो ने ससार से मुक्ति प्राप्त की है और मुनिजन छठे आदि उच्च गुण-स्थानो को प्राप्त करते हैं। ऐसे महान् उपयोगी जीवन को प्राप्त करके भी यदि विशेष आत्म-कल्याण की साधना नही हो सकी तो समझना चाहिये कि उसकी प्राप्ति निरर्थक हो गई। इतना ही नही, अनन्त पुण्य-रूप गाँठ की पूजी, जिसके बल पर यह जीवन मिला था वह भी गई। साथ ही विषय भोगो को भोगकर जो असख्य

कर्मों का बन्धन कर लिया, उनके कारण अगले जन्मों तक के लिये ऋणी भी और हो गया जिसे चुकाने मे न जाने कितने जन्म-मरण करने पड़ेंगे ।

इसलिये प्रत्येक प्राणी को भलीभांति समझ लेना चाहिये कि विषयासक्ति समस्त अनर्थों का मूल है । हाथी एव मृग आदि तो एक-एक इन्द्रिय के प्रति आसक्त होने के कारण ही जान से हाथ धो बैठते हैं, फिर जो मनुष्य पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त रहेगे उनकी क्या दुर्दशा होगी उसकी कल्पना करना ही भयकर है । विषयो मे ऐसी विचित्रता और प्रबल आकर्षण है कि ज्यो-ज्यो इनका सेवन किया जाता है, त्यो-त्यो भोग की लालसा घटने के बजाय बढती ही जाती है । इनके सेवन से किसी भी प्राणी को कभी तृप्ति नही हुई है और न ही भविष्य मे हो सकती है ।

तृप्ति केवल उसी को होती है जो उनका परित्याग करके इनसे विरक्त हो जाता है । श्री भर्तृहरि भी कहते हैं—

> भोगो भगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चाय भव —।
> स्तत्कस्यैव कृते परिभ्रमत रे लोका कृत चेष्टितै ।
> आशापाशशतोपशान्ति विशद चेत समाधीयता ।
> कामोच्छित्तिवशेत्स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वच ।।

कहा गया है—ये नाना प्रकार के विषय-भोग नाशवान और ससार-बधन के कारण हैं । इस बात को जानकर भी, मनुष्यो ! उनके चक्कर मे क्यो पडते हो ? इस निरर्थक चेष्टा से क्या लाभ होगा ? अगर आपको हमारी बात का विश्वास हो तो आप अनेक प्रकार के आशा जाल के टूटने से शुद्ध हुए चित्त को सदा काम-नाशक एव स्वय-प्रकाशक शिवजी के चरणो मे लगाओ अथवा अपनी इच्छाओ का समूल नाश करने के लिये, अपनी ही आत्मा के ध्यान मे मग्न हो जाओ ।

तो बधुओ, अत मे मैं केवल आप से यही कहना चाहता हूँ कि आप मानव जीवन की दुर्लभता पर विचार करे तथा इसे सार्थक बनाने के लिये गभीर चिंतन करते हुए आत्मा की शुद्धि के लिये जुट जायँ । मैं यह नही कहता कि आप आज ही गृहस्थ जीवन को त्यागकर साधु बन जायें, नही, अपने कर्तव्यो का पालन मनुष्य को करना चाहिये किन्तु उसे यह भी नही भूलना चाहिये कि इस जीवन के बाद भी अगला जीवन होता है और उसकी सफलता के लिये हमे इसी जीवन में प्रयत्न भी करना है । अत सासारिक कर्तव्यो को करते हुए भी सासारिक जजालो मे आप लिप्त न रहे तथा जल मे कमल के समान इस ससार मे रहते हुए भी अपने उत्तम

लक्ष्य आत्म-मुक्ति को न भूलें। अगर आप इसे याद रखेंगे तो निश्चय ही आपका मन ससार मे उलझा नही रहेगा।

आप जयतिया मनाएं, जन्मतिथियाँ मनाएँ पर यह ध्यान रखें कि क्यो हम महापुरुषो को स्मरण करते है ? उनके व्यक्तिगत जीवन को याद करना तो कुछ भी अर्थ नही रखता, वे केवल इसीलिये स्मरणीय हुए कि उनमे ऐसे श्रेष्ठतम गुण थे, जिनके कारण वे स्वय तो ससार से मुक्त हुए ही, हमारे समक्ष भी अपने महान् गुणों को आदर्श के रूप मे छोड गए। अत उन गुणो को हमे भी जीवन मे उतारना है। आज आपने मेरे लिये जो भाव प्रगट किये वे आपके स्नेह के द्योतक हैं। मेरी यही कामना है कि आप आत्मोन्नति के मार्ग पर निरन्तर बढें तथा अपने श्रेष्ठतम लक्ष्य को प्राप्त करें।

●●

८ सफलता के बहुमूल्य सूत्र

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव बहनो !

इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य जीवन जीता है और अपने जीवन को सफल बनाने की कामना रखता है। किन्तु जीवन की सफलता किसमे है ? इस विषय पर गभीर विचार करने वाले व्यक्ति बहुत कम पाए जाते हैं।

अधिकाश मनुष्य जीवन की ऐहलौकिक सफलता के बारे मे ही विचार करते हैं और उसी के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। कोई अधिक से अधिक धन कमाकर इकट्ठा कर लेने मे जीवन का साफल्य मानते हैं, कोई यश-कीर्ति की प्राप्ति मे, कोई परिवार की वृद्धि मे और कोई अधिकाधिक भोगोपभोगो को भोगने मे।

किन्तु ऐसे समस्त व्यक्तियो की दृष्टि मे शरीर और उसका सुख मुख्य होता है, तथा इस शरीर मे स्थित आत्मा और आत्मा का सुख नगण्य होता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि वे शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न तत्त्व नही समझते और शरीर को सुख पहुचाना ही आत्मा को सुखी करना मानते हैं। किन्तु यह उनकी महा भयकर भूल है। शरीर तथा आत्मा कभी एक नही हो सकते।

विद्वद्वर्य पडित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने आत्मा और शरीर का अन्तर बताते हुए कहा है—

> सिद्ध विशुद्ध बुद्ध चेतन है सहज सुखो का सागर,
> अव्याबाध अरूप निरञ्जन साम्य सुधा का आगर।
> सप्त धातु निर्मित काया है, पुद्गल-पिण्ड विनश्वर,
> दोनो एक कदापि न होगे समझ सयाने सत्वर ॥

पद्य मे स्पष्ट कहा गया है कि शरीर आत्मा दोनो भिन्न हैं और वे कदापि एक नही हो सकते। आत्मा अथवा चेतन पूर्णतया विशुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, अरूपी, निरञ्जन एव अव्याबाध सुखो का सागर है, शाश्वत है। किन्तु यह शरीर सात धातुओ के सयोग से उत्पन्न हुआ पिंड और नश्वर है, जैसा कि हम सदा देखते हैं।

प्रतिदिन किसी न किसी के लिये कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति मर गया।' व्यक्ति मर गया से तात्पर्य उसके शरीर के नाश हो जाने से है। आत्मा से नहीं। आत्मा अनश्वर है जो कि अपने ऊपर लिपटे हुए कर्मों के अनुसार उनका भुगतान करने उच्च या नीच गति मे जाता है।

तो शरीर को सुख पहुचाकर आत्मा को सुखी मानने वाले तथा सासारिक पदार्थों को इकट्ठा करके उन्हे 'मेरी' कहने वाले महान् भूल करते हैं। शारीरिक सुखो को प्रदान करने वाली वस्तुएँ कभी आत्मा को सुख पहुचाने में समर्थ नहीं बन सकती।

कवि ने आगे यही बात कही है—

हो जल मे उत्पन्न जलज ज्यों जल से ही न्यारा है।
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है॥
तो दुनिया की अन्य वस्तुए कैसे होंगी तेरी?
समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी मेरी॥

—जिस प्रकार जल से उत्पन्न होकर भी कमल जल से ऊपर यानी जल से अलग रहता है, उसी प्रकार शरीर मे स्थित चेतना भी शरीर से पूर्णतया भिन्न होती है। अत हे प्राणी अपने शुद्ध और शाश्वत आत्म-स्वरूप को भली-भाँति समझ ले और दुनिया की वस्तुओ को मेरी मानकर उन्ही मे आसक्त मत बन। अगर तू आत्मा और शरीर को भिन्न नही समझेगा तो जीवन भर केवल शरीर की खुराक ही जुटाता रह जाएगा तथा आत्मा की खुराक के लिये कुछ भी नही कर सकेगा। अत कवि के अगले शब्दो मे सदा इस बात का चिन्तन किया कर—

मैं हूँ सबसे भिन्न अन्य अस्पष्ट निराला,
आत्मीय-सुखसागर मे नित रमने वाला।
सब सयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा,
हाय न जाना मैंने अपना रूप अनोखा॥

विवेकी पुरुष को चिन्तन करना चाहिये कि—"मैं अर्थात् चेतन, ससार के समस्त पदार्थों से, सब सबधियो से और इतना ही नही बल्कि अपने शरीर से भी

भिन्न और निराला तत्व हू जो कि आत्मा मे रहे हुए शाश्वत सुख के असीम सागर मे रमण करता हूँ। यह शरीर और सम्पूर्ण सासारिक पदार्थ बाह्य हैं जो सयोग के द्वारा प्राप्त होकर अपने प्रबल आकर्षणो से मुझे धोखे मे डाले हुए हैं। इनके प्रति मोह और आसक्ति के कारण अब तक मैंने अपना चिदानन्द चेतनमय रूप नही पहचान पाया और इस अन्यत्व भावना के अभाव मे अनन्त काल से नाना योनियो मे भटकता हुआ घोर कष्ट उठाता रहा।"

तो बधुओ ! मैं आपको यह बता रहा था कि अज्ञानी पुरुष शरीर और आत्मा को एक मानकर धन-वैभव, शारीरिक सुख और कीर्ति-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त कर लेने मे ही जीवन की सफलता मान लेते हैं। किन्तु ज्ञानी और विवेकी पुरुष ऐसा नही करते। वे इस शरीर को पिंजरा और आत्मा को इसमे कैद हस की उपमा देते हैं। पिंजरा और हस अलग-अलग होते है तथा कभी भी पिंजरे का द्वार खुला पाकर जिस प्रकार हस उड जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी हस भी इस शरीर रूपी पिंजरे से अचानक ही निकल जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जीवन की सफलता के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे पहले ही यह बात भली-भांति जान लेनी चाहिये कि आत्मा अमर है पर जीवन अमर नही है। इस जीवन को सुख पहुँचाने के लिये कितने भी प्रयत्न क्यो न किये जायें वे सब सुख शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। किन्तु अगर हम आत्मा को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करें तो वह शाश्वत होगा यानी इस जीवन के बाद भी वह आत्मा को अपना श्रेष्ठ फल प्रदान कर सकेगा ?

अब हमारे सामने प्रश्न यह है आत्मा को सुखमय अर्थात् दु खमुक्त किस प्रकार किया जा सकता है तथा उसके साधन क्या-क्या हैं।

आत्म-दर्शन

जो मुमुक्षु व्यक्ति अपने जीवन मे सफल बनाना चाहता है, वह सर्वप्रथम वीतराग वचनो पर श्रद्धा रखकर तथा सद्गुरुओ के उपदेशो को सुनकर यह विश्वास करता है कि हमारा शरीर और हमारी आत्मा सर्वथा भिन्न है। शरीर के विषय और हैं तथा आत्मा के विषय और हैं, शरीर को सुख पहुँचाने वाले साधन दूसरे हैं तथा आत्मा को सुख पहुँचाने वाले दूसरे।

इस प्रकार जान लेने पर वह आत्म-दर्शन अथवा आत्मा के सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। आत्मद्रष्टा विचार करता है—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्ण परमाणुमित्त पि ॥

—समयसार ३८

अर्थात्--"मैं तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप सदाकाल सदाकाल अमूर्त एव शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है।"

वह यह भी विचार करता है—

एगो मे सासदो अप्पा, णाण दसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे सजोगलक्खणा ॥

— नियमसार ९९

—ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरी आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी राग-द्वेष, मोह-ममता, लोभ-आसक्ति तथा कषायादि भाव हैं, वे सब सयोगजन्य बाह्यभाव हैं, अत मेरे नही हैं।

इस प्रकार चितन करने वाला भव्य प्राणी आत्मा का ज्ञान कर लेता है और जब आत्मा का ज्ञान कर लेता है तो उसे अभी बताए गये विकारी और बाह्य भावो से उदासीन बनाकर ऐसे श्रेष्ठ भाव अपने मानस मे पैदा करता है, जिनसे आत्मा कर्म-बन्धनो मे रहित होकर अपने शुद्ध एव पूर्ण ज्योतिर्मान रूप मे आ जाय। आत्मा का कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना ही उसके लिये श्रेष्ठतम एव सर्वोच्च स्थिति को पा लेना है। कहा भी है—

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होई फुड।

—आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।

तो बधुओ, आप समझ गये होगे कि आत्मा को उसके सही स्वरूप में लाने के लिये या परमात्मा बनाने के लिये राग, द्वेष, मोह, आसक्ति आदि समस्त विकारी भावो से दूर रहना अथवा उनका त्याग करना आवश्यक ही नही वरन अनिवार्य है। पर इनसे दूर किस प्रकार रहा जाय और कौन से उत्तम गुणों को अपनाकर जीवन को सार्थक बनाया जाय, अब हमें इसी पर विचार करना है। और इसके लिये मै कुछ मुख्य गुण आपके समक्ष रखूँगा।

कर्म-रत रहना

इस ससार का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ करता रहता है। या तो वह शारीरिक श्रम करता है या मानसिक श्रम। अर्थात् अगर वह शरीर से श्रम

नही करेगा तो खाली बैठा हुआ अनेक प्रकार के विचार ही करता रहेगा। पर करेगा अवश्य, अकर्मण्य वह कभी नही रह सकता। इसलिये हमे चाहिये कि चाहे हम शारीरिक कर्म करे या मन मे विचारो के ताने-बाने बुने, वे सब ऐसे हो जो अपना उत्तम फल ही प्रदान करे, निकृष्ट नही।

इस प्रकार अगर विचार करना है तो हम श्रेष्ठ विचार करें, और कर्म करना है तो श्रेष्ठ कर्म। इस विषय मे ध्यान देने की बात एक यह है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाला व्यक्ति अपने कर्म से सदा सतुष्ट रहता है तथा उसके फलस्वरूप किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नही रखता। इसका कारण यही है कि कार्य का फल निश्चय ही किसी भी रूप मे मिलता है। हीन-कर्म करने पर उसका हीन फल जिस प्रकार इसी जन्म मे या कर्म-बन्धन के परिणाम स्वरूप अगले जन्मो मे भी मिलता रहता है। उसी प्रकार उत्तम कर्म का फल भी इसी जन्म मे यश-कीर्ति या सराहना के रूप मे मिल जाता है, अथवा पुण्य-कर्म सचित होने पर अगले जन्मो मे उच्च गति आदि के रूप मे मिलता है। अत कर्म करते समय किसी भी प्रकार की फलाशा नही रखनी चाहिये। जब कर्म-फल निश्चय रूप से फल प्रदान करता ही है तो उसके लिये इच्छा रखना अथवा अपने उत्तम फल को प्राप्त करके अपने हृदय मे अहकार को जगाना कहां की बुद्धिमानी है? कर्म-फल की आशा रखने पर यही होता है कि कर्म किया, किन्तु उसके करने पर फल की प्राप्ति न होने से मन मे क्षुब्धता, निराशा और कभी कभी तो क्रोध का भी जन्म हो जाता है। और उसके परिणाम स्वरूप हमे जो उत्तम लाभ मिलना होता है, वह न मिलकर अप्रिय एव निकृष्ट फल मिलने लग जाता है।

आज का मानव सदा असतुष्ट और दुखी देखा जाता है। इसका कारण यही है कि उसकी निगाह अपने कर्म के फल की ओर लगी रहती है। उसकी आशा, ध्येय एव साध्य सभी कुछ फल ही होता है। फल के लिये ही वह कार्य करता है और फल के लिए ही जीता है। इस पकार फलाशा ही उसके जीवन मे मुख्य होती है और उसके प्राप्त न होने पर वह दुखी होता है। इसलिये गीता मे कहा गया है—

तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष ॥

—फल की इच्छा छोडकर निरन्तर कर्तव्यकर्म करो। जो फल की अभिलाषा छोडकर कर्म करते हैं उन्हें अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

"फलासक्ति छोडकर कर्म करो," "आशारहित होकर कर्म करो," 'निष्काम होकर कर्म करो'' यह गीता की वह ध्वनि है जो कभी भुलायी नही जा सकती।

कर्म मे फलाशा आसक्ति का कारण होती है। जब तक व्यक्ति को यह आशा लगी रहेगी कि अमुक कार्य से उसे यह लाभ होगा तब तक उसकी आसक्ति उसमें बनी रहेगी। उदाहरण स्वरूप एक माली अपने बगीचे की सार-सम्हाल करता है, दिन-रात उसमे परिश्रम करता है पर वह यह फिक्र नही करता है कि उसके बगीचे के वृक्षो मे फल और फूल लगा रहे हैं या नही। पर वही माली अगर वृक्षो मे फलो की आशा करने लग जाता है तो वह आसक्ति कहलाती है। ऐसी आसक्ति ही बन्धन का कारण होती है।

आप अपनी सतान का पालन-पोषण करते हैं, उन्हे पढाते-लिखाते हैं और ब्याह-शादी आदि अपने सभी कर्तव्यो को पूरा करते हैं। किन्तु आप यह आशा रखते हैं कि हमारे पुत्र वृद्धावस्था मे हमारी सेवा करेगे। बस यह सेवा कराने की इच्छा ही फलाशा है। इसी के कारण आपकी बच्चो मे आसक्ति होती है। अगर आप सेवा कराने की आशा छोड देंगे तो आपकी आसक्ति भी छूट जायगी और पुत्र-पौत्रो का बन्धन आपको बाँधेगा नही।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति अगर अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है तो वह निरन्तर कर्म-रत रहे। कर्म से पीछे नही हटे और उसके फल की आकाक्षा भी नही रखे। प्रत्येक कर्म वह अपना कर्तव्य समझ कर करे, स्वार्थ के वशीभूत होकर नही। जिन्होने गीता को पढा है, वे जानते है कि जब अर्जुन ने अपने विपक्ष मे अपने ही समस्त बन्धु-बान्धनो को देखा तो वह अत्यन्त दुखी होकर श्री कृष्ण से बोले—"अपने ही परिजनो की हत्या करके राज्य-सुख भोगने की अपेक्षा तो भिक्षा मांगकर जीवन बिता लिया जाना अधिक अच्छा है।"

इस प्रकार अर्जुन एक तरह से सन्यास लेने को ही तैयार हो गये। किन्तु उस अवसर पर कृष्ण ने उन्हें यही कहा—"तुम्हारा अधिकार केवल कर्म मे है उसके फल मे नही। तुम समत्व भाव से कर्म किये जाओ, यही सत्पुरुष का लक्षण हैं।" गीता की इस वाणी के पीछे महान रहस्य छिपा हुआ है और जो इसकी गहराई मे उतर जाता है वह अपने जीवन को निश्चय ही सार्थक कर सकता है। अत जीवन को सार्थक बनाने वाला सर्वप्रथम गुण सदैव कर्म-रत अथवा कर्तव्य-रत रहना है। ऐसा निरासक्त व्यक्ति कभी भी मोह,ममता और आसक्ति के वश मे होकर सन्मार्ग से च्युत नही होता।

कवि का कहना यही है कि अपने गन्तव्य की ओर दृढ विश्वास के साथ चलने वाला व्यक्ति अपने आत्मिक बल पर एव अपने इष्ट पर इतना भरोसा रखता है कि भयानक से भयानक सकट और मृत्यु तक की परवाह न करता हुआ बढता चला जाता है। न वह किसी उपसर्ग से डरता है और न ही किसी प्रलोभन मे उलझता है। उसकी दृष्टि केवल अपने लक्ष्य की ओर होती है और उसमे वह अपने आत्म-विश्वास को ही सहायक मानता है।

मत्री कौन चुना गया ?

एक लघु कथा है। किसी विशाल साम्राज्य के राजा को एक मत्री की आवश्यकता पडी। उसने अपने राज्य के अनेक बुद्धिमान व्यक्तियो को बुलाया तथा उनकी परीक्षा ली।

कई प्रकार से परीक्षा लेने के पश्चात् राजा ने तीन योग्य व्यक्तियो को छाटा और उनमे से भी सर्वश्रेष्ठ एव बुद्धिमान व्यक्ति को मत्रिपद के लिये चुनने का निश्चय किया। इस अन्तिम चुनाव के लिये भी उसने पुन॰ एक परीक्षा लेने का विचार किया। इस परीक्षा के लिये राजा ने जाहिर किया कि तीनो परीक्षार्थियो को अगले दिन एक कमरे मे बद कर दिया जाएगा और उसमे ऐसा अद्भुत ताला होगा जो अन्दर से ही खुल सकेगा पर चाबी से नही वरन गणित-विधि से खुलेगा।

मत्रिपद के उम्मीदवार तीनो व्यक्तियो ने भी इस बात को सुना और उसके परिणामस्वरूप दो तो महान् चिन्ता मे पड गए और रातभर तालो के विषय मे लिखे गए विविध ग्रन्थो को पढते रहे और गणित के नियमो को याद रखने के लिये माथा-पच्ची करते रहे। सपूर्ण रात्रि के जागरण से और मानसिक परिश्रम से उनका दिमाग थक गया, आँखे सूज आई और चेहरा निस्तेज दिखाई देने लगा।

पर तीसरा व्यक्ति इस बात से पूर्णतया लापरवाह था कि कल ताला कैसे खोला जाएगा। वह रात्रि को पूर्ण शाति से सोया और प्रात काल नित्य-कर्मों से निपटकर अपने अन्य दोनो साथियो के साथ राजदरबार की ओर रवाना हो गया।

जैसा कि राजा ने सूचित किया था, उन तीनो मत्रिपद के उम्मीदवार व्यक्तियो को राज-भवन के एक विशाल कमरे मे बद कर दिया गया। उसके द्वार पर वास्तव मे ही ऐसा विचित्र ताला लगा हुआ था जिस पर गणित के कई अक और आडी-टेढी कुछ रेखाएं थी, जिन्हे देखकर ही ऐसा लगता था कि यह ताला खोलना बडा कठिन कार्य है। ताला बद करके उन तीनो को यह कह दिया गया कि जो

व्यक्ति इस कमरे के ताले को खोलकर सबसे पहले बाहर आ जाएगा, उसे ही राज्य का मत्री बनाया जाएगा ।

इस घोषणा के परिणामस्वरूप रात्रि को पूर्ण जागरण करके नाना पुस्तको को पढने वाले दोनो व्यक्ति पुन ताले पर दिये हुये अको का अनुसधान करने के लिये अपनी-अपनी पुस्तके खोलकर बैठ गए और बडी तेजी से पन्ने पर पन्ने उलटने लगे किन्तु उस ताले को खोलने की समस्या उनसे हल नही हो पाई और वे चिन्ता के सागर मे गोते लगाते हुए कार्य मे जुटे रहे ।

किन्तु रात भर आनन्द से सोने वाला व्यक्ति कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा, उसने ताले पर अकित गणित के अको को भी नही देखा । कुछ समय पश्चात् पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उठा और शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे कदम बढाता हुआ ताले के पास आया । उसने ताले पर हाथ रखा और उसे थोडा घुमाया-फिराया । उसी समय बडे आश्चर्य से उसने देखा कि ताला खुल गया था ।

वास्तव मे बात यह थी कि ताला बद नही था, खुला ही था । राजा ने ताले के विषय मे जो जाहिर किया था वह केवल यह देखने के लिये कि किस व्यक्ति मे दृढ आत्मविश्वास है । जिसमे आत्मविश्वास होता है वह किसी भी कठिन परिस्थिति मे घबराता नही । राज्य का मत्री भी ऐसा ही होना चाहिये था जो राज्य पर कैसा भी सकट क्यो न आ जाए तनिक भी विचलित न हो और प्रत्येक समस्या का धैर्य-पूर्वक समाधान खोज निकाले ।

इसीलिये तीसरे व्यक्ति के आते ही राजा ने उसका सहर्ष स्वागत किया और उसे अपना मत्री बनाया ।

उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मविश्वास एक महान पूजी है जिसके द्वारा व्यक्ति कठिन से कठिन समस्या का हल भी आसानी से खोज लेता है । आत्म-विश्वास शारीरिक बल की भी अपेक्षा नही रखता । प्राय देखा जाता है कि मोटा-ताजा स्वस्थ व्यक्ति भी आत्मविश्वास के अभाव मे अपने किसी भी काय को सम्पन्न नही कर पाता और कोई दुबला-पतला दो पसली का व्यक्ति अपने विश्वास के बल पर मजिल पा लेता है । गाधीजी शारीरिक शक्ति के धनी नही थे किन्तु उनके हृदय मे दृढ मनोबल था और उसी के कारण उन्होने करोडो व्यक्तियो को अपने नेतृत्व में चलाया और हिन्दुस्तान को परतन्त्रता की बेडियों से मुक्त कराकर ही दम लिया ।

साराश यही है कि सफलता के साधनो मे आत्मविश्वास का एक बडा महत्व-पूण स्थान है और उसके अभाव मे किसी भी उद्देश्य को पूण नही किया जा सकता ।

स्वावलम्बी होना

जीवन को सफल बनाने मे स्वावलम्बन तीसरा एव अनिवार्य साधन है। जो व्यक्ति अपने बुद्धिबल, मनोबल अथवा शारीरिक बल पर भरोसा न करके दूसरो का मु ह जोहता है अर्थात् दूसरो पर निर्भर रहता है, उसे पग-पग पर तो कठिनाइयों का सामना करना पडता है और अन्त मे असफलता ही हाथ लगती है।

स्वावलम्बन व्यक्ति के हृदय मे आत्मविश्वास बढाता है, स्फूर्ति प्रदान करता है, उसे कर्मठ बनाता है तथा उसमे शक्ति का सचार करता है। और इसके विपरीत परावलम्बन मनुष्य को अकर्मण्य, डरपोक, प्रमादी तथा कायर बना देता है।

सत तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
देखहु कर विचार मन माहीं॥

आशय यही है कि औरो के सहारे की आकाक्षा रखने वाले व्यक्ति की जाग्रत अवस्था का तो कहना ही क्या है, उसे स्वप्न मे भी सुख की प्राप्ति नही होती। क्योकि जिस प्रकार खभे के जरा से जीर्ण होते ही, अथवा उसके हिलते ही छत का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। उसी प्रकार व्यक्ति जिस पर अवलम्बित होता है, अर्थात् जिसके भरोसे पर रहता, अगर वह व्यक्ति अपने वचन से जरा भी हट जाय तो आश्रित व्यक्ति का जीवन डांवाडोल हो उठता है तथा उसका अस्तित्व खतरे मे पड जाता है।

जिस व्यक्ति मे स्वावलम्बन नही होता उसमे स्वाभिमान भी नही रह पाता। स्वावलम्बी पुरुष ही अपने गौरव को अक्षुण्ण रख सकता है तथा अपने बल-बूते पर प्रत्येक साध्य की सिद्धि कर सकता। वह न किसी अन्य व्यक्ति के भरोसे रहता है और न ही देव-देव पुकार कर स्वय को अकर्मण्य बनाता है। कहा भी है—

मूढ़ै प्रकल्पित दैव तत्परास्ते क्षय गताः।
प्राज्ञस्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमता गता॥

अर्थात्—दैव मूर्ख लोगो की कल्पना है। इसके भरोसे रहकर वे नाश को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान लोग पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति कर लेते हैं।

तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को पुरुषार्थी होना चाहिए। जो पुरुषार्थ मे विश्वास रखता है, वह कभी पराधीन होना पसद नही करता। अपने पुरुषार्थ अथवा स्वावलम्बन से जो कार्य सम्पादित होता है उसमे एक विशेष प्रकार के सुख और

सतोष का अनुभव होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति को अपने पूर्वजो के धन का उपभोग करने की अपेक्षा स्वय अपने पुरुषार्थ और श्रम से उपार्जित धन का भोग करने मे आनन्द और गौरव का अनुभव होता है।

इसीलिये बुद्धिमान व्यक्ति कभी देव के या औरो के भरोसे पर नही रहता तथा कार्य सम्पन्न न होने पर भी भाग्य को दोष देता हुआ कातर नही होता। भाग्य के भरोसे पर बैठे रहने वालो को तथा अन्य व्यक्तियो का सहारा ताकने वाले व्यक्तियो को सदा असफलता की प्राप्ति होती है और समम-समय पर रोना पडता है अत ऐसे व्यक्तियो के लिये किसी कवि ने कहा है—

हिम्मत न वीर खो, दिलगीर तू न हो,
तदबीर भी तो कर कुछ तकदीर को न रो।
गैरों को क्या तकता है, क्या कर नही सकता है,
तू शक्ति-पुज होकर मत दीन मित्र हो।

कवि का कथन है—'मित्र ! तू हिम्मत खोकर दिलगीर मत बन तथा तकदीर को रोने की बजाय कुछ तदबीर कर।

भला तू परायों के भरोसे पर क्यो रहता है ? तेरी आत्मा मे तो शक्ति का असीम भडार निहित है अत उसे पहचान और दीन-हीन बनकर किसी से सहायता की याचना मत कर। तू क्या नही कर सकता ? सभी कुछ कर सकता है।

कवि का आशय यही है कि प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे अनत शक्ति छिपी हुई है और सासारिक सफलता की तो बात ही क्या है, वह चाहे तो अपनी आत्म-शक्ति के बल पर सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके अपनी आत्मा को परमात्मा भी बना सकता है।

स्वावलम्बन मनुष्य के मन मे दृढ सकल्प पैदा करता है। इसका कारण यही है कि औरो के द्वारा प्राप्त सहायता तो मिले या न मिले व्यक्ति को अधिक खुशी या अधिक दुख नही होता। किन्तु अपने श्रम का फल अगर उसे न मिले तो वह अधिक सतप्त होता है तथा दुगुने उत्साह से उसे प्राप्त करने मे जुट जाता है।

भगवान बुद्ध के विषय मे एक लघुकथा बर्मी साहित्य मे प्रसिद्ध है कि एक बार वे बोधि की खोज मे भटकते-भटकते उसे प्राप्त न कर पाने के कारण अत्यन्त निराश हो गये। गहरी निराशा के परिणाम स्वरूप उन्होंने कपिलवस्तु के राजमहल मे पुन लौटने का निश्चय कर लिया।

लौटते हुए मार्ग मे एक झील आई और वे कुछ काल वहाँ विश्राम करने के

लिये ठहरे। वहाँ पर उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पडी जो कि बार-बार पानी के समीप जाकर उसमे अपनी पूछ डुबोती थी और फिर किनारे पर आकर रेत मे उसे झटक देती थी।

बुद्ध को गिलहरी का यह कृत्य बडा आश्चर्यजनक लगा। उन्होंने पूछ लिया "यह क्या कर रही हो तुम ?"

गिलहरी बडे गर्व से बोली— 'इस झील को सुखा रही हूँ।"

"ओह ! यह काम तो तुम हजार वर्ष तक जी कर और प्रतिपल अपनी पूँछ जल मे डुबोकर झटकते रहने पर भी सम्पन्न नही कर सकोगी। भला यह झील भी तुम्हारी पूँछ से सुखाई जा सकती है ?"

"मैं किसी कार्य को असभव नही मानती अत जब तक जीऊँगी यही करती रहूगी।" गिलहरी ने सक्षिप्त उत्तर दिया और अपने काम मे लग गई।

गिलहरी की बात से बुद्ध के हृदय मे उजाला हो गया और उन्होने निराशा का त्याग करते-हुए दृढ सकल्प किया—

जनन-मरणयोरदृष्टपारो, नाह कपिलाह्वय प्रवेष्टा।

अर्थात्—जब तक बोधि प्राप्त करके जन्म-मरण का पार न देख लूँ, मैं भी कपिलवस्तु मे प्रवेश नही करूँगा।

बधुओ, यह एक रूपक है पर इस बात को प्रकट करता है कि स्वावलम्बी पुरुप ही दृढ सकल्पी बनकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार बुद्ध ने अपनी निराशा का त्याग करके दृढ सकल्प किया तथा तप मे लीन होकर बोधिलाभ करके ही दम लिया।

स्वाध्याय करना

अब हम जीवन को सफल बनाने के चौथे सूत्र स्वाध्याय को लेते हैं। स्वाध्याय मनुष्य को केवल मनुष्य हो नही बनाता, अपितु उसे महात्मा और परमात्मा भी बनाता है। अगर हम ससार के महान् पुरुषो की जीवनियाँ उलट कर देखें तो सहज ही जान सकते हैं कि उन पुरुषो को महान बनाने मे स्वाध्याय का हाथ ही अधिक रहा है। कहा भी है —

यथा यथा हि पुरुष. शास्त्र समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञान चास्य रोचते॥

जय गुरुनानो

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विशेष अध्ययन करता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढता है और विज्ञान उज्ज्वल होता है।

महर्षि पातन्जलि ने अष्टाग योग मे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये जहाँ अन्य साधनो का वर्णन किया है वहाँ स्वाध्याय को भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होने कहा है कि स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य न केवल अपने को, अपने सबधित समाज को ही जान सकता है और उसका सुधार कर सकता है, अपितु वह परमतत्त्व भी प्राप्त कर सकता है।

वृहत्‌कल्पभाष्य मे कहा गया है—

न वि अत्थि न्ं वि अ होही, सज्झाय सम तवोकम्म।

—स्वाध्याय के समान दूसरा तप न कभी अतीत मे हुआ है, न वर्तमान मे कही है और न भविष्य मे कभी होगा।

इस प्रकार हमारे यहाँ स्वाध्याय को महान्‌ तप माना गया है। इससे ज्ञान को आच्छादन करने वाले कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मा मे रहे हुए सम्यक्‌ ज्ञान के प्रकाश मे प्राणी मुक्ति के सही मार्ग पर चल सकता है। सद्‌ग्रन्थ अथवा धर्मशास्त्र इस लोक मे चिन्तामणि रत्न के समान हैं। जिनके पठन-पाठन या स्वाध्याय से मन की समस्त दुश्चिन्ताएँ मिट जाती हैं, सशय के भूत भाग जाते हैं और सद्‌भाव जागृत होकर आत्मा को परम शाति प्रदान करते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कहा है—

सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्ख विमोक्खणे।

अर्थात्—स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुखो से मुक्ति मिल जाती है।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपना मनुष्यजन्म सार्थक करने के लिये सद्‌ग्रन्थो का स्वाध्याय करना अनिवार्य कृत्य समझना चाहिये। स्वाध्याय की जितनी भी प्रशसा की जाय, कम है। यह मस्तिष्क की खुराक है। शरीर को स्वच्छ रखने के लिये हम जिस प्रकार पौष्टिक पदार्थ खाते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क एव मन को श्रेष्ठ एव सुन्दर विचारो से परिपूर्ण बनाने के लिये स्वाध्याय रूपी पौष्टिक खुराक भी आवश्यक है। स्वाध्याय के अभाव मे मानसिक एव आत्मिक सभी शक्तियाँ दवी रह जाती हैं और उनके विद्यमान होते हुए भी हम उनका लाभ नही उठा पाते। स्वाध्याय के अभाव मे हम हेय, ज्ञेय और उपादेय के अन्तर को नही जान सकते और उसके न जानने से हमे कर्तव्य एव अकर्तव्य का बोध भी नही हो सकता। और स्पष्ट है कि जब तक हमे

यह बोध नही होगा हम सही मार्ग पर चलेंगे भी कैसे ? अत स्वाध्याय की आदत प्रत्येक मनुष्य की होनी चाहिये ताकि वह अपने जीवन को सर्वश्रेष्ठ तरीके से बिताता हुआ आत्म-कल्याण करने मे समर्थ बन सके ।

बधुओ, आशा है कि आप कर्म-रत रहना, आत्म-विश्वास रखना, स्वावलबी बनना एव स्वाध्याय करना, इन चारो महत्वपूर्ण बातो के विषय मे जान गए होंगे। ये चारो ही सूत्र मनुष्य के जीवन को सफल बनाने मे पूर्णतया सहायक बनते हैं। अगर आप इन्हे जीवन मे उतारेंगे तो निश्चय ही इस लोक और परलोक मे सुखी ब सकेंगे ।

९ | चिन्तन का महत्त्व

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज हमे यह देखना है कि चिन्तन का जीवन पर कैसा प्रभाव पडता है। किस प्रकार के चिन्तन से समय का सदुपयोग होता है और किस प्रकार के चिन्तन से समय का दुरुपयोग ?

आप जानते ही हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क कभी भी निष्क्रिय नही रहता। प्रतिपल वह कुछ न कुछ विचार करता रहता है और कोई न कोई मसूवा बाँधा करता है। किन्तु कैसे विचारो का जीवन पर सुप्रभाव पडता है तथा कैसे विचारो का कुप्रभाव, यही विचारणीय है।

चिन्तन के कारण

मनुष्य के जीवन का अधिकाश समय चिन्तन मे जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि वह अपने जीवन का सभवत नब्बे प्रतिशत समय चिन्तन मे गुजारता है और दस प्रतिशत कर्म करने मे। वैसे तो कर्म करते समय भी उसका चित्त चिन्तन से रहित नही होता। चिन्तन के मुख्य तीन कारण कहे जा सकते हैं—प्रथम तो भूतकालीन घटनाओं के विषय मे चिन्तन करना दूसरे वर्तमान काल के विषय मे सकल्प-विकल्प करना तीसरे भविष्य की कल्पनाओ के ताने बाने बुनना।

इन तीनो मे से पहला चिन्तन जो भूतकाल को लेकर मनुष्य करता रहता है, वह सम्पूर्ण समय उसका व्यर्थ चला जाता है। क्योकि बीती हुई बातो पर चिन्तन करना या विगत भूलो के लिये पश्चात्ताप करते रहना समय का दुरुपयोग करना तो है ही साथ ही वर्तमान और भविष्य के लिये हानिकारक भी है। बीता हुआ बीत चुकने

के कारण पुनः वापिस तो आता नही उलटे उसके लिये पश्चात्ताप करने, चिन्ता करने और कुढने से शरीर क्षीण होता है। भूतकाल से केवल यही शिक्षा ली जा सकती है कि की हुई गलतियो और भूलो को जीवन मे पुन. न होने दिया जाय। यह संकल्प ही मनुष्य को अपने जीवन मे सफल बना सकता है। एक कहावत भी है— गई सो गई अब राख रही को।'

आशय इसका यही लिया जा सकता है कि जितनी जिन्दगी व्यर्थ चली गई सो तो चली ही गई। उसके लिये पश्चात्ताप मत करो, वरन जो बची हुई है उसे सार्थक बनाने का प्रयत्न करो।

जो व्यक्ति इस बात की गाठ बांध लेता है वह निश्चय ही अपने वर्तमान और भविष्य को सुधार सकता है। प्राय हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति अपना शैशव तो खेल-खूद मे समाप्त करते ही हैं, युवावस्था को भी विषय-भोगो मे बिताकर फिर जीवन के अन्तिम समय या कि वृद्धावस्था में घोर पश्चात्ताप करते हैं। वे सोचते हैं -

बालवय खेल माही खोय के जवान भयो,
काम, क्रोध छायो घट, भूल्यो जिनराज ने।
वृद्धवय आइ तब हुवो है निर्बलतन,
घेर लियो सास खांस, छोड़ी सब लाज ने।।

अर्थात्— वाल्यावस्था तो मैंने खेल-कूद कर गंवादी और जवानी मे विषय-भोग तथा राग-द्वेष के वश मे रहकर भगवान को भुला रहा। और अब तो ऐसी वृद्धावस्था आ गई है कि शरीर पूर्णतया क्षीण हो गया है और श्वास, खाँसी आदि बीमारियो ने इसे घेर लिया है। अत अब मैं क्या करूँ। मेरा जीवन ही निरर्थक चला गया।

इस प्रकार पश्चात्ताप करने वाले व्यक्तियो के लिये ही कहा जाता है कि जो बीत गई वह तो गई ही पर अब जितनी बची है उसी को सार्थक करने का प्रयत्न करो। बीते हुए वक्त के लिये दु ख, चिन्ता या पश्चाताप करके जो बचा हुआ जीवन है उसे भी निरथक मत गँवाओ।

कहने का आशय यही है कि भूतकालीन घटनाओ के और बीते हुए जीवन के विषय मे चिन्तन करके अपने समय को बरबाद नही करना चाहिये। भूतकाल के विषय मे चिन्तन करना, अपने मन मे कूडे-करकट को जमा रखने के समान है। जमा हुआ कचरा जिस प्रकार घर को श्रीहीन और दुर्गन्धमय बनाए रखता है, उसी

प्रकार पहले की गलतियाँ और भूलें जब तक स्मरण की जाती हैं और उन पर चिन्तन किया जाता है तब तक वे चित्त को बोझिल और अशुद्ध बनाये रखती हैं अत प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिये कि उन सबको अपने विश्वासी व्यक्ति अथवा गुरु के समक्ष सरलता और सत्यतापूर्वक निकाल देना चाहिये। ऐसा करने पर ही चित्त शुद्ध हो सकेगा तथा उन पर पुन पुन चिन्तन करके समय को निरर्थक करने की आवश्यकता नही पडेगी।

चिन्तन का एक कारण भविष्य के विषय मे सोचना भी है। लोग दिन-रात अपने भविष्य के सपने सजोया करते हैं। न जाने कितने पाप करके धन इकट्ठा करते हैं कि भविष्य मे उससे सुख हासिल हो। धन किस प्रकार अधिक से अधिक इकट्ठा हो उसके विषय मे ही वे अहर्निश सोचते हैं, चिन्तन करते हैं। इसके अलावा अपने पुत्र-पौत्रो के लिये भी अठारहो पापों का सेवन करते हुए अनेकानेक कर्मो का बधन तो करते ही हैं साथ ही भविष्य के सुनहरे सपने देखने मे भी अपने जीवन का बहुमूल्य समय निरर्थक गँवा देते हैं।

ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि जीवन अमर नही है और कभी भी समाप्त हो सकता है। बैठे-बैठे हास-परिहास मे निमग्न व्यक्ति हृदय का स्पन्दन रुकते ही क्षण मात्र मे लुढक जाता है। आज तो वह नाना मनोरथो का सेवन करता है, अगणित व्यवस्थाओ के विषय मे चिन्तन करता है कि कल यह करेंगे, महीने भर बाद वह और साल भर बाद कुछ और किन्तु पल भर मे ही वह समस्त सकल्पों से निवृत्त होकर चिर निद्रा मे सो जाता है। कहा भी है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस के पल की खबर नहीं॥

अभिप्राय यही है कि मनुष्य भविष्य के लिये कल्पनायें करता है, कामनाओ के अगणित महल बनाता है और मर-मर कर धन इकट्ठा करता है, किन्तु उस धन को भोगने से पूर्व ही और समस्त कल्पनाओ के सत्य होने से पहले ही इस लोक से प्रयाण कर जाता है। जीवन का किंचित् मात्र भी भरोसा नही किया जा सकता। काल का आगमन होने पर ससार की कोई भी शक्ति और कोई भी डॉक्टर-वैद्य मनुष्य को उसके चगुल से नही छुडा सकता।

इसीलिये भविष्य के लिये चिन्तन करना और उसके लिये विभिन्न पदार्थों का सचय करना वृथा है। ऐसा करना समय को व्यर्थ बरबाद करना है। आशा है अब आप समझ गये होगे कि भूतकाल के लिये पश्चात्ताप करना और भविष्य के लिये आशायें बांधना, दोनो ही मानव के लिय समय का दुरुपयोग करना है।

वर्तमान का सदुपयोग

हमारे आज के विषय के अनुसार हमे यह देखना है कि चिन्तन का जीवन पर क्या प्रभाव पडता है और किस प्रकार के चिन्तन से समय का सदुपयोग होता है।

मनुष्य को सर्व प्रथम यह चाहिये कि वह भूतकाल के लिये अफसोस करना और भविष्य के लिये सपने देखना छोडकर केवल अपने वर्तमान के लिये चिन्तन करे और उसे ही सफल बनाने का प्रयत्न करे।

मनुष्य का वर्तमान तभी सफल हो सकता है जबकि वह अपने जीवन के बीतते हुए प्रत्येक क्षण को सुन्दर बनाने का निश्चय कर ले। उसका मन सदैव इस चिन्तन मे रहे कि वह किस प्रकार प्रत्येक पल को दूषित विचारों से तथा दूषित कर्मों से बचाये रख सकता है। दूषित विचार ही दुष्कर्मों को करने मे प्रेरणादायक बनते हैं। इसलिये चिन्तन करते समय कुविचारो को पास भी नही फटकने देना चाहिये अगर कुविचार दिल और दिमाग मे घर कर गए तो मानव का चिंतन कु-कर्मों के लिये हो जाएगा और उसी के अनुरूप वह कार्य करने लगेगा।

मनुष्य के लिये चिन्तन करने का सर्वोत्तम विषय यही होना चाहिये कि वह मानव-जन्म प्राप्त करके किस प्रकार अधिक से अधिक पाप-कर्मों का क्षय करे और पुण्य कर्मों का सचय कर सके। उसे सदा यही विचार करना चाहिये कि यह मनुष्य जन्म अनन्तानन्त पुण्यों के योग से और अनन्त काल तक नाना योनियो मे परिभ्रमण करते हुए महान् दु खो को भोगने के पश्चात् मिला है। और अगर यह व्यर्थ चला गया तो फिर न जाने कब और कितना काल व्यतीत होने पर पुन. मिल सकेगा।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि मानव-जीवन की सार्थकता किसमे है और मनुष्य का क्या उद्देश्य होना चाहिये ?

जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे लोगो के विभिन्न दृष्टिकोण होते हैं। जो पुद्गलानन्दी और आत्म-तत्त्व के भान से रहित होते हैं वे परलोक नही मानते तथा वर्तमान जीवन के साथ ही आत्मा का अन्त समझते हैं। ऐसे व्यक्ति केवल यही चिन्तन करते हैं कि जितना शारीरिक सुख, आनन्द और मौज करना है इसी जीवन मे कर लो चाहे ऋण के भार से दब जाओ पर ऋण लेकर ही घी पिओ। उनका यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—

ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।

पर ऐसा मानने वाले घोर अधेरे मे रहते हैं और वे केवल अपने इस जन्म को ही नही अपितु आने वाले अनेक जन्मो को भी बिगाड लेते हैं।

इनके अलावा कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अच्छे कार्यों को करके प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने मे तथा कीर्ति कमा लेने मे जीवन की सफलता मानते हैं। कहा भी है —

चल वित्त चल चित्त, चले जीवित यौवने।
चलाचलमिद सर्वं, कीर्तिर्यस्य स जीवति ॥

अर्थात्- धन नश्वर है चित्त अस्थिर है जीवन और यौवन क्षणभगुर हैं। इतना ही नही, यह सपूर्ण सृष्टि ही अध्रुव है। केवल इस अशाश्वत ससार मे जिसकी कीर्ति जीवित है वह मनुष्य जीवित है।

सस्कृत के इस कवि ने जीवन की सफलता के विपय मे जो बताया है वह भी गलत नही है किन्तु मान-प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति प्राप्त कर लेना ही जीवन का उद्देश्य मान लेना और उसे ही जीवन की सफलता समझ लेना काफी नही है। हमारा जैनधर्म तो पुकार-पुकार कर यही कहता है कि मानव जीवन का उच्चतम उद्देश्य अखड और अक्षय शाति तथा अनन्त और अव्यावाध सुख की प्राप्ति करना ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिये। इसी प्राप्ति के लिये उसका चिन्तन-मनन, साधना, पुरुपार्थ और प्रयत्न आदि सभी कुछ होने चाहिये। जो भी भव्य प्राणी उस अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये जुट जायेगा, कीर्ति तो स्वय उसके चरण चूमेगी और उसके चाहे बिना भी उसका वरण कर लेगी। कीर्ति तो घास-फूस के समान है। आप जानते हैं कि कोई भी किसान अपने खेत मे घास उगाना नही चाहता। वह अनाज के लिये बीज वोता है और उसी को पाने के लिये दिन-रात परिश्रम करता है। वह जानता है कि मुझे अनाज प्राप्त करना है और अगर वह मुझे मिल जाता है तो घास तो उसमे से स्वय ही निकल आएगा।

कीर्ति की इच्छा मत करो

यही हाल कीर्ति का भी है। जो व्यक्ति अपने पापो का क्षय करके अपनी आत्मा को ससार-मुक्त करना चाहता है उसे कीर्ति के लिये परिश्रम करने की आवश्यकता नही होती। वह तो स्वय ही उसे मिल जाती है। वह लोगो के द्वारा वाह-वाही प्राप्त करने की अपेक्षा नही रखता। क्योंकि उस वाह-वाही के द्वारा उसकी आत्मा का कल्याण नही होता। सिकन्दर ने तलवार के वल पर वडे भारी साम्राज्य को जीता। उसकी कीर्ति अवश्य जीवित है पर उससे उसकी आत्मा को क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नही। इसी प्रकार वडे-वडे कवि और विद्वान अपनी कीर्ति तो इस लोक मे छोड गये किन्तु उसी को अपना लक्ष्य वना लेने के कारण अपनी आत्मा का कल्याण नही कर सके।

किन्तु जो महामानव, वीतराग-तीर्थंकर आदि अपनी आत्मा को कर्ममुक्त करने का प्रयत्न करते रहे वे मुक्ति के अधिकारी तो बने ही साथ ही अपनी कीर्ति को भी सदा के लिये अमर कर गए। इसीलिये हमारे शास्त्र कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन एव सम्यक् चारित्र की आराधना करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहिये अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिये। आत्मा को अपने निज स्वरूप मे लाने के लिये ही व्यक्ति का समस्त प्रयत्न एव चिन्तन-मनन होना चाहिये। ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकता है।

सस्कृत के एक कवि ने भी कहा है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो, दिव्यस्वरूपो बहुनामरूप.।
तप समाधौ कलितो न येन, वृथा गत तस्य नरस्य जीवितम् ॥

अर्थात् - जिस मनुष्य ने तपस्या करके और समाधिभाव धारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय रूप को नही समझा। जिसने अपने उपयोगमय चेतन स्वरूप को नही पहचाना और अपने समस्त पर्यायो से अतीत दिव्यस्वरूप को नहीं जाना तथा उसे प्राप्त करने की चेष्टा नही की, उसकी जिन्दगी निरर्थक ही चली गई।

कवि का कथन पूर्णतया सत्य है। समस्त आस्तिकशास्त्र एकमत से इस बात को कहते हैं कि मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य और उसकी पूर्ण सार्थकता केवल इसी बात मे है कि मानव अपने सम्पूर्ण प्रयत्न अखड और अक्षय शाति तथा अनन्त एव अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिये करे। उसका सम्पूर्ण चिन्तन एव पुरुषार्थ आत्म-शुद्धि के लिये ही हो।

चिन्तन का प्रभाव

चिन्तन का जीवन पर बडा जबदस्त प्रभाव पडता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जैसा चिन्तन होता है वैसा ही जीवन बनता है। चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति हमेशा और हर समय करता ही रहता है किन्तु उसे चिन्तन के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसका चिन्तन शुभ हो। अगर चिन्तन अशुभ होगा तो उसकी समस्त क्रियायें पाप-पूर्ण होगी और जीवन दोषो से परिपूर्ण बन जाएगा।

प्रश्न हो सकता है कि अशुभचिन्तन किसे कहा जा सकता है और शुभ किसे ?

थोडे शब्दो मे इसका उत्तर यही है कि इहलौकिक सुख, समृद्धि एव यश-

कीर्ति आदि की प्राप्ति के लिये विचार करना, योजनाएँ बनाना और मसूवे बाधना अशुभ चिन्तन है। क्योकि इस प्रकार की समस्त उपलब्धियाँ प्रथम तो क्षणभगुर है, दूसरे विभिन्न पापो के द्वारा प्राप्त होने वाली हैं। तो जिन सिद्धियो के लिये नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक पाप किये जायें वे सिद्धियाँ अथवा उपलब्धियाँ आत्मा को अक्षय सुख की प्राप्ति कैसे करा सकती हैं ? उलटे वे आत्मा को पाप-कर्मों के बधनो से जकड देती हैं और फिर आत्मा अनन्त काल तक उनसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाती। अत धन, वैभव, पुत्र, पौत्र, ख्याति एव प्रतिष्ठा आदि के लिये निरतर सोचना-विचारना अशुभ चितन कहा जाता है।

आप जानते ही हैं कि धन इकट्ठा करने के लिये व्यक्ति अनेक प्रकार की बेईमानियाँ करता, झूठ बोलता है और अनीतिपूर्ण कार्य करने मे जरा भी सकोच नही करता। इसी प्रकार ख्यातिलाभ के लिये अथवा वाह-वाही प्राप्त करने के लिये वह औरो से ईर्ष्या, द्वेष और जलन रखता हुआ उन्हें हीन साबित करने का प्रयत्न करता है। अपने आपको ऊँचा साबित करने की भावना ही क्रोध, कपट और द्वेषादि का कारण बनती है जिससे कर्मों का बधन होता है और यह सब अशुभ चिन्तन के कारण घटता है।

इसके विपरीत शुभचिन्तन जीवन को त्याग और निरासक्ति के मार्ग पर बढाकर उन्नत बनाता है। शुभ चिन्तन मानव के मस्तिष्क और मन मे यह विश्वास जमा देता है कि धन, वैभव, सतान, मान, मर्यादा आदि समस्त सासारिक उपलब्धिया अशाश्वत हैं और एक दिन इनका वियोग होना है। शुभ चिन्तन मनुष्य को यह भी प्रेरणा देता है कि उन उपलब्धियो के इसके पूर्व कि वे उन्हे छोडे अगर वह स्वय उन्हें छोड देता है तो उत्तम है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

त्याग करता हूँ !

एक जाट का विवाह किसी सुन्दर लडकी से हुआ। किन्तु विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उसे मालूम हो गया कि उसकी पत्नी का शरीर जितना सुन्दर है, मन उतना ही असुन्दर है। अर्थात् वह सच्चरित्र नही, वरन दुश्चरित्र है। यह मालूम होते ही अगले दिन प्रात काल जबकि उसकी स्त्री पानी भरने के लिये कुए पर गई हुई थी, वह बाहर चबूतरे पर ही एक लाठी लेकर बैठ गया और ज्योंही पत्नी पानी भरकर लौटी जाट ने लाठी के प्रहार से उसके मस्तक पर रखे हुए घडे को फोड दिया और गालियाँ देने लगा। शोरगुल सुनकर मुहल्ले के लोग इकट्ठे हो गए और झगडे का कारण पूछने लगे।

जाट ने कहा—"यह स्त्री दुश्चरित्र है अत मेरे कुल और वश के लायक नहीं। मैं इसका त्याग करता हूँ।"

जाटनी ने जब यह सुना तो यह कह कर रवाना हो गई—"मैं तो स्वय ही तुम्हारे पास रहना नही चाहती थी।"

लोगो ने जब यह सब समझा तो जाट की सूझ-बूझ और उसकी अपने कुल की प्रतिष्ठा के प्रति सजगता की भावना की सराहना करने लगे। किसी-किसी ने तो यह भी कहा—"तुमने बडा अच्छा किया जो इसके भाग जाने से पहले ही इसका त्याग कर दिया। अन्यथा न जाने यह तुम्हारा कितना धन-पैसा और चुराकर ले जाती।"

बधुओ! जाट की कथा साधारण है किन्तु इससे बडी महत्वपूर्ण शिक्षा ली जा सकती है। संसार की धन दौलत एव भोगोपभोग की सामग्रियाँ उस जाटनी के समान ही चचल एव अस्थिर हैं जिन पर भरोसा नही किया जा सकता। यानी आज जिसके पास हैं वे कल किसी और के पास भी चली जा सकती हैं। अत जो चिन्तनशील और मनस्वी हैं वे उन सबको उनके जाने से पूर्व स्वयं ही त्याग देते हैं। एक बात और ध्यान मे देने की है कि जाटनी के लिये जिस प्रकार लोगो ने सभावना व्यक्त की थी कि अगर वह जाट के यहाँ अधिक समय ठहरती तो कुछ न कुछ चुराकर ले ही जाती।

यही हाल सासारिक उपलब्धियो का है। वे जितने अधिक काल तक मनुष्य के पास रहती हैं, उतनी ही आसक्ति की मात्रा मानव के मन मे बढती है और वह आसक्ति धीरे-धीरे मनुष्य के सद्गुणो को तथा सद्विचारो का नष्ट करती रहती है, दूसरे शब्दों मे लूटती रहती है। तत्पश्चात् अशुभ कर्मों का सयोग मिलते ही वे उपलब्धियाँ किसी और के पास चल देती हैं किन्तु अपने जाने के साथ-साथ वे मानव के सद्गुणो को और जैसा कि अभी मैंने बताया है, सद्विचारो को भी अपने साथ ले जाती हैं। मनुष्य उनके लिये हाय-हाय करता रह जाता है और आसक्ति जनित कर्मबधनों को भुगतने के लिए केवल उसी जन्म मे नही अपितु अनेक जन्मो तक के लिए बाध्य हो जाता है।

इसलिए विवेकी एव ज्ञानी पुरुष सासारिक उपलब्धियो को उनके त्याग जाने से पूर्व ही स्वय उन्हे त्याग देते हैं। अपनी सम्पूर्ण आसक्ति एव ममता को नष्ट कर देते हैं। वे सदा यही चिन्तन करते हैं कि "ससार के समस्त सबध और सम्पूर्ण पदार्थ नश्वर हैं। केवल आत्मा ही अनश्वर है। वे यह भी सोचते हैं कि सासारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख शाश्वत नही सुखाभास मात्र है। सच्चा सुख तो कर्मों से मुक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर लेने मे है।

जो मुमुक्षु मनुष्य सदा इस प्रकार का शुभ चिन्तन करते हैं, वे शनै शनै अपनी इन्द्रियो पर और मन पर काबू करने मे समर्थ बन जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका चित्त समाधि भाव धारण कर लेता है। वह न किसी पर राग रखता है और न किसी पर द्वेष। न वह इष्ट-सयोग मिलने पर सुख का अनुभव करता है और न अनिष्ट सयोग मिलने पर दुख का। इस प्रकार समभाव धारण करने वाला साधक ही अपने कर्मों का नाश करके शाश्वत सुख की प्राप्ति करता है। कहा भी है—

किं तिव्वेण तवेण, किं जवेण किं चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कह वि न हु होई॥

—सामायिक प्रवचन

अर्थात्—कोई चाहे कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेष धारण कर स्थूल क्रियाकाण्डरूप चारित्र पाले, परन्तु समताभावरूप सामायिक के विना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।

तो बधुओ! समभाव आत्म-साधना का बडा महत्त्वपूर्ण अग है और वह गभीर तथा शुभ चिन्तन-मनन से ही प्राप्त हो सकता है। अत प्रत्येक साधक को ही नही अपितु प्रत्येक मनस्वी को जीवन मे जितना सभव हो उतना समय शुभ चिन्तन मे लगाना चाहिए। शुभ चिन्तन के द्वारा ही वह अपने मानव जन्म के सर्वोच्च लक्ष्य-मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

१० | चिन्तामणि रत्न-चरित्र

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज हमे यह देखना है कि चरित्र का निर्माण किस प्रकार होता है ? मानव के जीवन को उसका चरित्र ही सुन्दर या असुन्दर बनाता है। अगर उसका चरित्र उत्तम और सद्गुणो से युक्त है तो वह सच्चरित्र कहलाएगा तथा अवगुणों से पूर्ण चरित्र के होने पर दुश्चरित्र कहलाने लगेगा। सक्षेप मे चरित्र ही मनुष्य को सज्जन अथवा दुर्जन बनाता है।

अगर हम विश्व के महापुरुषो की जीवनियाँ उठाकर देखे तो सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उनकी महानता की आधारशिला उनका चरित्र ही रहा है। भले ही उनका पार्थिव शरीर इस ससार मे नही रहा किन्तु चारित्रिक प्रतिभा सदैव के लिये लोगो का मार्ग-दर्शक बन गई है। चरित्रवान् पुरुष के जीवन मे ऐसी आकर्षण शक्ति होती है जो कि अन्य अनेकानेक व्यक्तियो के जीवन की उलटी धारा को भी सही दिशा मे प्रवाहित कर देती है। अत कोई भी व्यक्ति अगर अपने जीवन को उन्नत बनाता है और अपनी आत्मा को शुद्धि की ओर ले जाना चाहता है तो उसे प्रतिपल, और प्रतिकदम पर अपने आचरण का ध्यान रखना पड़ेगा। ऐसा करने पर ही वह स्वय मानव-जन्म के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढेगा तथा अन्य प्राणियों को भी कुपथ से सत्पथ पर ला सकेगा।

एक पाश्चात्य दार्शनिक 'बर्टल' ने कहा भी है —

'Character is a diamond that scratches every other stones'

—चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है।

(महात्मा गाधी ने भी एक स्थान पर लिखा है— चरित्र रूपी सम्पत्ति दुनिया की तमाम दौलतो से बढ़कर है।') इस तथ्यपूर्ण कथन पर हम गहराई से विचार करें तो वास्तव मे ही सच्चाई के समीप पहुच सकते हैं। चरित्र की महानता का वर्णन शब्दो से नही किया जा सकता और इसीलिये केवल यही कहा जाता है कि अगर घन चला जाए तो समझो कुछ नही गया है, स्वास्थ्य चला जाय तो समझो कुछ हानि हुई है, पर यदि चरित्र चला जाय तो समझो कि सर्वस्व ही लुट गया है।

चरित्र निर्माण कैसे हो ?

अनेक व्यक्ति आचरण का सवध केवल शारीरिक क्रियाओ से ही मानते हैं। वे समझते हैं कि शरीर से पापपूण क्रियाये न करके सेवा, परोपकार, दान, एव ईश्वर की पूजा अर्चना आदि कर लेना ही सदाचरण है। पर यह वात पूर्णतया सत्य नही है। यद्यपि ये सब कार्य भी चरित्र के अग हैं किन्तु उसे पूणता प्रदान नही कर सकते। चरित्र-निर्माण के लिये तो मानव को मनसा, वाचा एव कर्मणा प्रयत्न-शील बनना चाहिये।

वैसे तो मन वचन एव कर्म, ये तीनो ही मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक शुभ और अशुभ कार्य के लिए जिम्मेदार होते हैं। किन्तु इन तीनों मे से भी अधिक शक्तिशाली है मन।

किसी सस्कृत के विद्वान का कथन है—

> मनसैव कृत पाप न वाण्या न कर्मणा।
> येनैवालिगिता कान्ता तेनैवालिगिता सुता॥

अर्थात—मन के भाव से ही पाप माना जाता है, वचन या कर्म से नही। पत्नी और पुत्री के आलिगन मे भाव की ही भिन्नता है।

कहने का आशय यही है कि सच्चरित्रता की कु जी वास्तव मे मन है। अत मन मे कभी कुविचारो को पनपने नही देना चाहिये। अगर मन मे बुरे विचार आते हैं तो वचन और शरीर को भी वे गलत दिशा मे प्रवृत्त कर देते हैं। दूसरे शब्दो मे इन्द्रियाँ मन के द्वारा ही चलाई जाती हैं, वे मन की चेरी हैं। इसलिये चरित्र-निर्माण के इच्छुक व्यक्ति को अपना मनोयोग सतुलित करना चाहिये।

दूसरा है वचनयोग। वचनयोग यानी वाणी। यह भी चरित्र-निर्माण मे सहायक बनती है। वाणी का महत्त्व भी कम नही है। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

गैर अपने होगे शीरीं हो गर अपनी जबा।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी जबां ॥

अगर व्यक्ति मृदुभाषी है तो पराये व्यक्ति भी उसके अपने यानी मित्र बन जाते हैं और अगर उसकी वाणी मे कटुता है तो उसके दोस्त भी दुश्मन हो जाते हैं।

वस्तुत वाणी मे बडी शक्ति है और वह मानव के चरित्र-निर्माण मे बडा भाग लेती है। वाणी के लिये तो यहाँ तक कहा जाता है कि यदि बारह वर्ष तक कोई व्यक्ति सत्य बोले तो उसे वाक्-सिद्धि हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कह देता है वह हो जाता है। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक मानव को अपनी वाणी पर पूर्ण अधिकार रखना चाहिए तथा निरर्थक प्रलाप, कटूक्ति अथवा असत्य भाषण से अपने आप को बचाना चाहिये। सच्चरित्रता के लिये वाणी पर अकुश होना नितात आवश्यक है। *एक विद्वान 'साइरस' ने अपने अनुभवो का वर्णन करते हुए कहा* था—"मुझे कभी इसका खेद नही हुआ कि मैं मौन क्यो रहा किन्तु इसका खेद अनेको बार हुआ है कि मैं बोल क्यो पडा।" ऐसे कथनो से स्पष्ट होता है कि महा पुरुष अपनी वाणी को पूर्णतया अपने वश मे रखने का प्रयत्न करते हैं और इसीलिये उनका चरित्र सच्चरित्र कहलाता हुआ लोगों के लिये अनुकरणीय बनता है।

चरित्र को बनाने वाला तीसरा योग कर्म है। इसके विषय मे तो अधिक कहने की आवश्यकता नही है, क्योकि सभी जानते हैं बुरे कामो का नतीजा बुरा ही होता है। मनुष्य की महानता इसी मे है कि वह अपना बुरा करने वाले का भी भला करे। ईट का जवाब पत्थर से देने मे कोई बहादुरी नही है, बहादुरी इसी में है कि व्यक्ति किसी के द्वारा किये गए अहित को भी भूल जाय, समभाव से उसे सहन करे और बदले मे उसका हित करे। ऐसा करने पर ही वह नवीन कर्मों के बधन से बचता है तथा पूर्व कर्म क्षीण होते हैं।

'सूत्रकृताग' मे कहा गया है—

तुट्टंति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ।

—जो नए कर्मों का बधन नही करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

इसीलिये विवेकी पुरुष भूतकाल की चिंता न करते हुए, और भविष्य का विश्वास न रखते हुए अपने वर्तमान को ही सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं और वह प्रयत्न है फलासक्ति की आशा से रहित निष्काम कर्म करना।

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

कर्मायत्त फल पुसा बुद्धि कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधियश्चार्या सुविचार्येव कुर्वते ॥

अर्थात्—फल मनुष्य के कर्म के अधीन है, बुद्धि कर्म के अनुसार आगे बढने वाली है, तथापि विद्वान् और महात्मा पुरुष भली-भाति विचार कर ही कोई कर्म करते हैं।

इस प्रकार महापुरुष मन, वचन एव कर्म इन तीनो को साधकर पापो से बचते हैं और जब ये तीनो योग उनके वश मे रहते है तो स्वत ही उनका चरित्र दृढ़ बन जाता है। चरित्रवान् पुरुषो की सबसे बडी विशेषता तो यह है कि वे कभी औरो के दोष नही देखते अपितु सदा अपनी कमियो को ढूढने का प्रयत्न करते हैं और उनके निवारण की कोशिश करते हैं।

महात्मा कबीर के शब्दो मे वे यही अनुभव करते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ॥

ऐसे पर-गुण एव स्व-दोषदर्शी महामानव ही आत्म-मुक्ति के पथ पर स्वय अग्रसर होते हैं, औरो के लिये मार्गदर्शक बनते हैं तथा अपने उत्तम चरित्र को आदर्श के रूप मे ससार के समक्ष सदा के लिये छोड जाते हैं। ऐसे भव्य जन विश्व के समस्त प्राणियो को चाहे वह मनुष्य हो, पशु-पक्षी या छोटे से छोटा कीट-पतग हो, सभी को प्यार करते हैं तथा बदले मे उनका प्यार प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, वे सासारिक प्राणियो का स्नेह तो प्राप्त करते ही हैं, ईश्वर के भी प्रिय बन जाते हैं। कवि सुन्दरदास जी ने अपने एक भजन मे भी यही कहा है—

ऐसो जन रामजी को भावे हो।
कनक कामिनी परिहरै नहिं आप बधावे हो।

यानी प्रभु को भी ऐसे व्यक्ति ही प्रिय लगते हैं जो सोना-चाँदी, धन-वैभव, पत्नी तथा पुत्रादि के प्रति तनिक भी मोह, ममता या आसक्ति नही रखते। अपने परिवार के प्रति रहे हुए ममत्व को वे विश्व के समस्त प्राणियो में बांट देते हैं। धन-दौलत का त्याग करके फकीरी धारण कर लेते हैं और इस प्रकार स्वय किसी के बन्धन मे न बँधते हुए सर्वस्व का त्याग करके निरासक्त भाव धारण कर लेते हैं। आगे कहा है—

सब ही तें निरवैरता काहू न दुखावै हो।
शीतल वाणी बोल के अमृत बरसावै हो ॥

चरित्रवान् सत्पुरुष कभी स्वप्न मे भी किसी का दिल नहीं दुखाते अत किसी का उनके प्रति भी वैर-भाव नही रहता। वे सदा अपनी मधुर वाणी से दुखी एव सतप्त प्राणियो के हृदयो पर स्नेह एव सहानुभूति का मरहम रखते हैं। वे कभी भी पापमय, कर्कश और पीडाजनक भाषा का प्रयोग नहीं करते वरन् भली-भांति समझ-बूझकर हित, मित, सत्य और पथ्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं। वे प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रखते हैं—

> **जिह्वाया खण्डन नास्ति, तालुको नैव भिद्यते।**
> **अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ?**

कहते हैं कि मधुर भाषण करने से जिह्वा कटती नहीं तालु भी नही भिदता और कोमल शब्दो की कमी भी नही है, विशाल भडार भरा हुआ है। फिर मधुर शब्द बोलने मे दरिद्रता क्यो दिखाई जाय ?

इस प्रकार सज्जन पुरुष कभी किसी को रचमात्र भी दुख नही पहुचाते, उलटे अपने मधुर एव अमृतमय शब्दो से दुखी प्राणियो को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। उनके विषय मे आगे कहा है—

> **कै तो मुनि होय रहै कै हरि गुण गावै हो।**
> **भरम-कथा ससार की सब दूर भगावै हो॥**

कहा गया है कि या तो वे अपना सब कुछ त्यागकर मुनि बन जाते हैं और वन मे जाकर तपादि साधना करते हैं। पर अगर यह सभव नही होता तो घर मे रहकर भी निरासक्त भाव से सासारिक कर्तव्यो को पूरा करते हुए भगवान के भजन मे निमग्न रहते हैं। सासारिक छल-प्रपच से वे दूर रहते हैं तथा विकथा का सर्वथा त्याग करके आत्माभिमुख होने का प्रयत्न करते हैं।

आगे कहा है—

> **पांचू इन्द्री बस करै, मन ही मन लावै हो।**
> **काम क्रोध मद लोभ को, खिण खोद बधावै हो॥**

साधु पुरुष अपनी पाचो इन्द्रियो पर और मन पर पूर्ण अकुश रखते हैं तथा क्रोध, मान, माया एव लोभादि कषायो को तथा काम वासनाओ को जड मूल से उखाड कर फेंक देते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास होता है कि इन सब विकारो के रहते हुए सच्चा सुख जो कि आत्मोत्पन्न होता है, कभी हासिल नहीं हो सकता। जब तक मन मे विषय-विकार बने रहते हैं तब तक वह ससार के बाह्य पदार्थों से सुख-प्राप्ति की कामना करता है और उन कामनाओ के विद्यमान रहने पर मन मे विरक्ति जाग्रत

नही होती। भोग और योग दोनो एक दूसरे से पूर्णतया विपरीत होते हैं। एक पूर्व है और दूसरा पश्चिम। अत स्पष्ट है कि दोनो का कभी और कही भी मेल नही हो सकता। इसलिये साधु पुरुष जो मुक्ति के इच्छुक होते हैं, वे ससार के प्रति आसक्ति नही रखते। उनका हृदय समभाव से परिपूर्ण होता है। न किसी के प्रति उनका विशेष राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष। दुश्मनो के प्रति भी वे दया भाव रखते हैं तथा उनकी कल्याण-कामना करते हैं। एक उदाहरण है।

नाव नहीं, बुद्धि उलटो!

प्रसंग। एक बार एक सन्त अनेक यात्रियो के साथ किसी नदी को पार करने के लिये नाव मे बैठे। नाव नदी के वक्ष को चीरती हुई ज्योही आगे बढी, कुछ दुष्ट व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से अश्लील मजाकें और गदी-गदी असभ्यतापूर्ण बातें करने लगे। यह देखकर सत ने उन व्यक्तियो को समझाते हुए कहा—"भाइयो! चार व्यक्तियो के बीच मे बैठकर इस प्रकार की बातें नही करनी चाहिये। वार्तालाप ही करना है तो अच्छी बातें करो। देखो! तुम्हारी इन घृणित बातो को सुनकर नाव पर बैठे हुए अन्य समस्त व्यक्ति भी शर्मिन्दगी महसूस कर रहे हैं।

किन्तु सत की नसीहत का प्रभाव उलटा हुआ और वे व्यक्ति आगबबूला हो गए। क्रोध मे आकर उन लोगो ने सत को गालियाँ देना प्रारम्भ कर दिया और उससे भी सतोष न हुआ तो घूसो से, लातो से और जूतो से प्रहार करने लगे। किसी ने ठीक ही कहा है—

शिक्षा वाको दीजिये, जाको सीख सोहाय।
सीख न दीजे बांदरा, आपन हानि कराय॥

तो सत को भी दुष्ट व्यक्तियो को सीख देने के परिणामस्वरूप मार खानी पड गई। किन्तु उन्होंने रचमात्र भी विरोध नही किया और ध्यानस्थ होकर बैठ गए।

उसी समय आकाशवाणी हुई—"भंते! आप कहे तो इसी क्षण इन दुष्टो को इनकी करतूतो का फल चखाने के लिये नाव को उलट दू।"

आकाशवाणी सुनते ही नाव पर बैठे हुए समस्त यात्री कांप उठे और वे दुष्ट सत के पैरो पर गिर कर अपने अपराधो के लिये क्षमा मांगने लगे।

आकाशवाणी पुन हुई—"महात्मन्! बताइये क्या इन नीच व्यक्तियो को नसीहत देने के लिये नाव को उलट दिया जाय?"

आकाशवाणी सुनकर सत ने अपना ध्यान समाप्त किया और आँखें खोलकर ऊपर की ओर दृष्टि करके बोले—"नही, नाव को उलटने से क्या लाभ होगा? व्यर्थ ही अनेक जानें जायेंगी। हाँ, अगर उलटना ही है तो इन सब व्यक्तियों की बुद्धि को उलट दो।"

ऐसा होता है सत पुरुषो का चारित्र। वे न क्रोध को अपने हृदय मे स्थान देते हैं और न बदले की भावना को। अपने अपकारी का भी वे उपकार करते हैं। पर यह शक्ति उन्हे तभी प्राप्त होती है जबकि वे मन और इन्द्रियो पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं।

आगे कहा गया है—

चौथे पद को चीह्न के वहाँ जाय समावै हो।
सुदर ऐसे साधु के ढिग काल न आवे हो॥

चारित्र बल के धनी साधु पुरुषो के लिये अन्त मे कवि सुन्दरदास जी ने कहा है कि उनके समक्ष काल भी आने से हिचकिचाता है और दूर ही रहता है। इनका अभिप्राय यह नही है कि वे इस ससार मे मानव देह के साथ ही सदा जीवित रहते हैं, उनका आशय यह है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चरित्र की आराधना करने वाले साधक इस नश्वर देह का त्याग करके भी ससार मे अपनी कीर्ति के द्वारा अमर रहते हैं और जन्म-मरण के दुखो से सर्वदा के लिये मुक्त होकर काल को पराजित कर देते हैं।

यह प्रभाव चारित्र का ही होता है। चारित्र के अभाव मे श्रद्धा और ज्ञान भी फलदायक नही बन पाते। ज्ञान और दर्शन का प्रयोग चारित्र के रूप मे महापुरुष करते है। चारित्र ही इन दोनो की सच्ची कसौटी भी कहा जा सकता है क्योंकि चारित्र की उच्चता के द्वारा ही इनकी सही परख होती है। चारित्र की उच्चता जीवन को सफल बनाती है और इसकी निकृष्टता जीवन को असफल। चारित्र को दृढ़ और उच्च बनाने मे यद्यपि व्यक्ति को अनेक कष्ट उठाने पडते हैं, किन्तु जिस प्रकार सोना तपाये जाने पर शुद्ध, निर्मल और चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष महान कष्ट सह लेने के बाद चारित्रवान और प्रतिभावान बनता है।

चारित्रवान बनना सरल नही अपितु अत्यन्त कठिन है। अनेक व्यक्ति महा विद्वान होते हैं। न जाने कितनी पुस्तकें उन्हें कठस्थ होती हैं और कितनी ही भाषाओ के वे अधिकारी होते हैं। फिर भी यह आवश्यक नही है कि चरित्रवान भी होते हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि बडे-बडे ज्ञानी और विद्वान भी चारित्र की दृष्टि से तो शून्य होते हैं।

ऐसे व्यक्तियो के लिये एक स्थान पर महात्मा गांधी ने कहा है—

"सच्चरित्रता के अभाव मे केवल बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है।"

किसी कवि ने कहा है—

मतिमान् हुए, धृतिमान हुए, गुणवान् हुए बहु खा गुरु लातें,
इतिहास भूगोल खगोल पढ़े नित गान रसायन मे कटीं रातें।
रस पिंगल भूषण भावभरी गुण सीख गुणी कविता करी बातें,
यदि मित्र, चरित्र न चारु हुआ धिक्कार है सब चतुराई की बातें॥

बंधुओ ! आप समझ गए होगे कि सदाचार के अभाव मे जिस प्रकार धन-सम्पत्ति का कोई मूल्य नही है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान का भी कोई महत्व नही है।

यद्यपि विश्व के सभी सम्प्रदाय, पथ, मत और धर्म वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिये ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं किन्तु उस ज्ञान का फल चरित्र है, और अगर ज्ञान से चरित्र की प्राप्ति न हो तो वह सर्वथा निरर्थक है। ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपने उत्तम चरित्र के द्वारा ही अपनी आत्मा को उन्नत बना सके हैं तथा कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर ससार से छुटकारा प्राप्त कर सके हैं। इसीलिये कवि ने कहा है कि कोई व्यक्ति इतिहास, भूगोल, खगोल, न्याय आदि सभी कुछ रात-रात भर जागकर पढ ले और उनमे पारगत होकर बृहस्पति का अवतार बन जाए, रस, अलकार एव छन्दो का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके बडी सुन्दर और भावभरी कविताएँ भी लिखें, किन्तु अगर उसका चरित्र दृढ और उत्तम नही है तो उसका सम्पूर्ण ज्ञान और चतुराई व्यर्थ है।

जिस प्रकार औषधि शरीर की व्याधियो को नष्ट करती है, उसी प्रकार सदाचार आत्मा के रोगो को नष्ट करके उसे शुद्ध बनाता है। इसीलिये हमारे शास्त्रो मे आचरण अथवा चरित्र की महिमा मुक्तकठ से गाई गई है।

'सूयगडाग सूत्र' में कहा गया है—

अभविसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवति सुव्वया।
एयाइ गुणाइ आहुते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥

अर्थात्—जो जिनेश्वर पहले हो चुके हैं वे सब सुव्रती यानी सदाचारी थे और जो भविष्य मे होंगे वे भी चरित्र के बल पर जिनेश्वर होंगे। जिनेश्वर सद्गुणों का उपदेश देते रहे, क्योंकि वे काश्यप भगवान महावीर स्वामी के धर्म का आचरण करते थे।

स्पष्ट है कि निर्मल और दृढ चरित्र के अभाव मे ज्ञान का होना भी न होने के समान है। कहा भी है—'ज्ञान भार क्रिया विना' क्रिया के अभाव मे ज्ञान केवल बोझ है। जिस प्रकार फल न देने वाला वृक्ष लाभहीन साबित होता है, उसी प्रकार चरित्र रूपी फल न देने वाला यानी चरित्र का विकास और पोषण न करने वाला ज्ञान भी अर्थहीन माना जाता है। ज्ञान की सार्थकता चरित्र की प्राप्ति मे ही है और सच्चा ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान से अपने चरित्र को दृढ एव शुद्ध बनाता है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान को आचरण मे न उतारकर भी यह समझ लेता है कि ज्ञान से हमे कर्मों से मुक्ति मिल जाएगी और हमारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा, वह भ्रम मे रहता है। जबकि उसका ज्ञान उसे किसी भी उत्तम फल की प्राप्ति नही करा पाता।

इसलिये बन्धुओ, हमे ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही साथ चरित्र की प्राप्ति भी करनी चाहिए और इसके लिये मन, वचन तथा कर्म, इन तीनो पर पूर्ण अकुश रखते हुए अपने जीवन के प्रत्येक कार्य को निर्दोष बनाना चाहिये। हमे अपने जीवन की छोटी से छोटी क्रिया की भी उपेक्षा नही करनी चाहिये क्योंकि उन सभी के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। बालू के एक-एक कण से पर्वत का निर्माण होता है और एक-एक क्षण से युग निर्मित हो जाते हैं। इसी प्रकार छोटी-छोटी बातों से ही चरित्र बनता है। चरित्र का क्षेत्र बडा व्यापक है। वह जहाँ व्यक्ति के लिये कल्याणकर है, वहाँ समाज, जाति और देश को भी गौरवान्वित करने वाला है। सदाचार के सिद्धान्त प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समाज के लिये लागू होते हैं। भले ही कोई व्यक्ति शिक्षक हो, कोई सैनिक हो, कोई व्यापारी हो या कोई सरकारी पदाधिकारी अथवा डॉक्टर-वैद्य हो, सभी के लिये सदाचार की मर्यादाएँ हैं और उन्हें अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार उनका पालन करना चाहिये। अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार कर्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति निश्चय ही सदाचारी कहलाता है। गृहस्थ अपने जीवन को मर्यादा मे रखता है तो वह चरित्रवान है और साधु अगर अपनी

मर्यादाओं का पालन करता हैं तो वह भी आचरणशील माना जाता है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि आत्म-मुक्ति पूर्ण चरित्र का पालन करने पर ही हो सकती है किन्तु गृहस्थ भी सदाचार का पालन करके सत्पथगामी कहलाता है।

इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने चरित्र के प्रतिपल सजग रहना चाहिये तथा चरित्र-निर्माण को जीवन का लक्ष्य बनाकर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना चाहिये। तभी उसे इहलोक और परलोक मे भी सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

●●

११ | आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज हम आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ पर विचार करेंगे तथा देखेंगे कि आत्मा किस प्रकार परमात्मा बनती है ।

विश्व के अनेक ईश्वरवादी दर्शन यह कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा मौलिक रूप मे पृथक्-पृथक् हैं । परमात्मा अनादिकाल से परमात्मा है, वह कभी दोपयुक्त था ही नही अत उसे परमात्मा बनने के लिये कुछ भी साधना नही करनी पडी । वह परमात्मा एक ही है क्योंकि कोई भी आत्मा कितनी भी साधना करे वह परमात्मपद को प्राप्त नही करती । परमात्मा तो अद्वितीय और नित्यमुक्त है तथा सृष्टि का विधाता है । उनका कथन है कि आत्मा साधना करने पर मुक्तात्मा तो बन सकती है किन्तु परमात्मा कभी नही बनती ।

यह तो हुआ अन्य अनेक दर्शनो का मत, किन्तु हमारे जैनदर्शन की मान्यता ऐसी नही है । यह परमात्मा के अनादित्व को नही मानता वरन कहता है कि कोई भी आत्मा बिना प्रयास और साधना के विशुद्ध नही हो सकती और जब तक वह शुद्ध नही होती परमात्म-दशा मे नही पहुँच सकती । आत्मा और परमात्मा मे मौलिक भेद मानना ठीक नही है क्योकि पदार्थों में भेद उनके गुणो की विभिन्नता से माना जाता है और इस आधार पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि ईश्वर और आत्मा के गुण सर्वथा भिन्न नही हैं । जिस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूपवाला है उसी प्रकार आत्मा भी है । ईश्वर मे पाये जाने वाले सत्, चित् और आनन्द ये तीनों गुण अगर आत्मा मे न होते तो दोनों मे भेद माना जा सकता था किन्तु आत्मा में भी ये तीनो विद्यमान हैं अत आत्मा और परमात्मा को अथवा

आत्मा और ईश्वर को भिन्न-भिन्न नही कहा जा सकता। हाँ, भिन्नता अगर है तो वह तरतमता की अवश्य है। ईश्वर अथवा परमात्मा की चेतना सर्वोत्कृष्ट कोटि की है और उसका विकास चरम सीमा तक का है तथा आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त आनन्द स्वभाव वाली होने पर भी कर्मों के सयोग से वोझिल और उनके द्वारा आच्छादित रहती है। पर ज्यो-ज्यो उसके कर्मों का क्षय होता जाता है वह अपने वास्तविक और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती जाती है तथा कर्मों के पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर परमात्मदशा को प्राप्त करतीं है।

आत्मा की अवस्थाएं

हमारे शास्त्रो मे तरतमता की दृष्टि से आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं—पहली वहिरात्मा, दूसरी अन्तरात्मा और तीसरी परमात्मा। कहा भी है—

वहिरातम, अन्तर्आतम परमातम, जीव त्रिधा है।

—छहढाला

अर्थात् जीव तीन प्रकार के हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

(१) **वहिरात्मा**—वहिरात्मा आत्मा की पूर्णतया अविकसित अवस्था होती है। इस अवस्था मे वह कषायो से युक्त रहती है तथा वाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व भाव रखती हुई जड-चेतनादि के विवेक से शून्य होती है। वहिरात्मा या वहिरग आत्मा को मलिन करने के छ कारण वतलाए गए हैं। वे हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेष। इन छ कारणो का जैनशास्त्रो मे तो उल्लेख है ही, जैनेतर ग्रन्थ भी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और अहकार इन छ कारणो से आत्मा का दोषयुक्त होना वताते हैं। इस प्रकार जैन और जैनेतर दर्शनो की मान्यता लगभग समान ही है।

आशय कहने का यही है कि इन्ही कारणो से आत्मा दूषित होती है और इनके द्वारा वँधने वाले कर्मों के वशीभूत होकर जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति, इन चारो मे भ्रमण करता रहता है। भले ही आत्मा नरकगति मे जाए अथवा देवगति मे, उसके लिये श्रेयस्कर कोई भी नही है। क्योकि जन्म प्राप्त करने पर उसके परिणाम रोग, शोक दु ख, अप्रिय सयोग-वियोग एव मृत्यु आदि सभी दु ख—कष्ट जीव को भुगतने पडते हैं।

वहिरग जीव की दृष्टि सदा वाह्य जगत् की ओर रहती है। उसका ध्यान वाहरी जगत् मे केन्द्रित रहता है, भविष्य मे क्या होगा इसका भान उसे नहीं रहता।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि की महाराज ने ऐसे बहिरात्मा के विषय में कहा है—

> करत जगत धध अंध के समान सुख,
> ऐश मे भुलायो मन त्रास नहीं काल की।
> उडी उडी नींव देइ चुणावे आवास जाली,
> झरोखा अटारी चित्र शोभा सुरसाल की॥
> मात तात नारी सुत, मोह मे बधाय रह्यो,
> तृष्णा अधिक चित्त करे धन माल की।
> अमीरिख कहे घट रोके जब मौत आय,
> जावे सब छोड़ बाँध पोट पाप जाल की॥

कवि श्री ने बहिरग जीवात्मा के विषय मे बताया है कि ऐसा व्यक्ति अधे के समान आगे की बात न सोचते हुए दिनरात जगत के धधो मे उलझा रहता है तथा काल का भय न मानते हुए सासारिक भोग-विलासो मे डूबा रहता है। जाली-झरोखो सहित बडी-बडी हवेलियाँ गहरी-गहरी नीवें खुदवाकर बनवाता है, जैसे वह सदा ही उनमे रहा करेगा। इतना ही नही वह अपने माता, पिता, पुत्र एव पत्नी आदि के ममत्व मे ग्रस्त रहकर बेईमानी एव अनीति से धन इकट्ठा करता है तथा अहर्निशि तृष्णा मे पडा रहकर धनमाल की बढोतरी एव सुरक्षा मे लगा रहता है। किन्तु इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन हाय-हाय मे बिताकर भी वह कभी चैन नही पाता और काल का बुलावा आते ही केवल अपने पापो की पोटली अपने हाथ लेकर अकेला ही यहाँ से चल देता है।

आशय यही है कि बहिरात्मा के अन्तर मे भोगो की तृष्णा रूपी आग सदा धधकती रहती है और वह अप्रिय के सयोग से और प्रिय के वियोग से व्याकुल तथा अशात बना रहता है। उर्दू के एक कवि ने कहा भी है—

> जब तक इसी सागर से तू मखमूर है।
> जौक से जामे बका के दूर है॥

अर्थात् जब तक तू सासारिक पदार्थों के मद मे उन्मत्त है, तब तक परम शान्ति के आनन्द दूर ही रहेगा।

पर बधुओ, यद्यपि बहिरग आत्मा कषाय एव राग द्वेषादि के कारण मलिन होती है, किन्तु ऐसी बात भी नही है कि वह कभी शुद्ध नही हो ही सकती। सद्-गुरुओ का उपदेश मिलने पर तथा शास्त्रो के द्वारा भगवान के आदेशो पर विश्वास

एव श्रद्धा सहित आचरण करने पर वह धीरे-धीरे अपने शुद्ध रूप मे आने लगती है। सद्‌गुरु की या सच्चे सन्तो की सगति बुरे से बुरे और क्रूर व्यक्तियों के हृदयो को भी वदल देती है। तथा व्यक्ति उनके प्रभाव से आत्मोन्नति के सही मार्ग को अपना लेता है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

पुस्तक एक राजा सदा अपने गुरु के समीप उनके दर्शनार्थ जाया करता था। एक दिन उसके मन मे इच्छा हुई कि मेरे गुरु राजमहल मे पधार कर उसे पवित्र वनाएँ।

अपने मन की इच्छा व्यक्त करते हुए राजा ने कहा—"गुरुदेव, आज कृपा करके मेरे राजमहल को अपने चरणो से पवित्र कीजिये।"

संत बोले—राजन्! मैं चल तो सकता हू पर वहाँ की दुर्गन्ध मुझसे नही सही जाती।"

राजा के नेत्र आश्चर्य से फैल गये। उसी स्थिति मे वह बोला—"भगवन्! आप कैसी बात कर रहे हैं। मेरे भवन मे तो सदा इत्र से सुवासित जल छिडका जाता है। वहाँ दुर्गन्ध कैसी?"

महात्मा जी गभीरतापूर्वक बोले—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान मैं कुछ समय बाद करूँगा। पहले तुम मेरे साथ हरिजनो की वस्ती मे चलो। वहाँ कुछ रुग्ण व्यक्ति हैं, जिन्हे दवा देने का वक्त हो गया है। मैं ही उन्हे दवा दिया करता हूँ।"

राजा इस आशा से सत के साथ चल दिया कि हरिजनो की वस्ती के कामो से निवृत्त होकर गुरुदेव मेरे साथ राजमहल की ओर चलेंगे।

महात्माजी राजा को लेकर शहर से वाहर की ओर चल दिये। कुछ दूर जाने पर चमारों की बस्ती आई। चमारो के झोपडो मे कही चमडा कमाया जा रहा था, कही सुखाया जा रहा था और इस प्रकार का कार्य जगह-जगह चालू रहने के कारण चारो ओर वडी दुर्गन्ध फैल रही थी।

वेचारा राजा जो कि सुगन्धित वातावरण मे रहा करता था, किस प्रकार उस दुर्गन्ध को वर्दाश्त करता। थोडी देर तक तो नाक पर रुमाल दवाये रहा पर अन्त मे घवराकर वोला—"भगवन्! शीघ्र यहाँ से चलिये। इस दुर्गन्ध के मारे मुझसे तो खडा भी नही रहा जाता।"

सत हँस दिये और वोले—'वाह, यहाँ इतने लोग रात-दिन रहते हैं पर सभी खुश हैं। कोई भी तो दुर्गन्ध की शिकायत नहीं करता। फिर तुम्हीं इतने परेशान क्यो हो रहे हो?"

राजा ने उत्तर दिया—"गुरुदेव ! ये लोग तो चमडा तैयार करते-करते इसकी दुर्गन्ध के आदी हो गए हैं । पर मुझे कहाँ इसका अभ्यास है ? मैं तो इसे सहन नही कर सकता ।"

राजा की बात सुनकर महात्मा जी मुस्कराये और बोले—"राजा ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस प्रकार चमार चमडे की दुर्गन्ध मे सतत रहने के कारण उसका अनुभव नही करते, उसी प्रकार तुम भी रात-दिन विषय-भोगो मे लिप्त रहने के कारण उनमे से उठने वाली दुर्गन्ध का अनुभव नही करते । किन्तु मैं भोगो की दुर्गन्ध मे रहने का अभ्यासी नही हू अत मुझे राजमहल मे उनकी दुर्गन्ध आती है और इसलिये मुझे वहाँ जाने की इच्छा नही होती ।"

महात्मा जी की बात सुनते ही राजा की आँखें खुल गई और उसी क्षण से उसका चित्त भोग-विलास से विमुख हो गया ।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सतो की सगति करने से बहिरग आत्मा पर अवश्य ही प्रभाव पडता है और वह कभी न कभी जागृत हुए बिना नही रहती ।

अन्तरात्मा—अभी मैंने आपको बताया था कि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एवं द्वेषादि मे रमण करनेवाली आत्मा बहिरात्मा कहलाती है । बहिरात्मा अपने स्वरूप ज्ञान से सर्वथा शून्य रहती है तथा बाह्य पदार्थों के प्रति आत्मभाव रखती है । किन्तु जब उसे सद्गुरु का सयोग या सतो की सगति प्राप्त होती है तो वह राग-द्वेषादि से विमुख होकर सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एव सम्यक् चारित्र मे रमण करने लगती है । उसे यह विश्वास हो जाता है कि—"मैं चिदानन्दमय हू । इस ससार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न हैं अत इनसे मेरा कोई सबध नहीं है । जब शरीर ही मेरा नही है तो अन्य पदार्थ कैसे मेरे हो सकते है ?"

साराश यही है कि अतरात्मा कषायो से मुक्त होकर ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना करती हुई बाह्य जगत से दृष्टि फेरकर अपने अन्दर झाकती है तथा आत्मा की शुद्धि का प्रयत्न करती है । वह अपने आपको जानने और समझने का प्रयत्न करती है तथा उसका पूर्ण झुकाव आत्मदर्शन और आत्मज्ञान की ओर होता है । वह ससार मे रहकर भी ससार से विरक्त और भोगो को भोगते हुए भी उनसे अलिप्त रहती है ।

यह सुनकर आपको सशय होगा कि सासारिक ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए भी व्यक्ति उनसे विरक्त कैसे रह सकता है ? इस बात को समझने के लिये एक शास्त्रोक्त उदाहरण है जो कि आपमे से कई बधुओ ने सुना या पढा होगा ।

जल कमलवत्

भगवान ऋषभदेव की प्रवचन सभा मे एक बार उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने पूछा—"भगवन्! मुझे मोक्ष की प्राप्ति कब होगी ?"

भगवान ने सहजभाव से उत्तर दिया—"तुम इसी जन्म मे मोक्ष प्राप्त करोगे।"

भरत जी के प्रश्न और भगवान ऋषभदेव के उत्तर को प्रवचन स्थल पर बैठे हुए एक स्वर्णकार ने सुना। पर सुनते ही उसने शहर मे भगवान की निन्दा करते हुए कहना प्रारम्भ किया —"भगवान भी कितना पक्षपात करते हैं। उनके बेटे भरत महाराज इतने बडे सम्राट हैं, ऐश्वर्य मे खेलते हैं, पर बेटे हैं इसलिये भगवान उन्हे ही मुक्ति प्रदान करेंगे। ठीक भी है, बाप मुक्ति देने वाले हैं और बेटे लेने वाले।"

स्वर्णकार की ऐसी बातें नगर मे आग की तरह फैल गईं। और जनता आपस मे कानाफूसी करती हुई जगह-जगह इस बात की चर्चा करने लगी। धीरे-धीरे महाराजा भरत के कानो तक भी यह विषय पहुँचा। भरतजी ने स्वर्णकार को बुलवाया और उसे आदेश दिया कि एक तेल से भरा हुआ कटोरा हाथो मे लेकर इस विनीता नगरी के प्रत्येक बाजार और प्रत्येक गली मे से गुजरे, किन्तु तेल की बूँद भी जमीन पर गिरने न पाये। अगर एक बूँद भी जमीन पर गिर गई तो नगी तलवारें लिये हुए साथ चलने वाले सैनिक उसकी गर्दन को तलवार से उडा देंगे।

तत्पश्चात् स्वर्णकार को एक रत्नजटित कटोरा दिया गया तथा तलवारें लिये हुए कई सैनिको के साथ उसे नगर के समस्त बाजारो और गलियो मे ले जाया गया। जब सम्पूर्ण नगर मे घुमा-फिराकर सैनिक स्वर्णकार को पुन महाराज भरत के समक्ष लाये तो भरत जी ने उससे पूछा—"क्यो भाई, तुमने बाजारो मे क्या-क्या देखा ?"

"कुछ भी नही देखा महाराज! मेरी दृष्टि एक बार भी किसी ओर नही गई।"

"वाह! आज तो शहर के सभी बाजार विशेष रूप से सजाए गए थे और स्थान-स्थान पर अनेक आकर्षक दृश्य दिखाई दे रहे थे, फिर तुमने उन्हे देखा क्यो नही ?" भरत जी ने पुन प्रश्न किया।

"महाराज ! मेरे सम्मुख तो मौत नाच रही थी। तेल की एक बूंद भी अगर जमीन पर गिर जाती तो आपके सैनिक मेरी गर्दन उसी क्षण उडा देते। फिर मैं किस प्रकार इधर-उधर दृष्टिपात कर सकता था।"

भरत महाराज स्वर्णकार की बात सुनकर हँस पड़े और उसे समझाते हुए बोले—

"देखो भाई ! तुम तो इसी जन्म की मृत्यु से इतने भयभीत हो गए कि तुम्हारी दृष्टि दुल्हन के समान सजी हुई इस विनीता नगरी से विरक्त होकर अपने तेल के कटोरे पर केन्द्रित रही, फिर मैं तो जन्म-जन्म की मृत्यु से भयभीत हूँ। तब बताओ, मेरा मन इस ससार से विरक्त और उदासीन क्यो नही होगा ? पुन -पुन जन्म और पुन -पुन मृत्यु के भय से ही मेरी दृष्टि अन्तमु खी हो गई है और मुझे अपनी आत्मा के हानि लाभ के अलावा और कुछ भी दिखाई नही देता। प्रतिपल मैं आत्मा को बद्ध-कर्मों से छुडाने और नवीन कर्म-बन्धन से बचाने के विचार मे रहता हू। यही कारण है कि भगवान ने मेरी समस्त ससार से विरक्त भावनाओ को जानकर मेरा इसी जन्म मे मुक्त होना बताया है।"

महाराज भरत की बात सुनकर स्वर्णकार की आँखें खुल गई और उसकी समझ मे आ गया कि महाराज की आत्मा ससार मे रहते हुए भी ससार से विरक्त है तथा वह राग-द्वेषादि कषायो से परे रहकर सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र मे रमण कर रही है।

बधुओ, आप भी समझ गये होगे कि अन्तरात्मा अथवा अन्तमु खी आत्मा इसी प्रकार जल मे रहते हुए भी जल से दूर रहने वाले कमल के समान ससार मे रहते हुए भी ससार से विरक्त रहती है। वह सासारिक प्रलोभनो से बचती हुई आत्म-शुद्धि एव आत्म-मुक्ति के प्रयत्न मे ही सदा रहती है। समभाव की स्वर्गीय सुधा का अजस्र स्रोत उसके अन्तर मे प्रवाहित रहता है और इस प्रकार पवित्र और उत्तम भावनाओ से युक्त आत्मा शाश्वत सुख की अधिकारिणी बनती है। शास्त्र मे कहा गया है—

भावना-जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ ॥

—सूत्रकृताग

अर्थात्—जो आत्मा पवित्र भावनाओ से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नौका के समान है। वह आत्मा नौका की तरह ही ससार-सागर के तीर पर पहुँच कर सभी दुखो से छुटकारा प्राप्त कर लेती है।

कहने का तात्पर्य यही है कि अन्तरात्मा जीव आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता हैं और उसे यह भान हो जाता है कि मैं चिदानन्दमय हू । ससार का प्रत्येक पदार्थ मुझ से भिन्न है और किसी भी प्राणी से मेरा नाता नही है। जब शरीर ही मेरा अपना नही है तो अन्य पदार्थ और प्राणी मेरे कैसे हो सकते हैं ? ऐसी भावनाएं जब उसके अन्तर मे जाग जाती हैं तो किसी भी पदार्थ के प्रति उसे राग अथवा मोह नही रह जाता ।

वस्तुत मोह ही आत्मा को निबिड कर्मों मे बद्ध करने वाला और आत्मा को अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण कराने वाला होता है। आठो कर्मों मे मोहकर्म की स्थिति सबसे अधिक यानी सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की होती है। एक बार भी जीव इसमे फस जाता है तो इतने लम्बे समय तक वह अपना पिण्ड फिर नही छुडा पाता । मोह मे इतनी जबर्दस्त आकर्षण शक्ति है कि विश्व का कोई भी प्राणी इससे प्रभावित हुए बिना नही रहता । एक कवि ने अपनी सहज और स्वाभाविक भाषा में कहा है—

न छूटी है चींटी, न छूटा है हाथी,
न छूटा है कोई परिन्दा ।
सबकी गर्दन फसी हैं इसमे,
इस मोह ने जगत को कर दिया है अधा ॥

कवि का कहना यथार्थ है। मोह कर्म ऐसा नागपाश है कि इसमे जकडा हुआ प्राणी सहज ही मुक्त नही हो पाता जब तक कि आत्मा मे समभाव की जागृति नही होती । और समभाव तभी आता है जबकि प्राणी सांसारिक प्रलोभनो से बचे तथा कषायो से अपने आप को मुक्त करे । समभाव के अभाव मे कभी सयम धन की प्राप्ति नही होती क्योंकि उस समय कषायो का तीव्र उदय होता है। कषाय भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। शास्त्रो मे विधान है कि अनतानुबधी कषाय का नाश होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अप्रत्याख्यानावरण मोह के हटने पर एकदेश सयम होता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय के दूर होने पर सर्वदेश सयम आता है तथा सज्वलन कषाय के हटने पर यथाख्यात सयम का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार मोहकर्म सयम का घातक होता है, पर समभाव के द्वारा जब मोहरूपी वह्नि शात हो जाती है जब सयम-रूप लक्ष्मी आत्म-मन्दिर मे प्रवेश करती है ।

कहने का साराश यही है कि मोहरूपी आग को शात करने के लिये, राग-

द्वेष रूपी वृक्षो को जडो से उखाडने के लिये तथा सयमश्री का आवाहन करने के लिये समभाव का आश्रय लेना चाहिये। और ऐसा अन्तरात्मा ही कर सकता है।

३ परमात्मा—आत्मा की तीसरी अवस्था परमात्मा या मुक्तात्मा के रूप मे समझी जा सकती है।

मैं आपको अभी बता ही चुका हूँ कि बहिरात्मा कषायो से युक्त होती है तथा जड-चेतन के विवेक से शून्य बनी रहकर क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायो मे रमण करती हुई बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखती है। परिणाम यह होता हैं कि उसकी आत्मा सदा मलिन बनी रहती है और वह जन्म-जन्म में नाना प्रकार के कष्टो को भोगती हुई ससार मे परिभ्रमण करती रहती है। ऐसी आत्मा का सुधार होना अर्थात् उसका कर्म-बन्धनो से मुक्त होना बडा कठिन होता है।

किन्तु जब आत्मा में विवेक जागृत हो जाता है और वह सद्गुरु के सपर्क मे आकर अपने आपको बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न समझ लेती है तो वह ससार से उदासीन होकर समभाव को धारण कर लेती हैं और सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना करती हुई अपने आपको कर्म-मुक्त कर चलती है। आत्मा की ऐसी स्थिति अतरात्मा कहलाती है। और उसकी गति सुधार की ओर हो जाती है। अन्तरात्मा मे समभाव का आविर्भाव हो जाने से ऐसी अनिर्वचनीय एव अभूतपूर्व शीतलता आ जाती है तो केवल अनुभव से ही जानी जा सकती है, वह सब प्रकार के सतापो से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप मे रमण करने लगती है और शनै-शनै कर्ममुक्त होकर सिद्ध दशा को प्राप्त करती हुई ऊर्ध्वगमन करती है। दूसरे शब्दो मे वह अपने समस्त कर्मों का प्रक्षय करके लोकाकाश के अन्त में स्थित हो जाती है।

भगवान महावीर ने इस विषय में फरमाया है—

> जह रागेण कडाण कम्माण पावगो फलविवागो।
> जह य परिविहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति ॥
>
> —औपपातिक सूत्र

—यह ससारी जीव राग-द्वेष विकारो के कारण उपार्जित कर्मों का दुष्फल भोगता है, और जब समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है तो सिद्ध होकर सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करता है। तो सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करने का अधिकार जो आत्मा प्राप्त कर लेती है वह परमात्मा अथवा मुक्तात्मा कहलाती है। और यही उसकी तीसरी तथा सर्वोत्कृष्ट अवस्था मानी जाती है।

★

१२ | वचने का दरिद्रता....!

घर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

प्रसगवश कुछ दिन अन्य विषयो पर हमने विचार किया, किन्तु वैसे सवर के सत्तावन भेदो मे से छ भेदो को हमने लिया था और आज पुन सवर के सातवें भेद पर आ रहे हैं। सवर के सत्तावन भेदो मे से सातवाँ भेद वचनगुप्ति है। वचन-गुप्ति का अर्थ है वाणी का प्रयोग अथवा वचनो का उच्चारण करना।

आप सभी जानते हैं कि जवान से शब्दो का उच्चारण करना तनिक भी कठिन नही है। प्रत्येक विना किसी कठिनाई के वोल सकता है और चाहे जितना वोलता चला जा सकता है। किन्तु 'वचनगुप्ति' को सवर के भेदो मे सम्मिलित करने का महत्व इसलिये है कि वह मानव को यह सकेत करे कि वाणी का प्रयोग किस प्रकार किया जाय।

आज विश्व का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि अन्य सभी मनुष्य उसका सम्मान करें, उसकी इच्छा का आदर करें और उससे प्रभावित हो, दूसरे शब्दो मे वह अन्य सभी व्यक्तियो पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता है तथा समाज मे सर्वोपरि स्थान पाना चाहता है। किन्तु उसकी यह कामना तभी पूरी हो सकती है जवकि वह अपनी वचनगुप्ति पर कावू रखे अथवा अपनी वाणी का इस प्रकार प्रयोग करे कि उसे सुनने वाले प्रसन्न हो, सन्तुष्ट हो तथा उन वचनो को अपने लिये हितकारी समझें।

वचनगुप्ति का किस प्रकार प्रयोग किया जाय इस विपय मे हमारे जैनशास्त्र

व अन्य धर्मशास्त्र भी नाना प्रकार के आदेश देते हैं तथा वडी सावधानी रखने का सकेत करते हैं। भगवान महावीर का कथन है—

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीय च भास ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भास न भासिज्ज सया स पुज्जो ।।

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—जो साधुपुरुष किसी भी प्राणी की प्रत्यक्ष और परोक्ष मे भी निंदा नही करता, पर-पीडाकारी, निश्चयकारी एव अप्रिय भाषा नही बोलता वह पूज्य बनता है।

भगवान द्वारा कथित गाथा से स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसी भाषा का अथवा ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिये, जिनके द्वारा सुनने वाले को दु ख हो, वह तिरस्कार का अनुभव करे या अपने आपको उपेक्षित समझे। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वचनगुप्ति पर अकुश रखते हुए अगर व्यक्ति मधुरवाणी का प्रयोग करता है तो उसे न किसी प्रकार का कष्ट होता है, न ही कोई हानि होती है या किसी प्रकार का खर्च ही होता है। जबान से जिस प्रकार कठोर शब्दो का उच्चारण किया जाता है, उसी प्रकार मीठे और प्रिय शब्द भी बोले जा सकते है।

इसलिए सस्कृत भाषा के एक कवि ने कहा है—

जिह्वाया खडन नास्ति, तालुको नैव भिद्यते ।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ।।

कटुभाषी प्राणियो को कवि ने कितने मधुर शब्दो मे ताडना देते हुए सीख दी है कि कोमल और प्रिय वचनो का उच्चारण करने पर जबकि जीभ नही कटती, तालू नहीं भिदता और न ही भाषा के भडार मे से शब्दो का कोश ही रीता होना है तब फिर मधुर भाषा के प्रयोग मे दरिद्रता क्यो रखना चाहिये ?

कवि का कथन यथार्थ भी है। मीठे शब्दो का उच्चारण करने से मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी प्रसन्न होते हैं अत प्रत्येक व्यक्ति को सदा हितकारी और प्रिय वचन बोलने चाहिये। अनर्गल प्रलाप और गर्वोक्तियो से कोई लाभ नही होता अपितु कभी-कभी मान-हानि होने की ही सभावना रहती है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

सब आता है मुझे

एक घर मे सास और बहू दोनो ही थी। प्राय देखा जाता है कि खाना बनाने से पहले बहुएँ अपनी सास से पूछती हैं कि, 'क्या बनाऊँ ?' यह बडो का मान रखने की रीति है। इस रीति का पालन करने के लिये उस घर की बहू भी अपनी सास से यही बात पूछ लिया करती थी। सास समझदार और व्यवहारकुशल थी। अत क्या बनाना यह बताते हुए प्राय यह भी बता दिया करती थी कि अमुक वस्तु इस प्रकार बना लेना।

किन्तु बहू अहकारी थी। अत जब उसकी सास खाद्य पदार्थ को बनाने की विधि बताती तो उसे सुन लेने के पश्चात् वहाँ से उठते-उठते यह कह देती थी कि—"यह बनाना तो मुझे भी आता है।"

प्रति दिन बहू की यह गर्वोक्ति सुनकर एकदिन सास ने उसकी परीक्षा लेने का विचार किया और एक दिन जबकि घर मे मेहमान आए हुए थे, उसने बहू के पूछने पर खीर बना लेने को कहा तथा खीर के लिए दूध-शक्कर आदि का प्रमाण बताते हुए पीछे से यह भी कह दिया कि उसमे थोडा नमक डाल देना।

बहू को वास्तव मे ठीक खाना बनाना तो आता नही था किन्तु अपनी होशियारी बताने के लिये वह उस दिन भी यह कहकर रसोई मे चली गई कि – "मुझे खीर बनाना आता है।" पर उसके बाद जब उसने खीर बनाई तो उसमे नमक भी डाल दिया।

परिणाम क्या हुआ होगा, इसका आप अन्दाज लगा सकते हैं। यानी खीर बिगड गई। नमक डालने से खीर का स्वाद तो बिगडा ही, साथ ही दूध भी फट गया और जब मेहमानो को खीर परोसी गई तो सबने थू-थू करते हुए खीर की कटोरियाँ थाली मे से निकालकर बाहर रख दी।

यह देखकर बहू सास के पास दौडी और बोली —"आपके बताए अनुसार ही तो मैंने खीर बनाई थी फिर वह खराब कैसे हो गई ?"

सास ने शातिपूर्वक कहा—"मेरे रोज बताने पर तुम कहती थी कि मुझे सब बनाना आता है अत आज मैंने खीर मे नमक डालने को कह दिया था। सोचा था कि जब तुम स्वय बनाना जानती हो तो नमक डालोगी ही क्यो ? अन्यथा खीर मे नमक कही पडता है ?"

सास की बात सुनकर बहू की आँखें खुल गई और उस दिन से उसने कान

पकड लिये कि आइन्दा झूठा अहकार नही करूंगी और न ही गर्वोक्ति का प्रदर्शन करूंगी।

बधुओ, आप समझ गए होगे कि झूठे और अहकार भरे वचनो का प्रतिदिन प्रयोग करने से ही उक्त बहू को घर मे आए हुए मेहमानो के सामने लज्जित होना पडा। ऐसा वचनगुप्ति मे विवेक न रखने के कारण ही हुआ। इसी प्रकार अनेक प्रकार की हानियाँ वाणी के अविवेक के कारण होती हैं। कभी-कभी तो गाली-गलौज, मार-पीट और जान जाने की नौबत भी अविवेकपूर्ण वचनो के कारण आ जाती है।

द्रौपदी की जबान से निकल गया था—"अधो के लडके अधे होते हैं।" बस इस वाक्य के कारण ही महाभारत युद्ध ठन गया और लाखो प्राणियो का सहार हुआ। इसलिये विचारक बार-बार चेतावनी देते हैं कि बोलने मे जरा भी चूक मत होने दो। क्योकि कभी-कभी छोटा सा कटु वाक्य भी महान दुष्परिणाम का कारण बनता है। एक उर्दू के कवि का कथन है—

फितरत को नापसद है सख्ती जबान मे।
पैदा हुई ना इसलिये हड्डी जबान मे॥

कहा है कि कुदरत को ही जबान की सख्ती यानी कटुता पसद नहीं है अत उसने जबान मे हड्डी का निर्माण नही किया। उसका मूक सकेत यही है कि जबान स्वय जैसी कोमल है, उसी प्रकार वह कोमल शब्दो का उच्चारण भी करे।

कहा जाता है कि महान दार्शनिक कन्फ्यूशियस का जब आखिरी वक्त आया तो उनके शिष्यो ने उनसे प्रार्थना की कि आप हमे एक अतिम सीख और प्रदान करें।

इस पर कन्फ्यूशियस ने अपने प्रिय शिष्यो से प्रश्न किया—"मेरे मुँह मे तुम लोगो को क्या दिखाई देता है?"

शिष्यो मे से एक बोला—"गुरुदेव! आपके मुँह मे केवल जबान है, दात तो सभी गिर चुके हैं।"

गुरु बोले—"क्या तुम लोग बता सकते हो कि मेरे सारे दाँत क्यो पहले ही गिर चुके जबकि जबान ज्यो की त्यो विद्यमान है।"

बेचारे शिष्य एक दूसरे का मुँह देखने लगे। किसी को गुरु के प्रश्न का उत्तर नहीं सूझा। यह देखकर कन्फ्यूशियस ने स्वय ही कहा—

"देखो ! मेरे दांत कठोर थे अत कभी के गिर गये किन्तु जवान कोमल होने के कारण ज्यो की त्यो है। अत ध्यान रखो कि तुम अपना व्यवहार अपनी जवान के अनुसार ही कोमल वनाओगे तो समाज मे और देश मे सम्मानित होकर टिक सकोगे अन्यथा दांतो के समान कठोर होने पर लोगो की दृष्टि से गिर जाओगे।"

वस्तुत वाणी की मधुरता मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है, साथ ही सवर का कारण वनकर पापकर्मों के उपार्जन को रोकती है। जो व्यक्ति अपने विवेक को जागृत रखकर अप्रिय, कटु और अहितकर भाषा का प्रयोग नही करता उसकी आत्मा को नये कर्म नहीं जकडते और शनै शनै बद्ध कर्मों से भी छुटकारा प्राप्त कर लेता है। हमारे शास्त्र भी व्यक्ति को यही आदेश देते हैं कि—'विवेकपूर्वक वोलो, आवश्यकतानुसार वोलो, पापरहित वोलो, धर्म प्रचार हो ऐसा वोलो तथा मधुर बोलो। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही अपनी वचनगुप्ति पर कावू रखता हुआ अपनी आत्मा को ऊँचा उठा सकता है।

सवर पापकर्मों के आगमन को रोकने वाला वाँध है। अत हमे अगर पापकर्मों से वचना है तो वचनगुप्ति का ध्यान रखना होगा। वचनो मे वडी चमत्कारिक शक्ति होती है। प्रिय वचन बोलकर जहाँ एक डाक्टर मरीज को मौत के मुँह से भी खीच लाता है वही कटु शब्दो के प्रयोग से कमजोर दिलवाला मृत्यु का ग्रास भी वन सकता है। मधुर वचनों के प्रयोग से ही शत्रु मित्र बनता है तथा कटु वचनो के उच्चारण से मित्र शत्रु। इतना ही नही हमारे शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं—

वाया वुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुवधीणि महब्भयाणि।

—दशवैकालिक सूत्र

—वाणी से वोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के वैर और भय के कारण वन जाते हैं।

इसीलिये विवेकी पुरुष अपने एक-एक शब्द को तौलकर जिह्वा पर लाते हैं। वे जानते हैं कि विवेकपूर्ण शब्द अनमोल रत्न के रूप मे होते हैं अत उन्हें यो ही गँवाया नहीं जा सकता। कहा भी है—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै पाषाणखण्डेषु, रत्न सज्ञा विधीयते॥

यानी इस पृथ्वी पर तीन रत्न हैं। पहला जल, दूसरा अन्न और तीसरा मृदुवचन। वे व्यक्ति मूर्ख हैं जो पत्थर के टुकडो को रत्नो के नाम से पुकारते हैं। ऐसा वे भ्रमवश करते हैं।

साराश यही है कि जिस प्रकार अन्न और जल जीवन को कायम रखने में सहायक होने के कारण अमूल्य रत्न माने गये हैं उसी प्रकार औरो की आत्मा को सुख और शाति पहुचाने मे समर्थ होने के कारण मधुर वचन भी अनमोल रत्न माने गए हैं। इसलिए मधुर वचनो को अमूल्य रत्न मानकर ही उनका सदुपयोग करना चाहिये तथा कटु शब्दो के प्रयोग से बचना चाहिये।

मौन का महत्व

शास्त्रकार कहते हैं कि कठोर, अप्रिय एव अहितकारी भाषा बोलने की अपेक्षा तो अधिक से अधिक मौन रखना उचित है। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि पूर्णतया चुप रहना तो मौन कहलाता ही है किन्तु सावद्य भाषा अर्थात् पापजनक भाषा का न बोलना भी वचन का मौन ही माना जाता है। शास्त्र में सावद्य भाषा बोलने का निषेध है क्योकि उससे पापो का आगमन होता है।

अनेक बार सतो के सामने ऐसी जटिल परिस्थितिया आ जाती हैं कि उन्हें मौन ही रहना पडता है क्योकि लोगों के प्रश्नो के उत्तर मे अगर वे हाँ कहते हैं तो आरम्भ-समारभ होता है और ना कहने पर व्यक्तियो की सुख शाति भग होती है, अत वे 'सबसे भली चुप्प' को ही प्रयोग मे लाते हैं।

बधुओ, मेरे आज के कथन का साराश यही है कि इस ससार मे रहने वाले अनतानत जीवो मे से केवल मनुष्य को ही ऐसी शक्ति मिली है कि वह अपनी भाषा औरो को भली-भाति समझा सकता है और उसके माध्यम से अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। अगर वह चाहे तो अपनी वाणी का अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकता है तथा उसके द्वारा भी पुण्य-कर्मों का सचय कर सकता है। उदाहरण के लिये हम मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान को भी लें तो सूरत बकर के सकू ३६ की तीसरी आयत मे लिखा हुआ है—

"कौलन मारफ ुन वा मगफिर तुन,
खैरून मिन मदक तिन।"

अर्थात्—भद्र और क्षमायुक्त वचनो का प्रयोग करना दान देने से भी श्रेष्ठतर है।

कितनी सही और सुन्दर बात है? आप लोग पुण्योपार्जन करने के लिये लाखो रुपयो का दान देते हैं किन्तु फिर भी अगर आपको अहकार और गौरव को ठेस पहुचाने वाली छोटी-से-छोटी बात भी किसी के द्वारा कह दी जाती है तो आपका क्रोध विषधर सर्प की तरह फुफकार कर चोट करने के लिये अपनी जिह्वा रूपी फन उठा लेता है। परिणाम यह होता है कि दान-पुण्य और अन्य अनेको धर्म-क्रियाओ

के द्वारा आप जितना पुण्योपार्जन करते हैं, उससे अधिक कटु एव भयकर शब्दो का प्रयोग करके पापो की पोटली बांध लेते हैं।

क्या इसकी बजाय यह अच्छा नही है कि आप धर्मक्रियाएँ वही करें जो दिखाने के लिये न हो और दान ऐसा दे जिसके पीछे दान-दाताओ की फेहरिस्त मे नाम लिखवाने की आकाक्षा न हो, पर अन्य प्रत्येक प्राणी के प्रति आपका व्यवहार कोमल, सदय एव हितकर हो। आपके वचनो से कभी किसी का दिल न दुखे, उलटे उसे शाति और सान्त्वना मिले ? ऐसे वचन और ऐसी भाषा आपकी आत्मा के लिये अधिक लाभदायक साबित होगी।

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य की यह छोटी-सी जीभ उसके लिये भयकर अनर्थ का कारण भी बन सकती है और महान् लाभ का कारण भी यही बनती है। आवश्यकता है केवल इसके सदुपयोग की। अगर व्यक्ति इसको काबू में रखे तो यह सवर मे सहायक बनेगी और बेकाबू कर दिया तो आश्रव का कार्य करेगी। वचनगुप्ति का महत्व श्रावक एव साधु दोनो के लिये बराबर है। यह सही है कि श्रावक मुनि के समान इसपर पूर्णतया कण्ट्रोल नही रख सकता, किन्तु फिर भी अगर वह चाहे तो इसके द्वारा ससार मे सम्मान और कीर्ति का भागी तो बनता ही है, साथ ही शुभ-कर्मों का सचय करके अगले जन्मो के लिये भी लाभ उठा सकता है।

मुनियो के लिये तो पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने बताया है कि वे किस प्रकार अपनी वचनगुप्ति को वश मे रखते है और सच्चे गुरु एव पथ-प्रदर्शक बनकर हमारे आत्मोत्थान मे सहायक बनते हैं। उन्होने कहा है—

> मौन करी रहे, नाही आश्रव के वेण कहे,
> संवर के काज मृदु वचन उच्चारे हैं।
> बोलत है प्रथम विचारी निज हिये माही,
> जीव दया युत उपदेश विसतारे हैं॥
> आगम के वेण ऐन माने सुखदेन पेन,
> माने मिथ्या केन चित्त ऐसी विध धारे हैं।
> कहे अमीरिख मुनि ऐसे मौनधारी होय,
> तारण तरण सोही सुगुरु हमारे हैं॥

क्या कहा है ? यही कि सच्चे सत अधिक से अधिक मौन रखते हैं और कभी भी ऐसे वचनो का उच्चारण नही करते, जिनके कारण आश्रव यानी पाप कर्मों का आगमन प्रारम्भ हो जाय। वे तो सवर का आराधन करने के लिये मधुर शब्दो का

उच्चारण ही करते हैं। वे जो कुछ भी बोलते हैं उसे पहले ही विवेकपूर्वक अपने हृदय मे तौल लेते हैं तथा सत्य व हितकारी जानकर तब उसे ससार के प्राणियो पर दया की भावना रखते हुए उन्हे उपदेश देते हैं।

सच्चे सत आगम के वचनो पर दृढ विश्वास रखते हैं तथा उन्हें आत्मा के लिये परम हितकारी मानते हैं। उनका चित्त धर्म मे ऐसा रत रहता है कि मिथ्यात्व अथवा पाखड उनके पास फटकने भी नही पाता। आगम की वाणी को वे स्वप्न मे भी मिथ्या नही मानते और इसीलिये उनका वचनगुप्ति पर पूर्ण अंकुश होता है। उनकी जबान से किसी भी प्राणी को दुख नही होता, किसी का अहित नही होता और कभी भी कोई किसी प्रकार के सकट मे नही पडता। वाणी का मौन रखने वाले ऐसे सुगुरु ही स्वय ससार-सागर से तैरते हैं तथा औरो को भी पार उतारते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अनन्त पुण्यो के उदय से व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता मिली है, उसे व्यर्थ ही नही गवा देना चाहिये तथा बुद्धि और विवेकपूर्वक इसका पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। वाणी का लाभ उठाने से मेरा तात्पर्य यह नही है कि मनुष्य मीठा-मीठा बोलकर दूसरो का गला काटे और बेईमानी तथा अनैतिकता का आश्रय लेकर अपनी तिजोरियाँ भर ले। वरन यह आशय हैं कि वह दुखी और सतप्त जीवो को सान्त्वना प्रदान करे। वह ऐसी भाषा का प्रयोग न करे जिससे किसी के जान-माल की अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हानि हो और 'मुँह मे राम बगल मे छुरी' यह कहावत चरितार्थ हो जाये।

तो बन्धुओ, अगर हम अपनी वचनगुप्ति को विवेकपूर्वक काम मे लेंगे तो इस जन्म और अगले जन्मो मे भी सुखी बन सकेंगे।

१३ | देहस्य सारं व्रतधारणं च

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने सवर के सत्तावन भेदो मे सातवें भेद वचनगुप्ति पर विचार-विमर्श किया था। आज सवर के आठवें भेद को लेना है। आठवां भेद है कायागुप्ति। कायागुप्ति का अथ है, शरीर को पाप क्रियाओ से वचाकर शुभक्रियाओ मे सलग्न करना। उदाहरण स्वरूप हमारे पास प्रकृति-प्रदत्त हाथ हैं किन्तु अगर हम इन्हें मार-पीट मे लगाते हैं तो हमारी वे क्रियाए आश्रव का कारण वनेंगी और इन्ही हाथो से अपने वुजुर्गों की अथवा दीन-दुखो, अपाहिजो की सेवा करते हैं तो वे क्रियाए सवर मे सहायक वनेंगी। इसी प्रकार अपनी जिह्वा से कटु, कर्कश एव मर्म-भेदी वचनो का उच्चारण करके अन्य व्यक्तियो को दु ख पहुँचाएंगे तो हमारी वह वाणी आश्रव का निमित्त वनेगी और अगर इसी जिह्वा से प्रभु-भक्ति करेंगे अथवा मधुर और सान्त्वना प्रदान करने वाले शब्दो का उच्चारण करेंगे तो यह जिह्वा सवर का निमित्त वन जाएगी।

सवर का महत्त्व वताते हुए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने लिखा है—

> सवर की क्रिया परमोत्तम वखानी जिन,
> सवर मारग दु ख, दोप को हरन है।
> वारण करम दल, ठारन निजातम को,
> जारन विपद, मुद, मगल करन है।

भवजल तरण हरण अघ पुज यही,
सरण सहाई उर सुबुद्धि भरन है।
कहे अमीरिख हरीकेशी ऋषिराय धन्य,
सवर अराधी मेट्या जनम मरन है ॥

कवि श्री कहते हैं सवर की क्रियाएँ अन्य समस्त क्रियाओ मे सर्वोत्तम हैं और सवर का मार्ग ससार के समस्त दुःखो और दोषो को नष्ट करने वाला है।

इतना ही नही, सवर समस्त कर्मदलो को हटाने वाला, आत्माओ को शांति और शीतलता पहुँचाने वाला, विपत्तियो के समूह को जलाने वाला तथा सभी प्रकार से आनद मगल करने वाला होता है।

आगे कहा है—सवर का आराधन ससार-सागर से पार उतारता है पापो के पु जों को नष्ट करता है तथा हृदय को सुबुद्धि से भरने मे सहायक बनता है।

कवि ने हरिकेशी मुनि को पुन पुन धन्य कहा है क्योकि उन्होने जाति और कुल से हीन होने पर भी सवर धर्म की आराधना करके सदा के लिये जन्म और मरण से मुक्ति प्राप्त कर ली।

बधुओ, आपके मन मे विचार आ सकता है कि अपनी आत्मा को ससार-मुक्त करने वाले तो सभी महापुरुष सवर की आराधना करते हैं, फिर विशेष रूप से हरिकेशी मुनि का ही उल्लेख कवि ने क्यो किया ?

इस विषय मे हम यही कह सकते हैं कि जो व्यक्ति आर्यक्षेत्र, आर्यजाति और उत्तम कुल मे जन्म लेता है उसमे बचपन से ही अच्छे सस्कार आ सकते हैं और वयः प्राप्त होने पर भी वह सहज ही धर्म-मार्ग को अपना सकता है। दूसरे शब्दो मे सभी उत्तम साधन सुलभ होने पर व्यक्ति सहज ही उत्ताम मार्ग पर चल भी सकता है।

किन्तु हरिकेशी जैसा चाडाल कुल मे जन्म लेने वाला व्यक्ति जो कि धर्म-अधर्म क्या होता है, आत्मा-परमात्मा का क्या महत्व होता है तथा आश्रव, सवर और निर्जरा किस बला का नाम है, यह स्वप्न मे भी नही सोच पाता पर फिर भी जब वह आत्म-मुक्ति के मार्ग को पहचान लेता है तथा सच्चे धर्म को अपनाकर पूर्ण दृढता से उस पर चलता हुआ आत्म-कल्याण कर लेता है तो उसका यह कार्य सराहनीय माना जाता है। जिस प्रकार धन-सम्पन्न व्यक्ति अगर लाख रुपया दान करता है तो उसका उतना महत्व नही हो सकता जितना एक दरिद्र व्यक्ति का स्वयं अभावग्रस्त होने पर भी दो रुपये दान मे देना महत्वपूर्ण एव प्रशसनीय होता है।

इसीलिये कवि ने अपने पद्य मे चाडाल कुलोत्पन्न हरिकेशी को धर्म का तथा सवर का मर्म समझ लेने और उसे ग्रहण कर आत्मा को सर्वथा कर्ममुक्त कर लेने के कारण धन्य कहा है ।

तो हम सवर के सत्तावन भेदो मे से आठवें भेद कायागुप्ति के विषय मे विचार कर रहे हैं, जिससे तात्पर्य है शरीर को अशुभ क्रियाओ मे न लगाकर शुभ क्रियाओ मे प्रवृत्त करना ।

सस्कृत के एक पद मे कहा गया है—

"देहस्य सार व्रतधारण च ।"

शरीर प्राप्ति की सार्थकता तभी है जबकि व्रतो को धारण किया जाय । जीव को नाना योनियो मे भ्रमण करते हुए तो अनन्त काल व्यतीत हो गया । मानव-जन्म भी अनेक बार मिला होगा और उसे सासारिक सुखो को भोगने तथा मौज-मजे करने मे व्यतीत कर दिया होगा । किन्तु वीतराग-वचनो पर विश्वास करते हुए धर्माराधन करने और व्रतो को ग्रहण करने की प्रवृत्ति जीव की नही हुई । यही कारण है कि उसे अभी तक ससार-भ्रमण करना पड रहा है ।

इसीलिये महापुरुष एव सत-मुनिराज मनुष्यो को यही प्रेरणा बार-बार देते हैं कि यह मनुष्य जन्म जबकि अनन्त पुण्यो के सयोग से पुन मिल गया है तो व्रतो को धारण करके अपने शरीर को सार्थक करो तथा इससे अधिकाधिक लाभ उठाओ । व्रत चाहे छोटा ही क्यो न हो, उसे एक बार अपना लेने पर फिर आत्मा शुद्धता की ओर प्रगति करने लगती है । इस विषय को एक उदाहरण से भली-भाति समझा जा सकता है ।

एक नगर मे एक मुनिराज विचरण करते हुए पधारे । नगर के राजा ने उनके दर्शनार्थ जाने का विचार किया तथा अपने सभी दरबारियो और प्रजाजनो को यह सूचना भिजवादी ।

सारी प्रजा सत के आगमन से प्रफुल्लित हो गई और उनके दर्शनार्थ चलने के लिये तैयार हुई । केवल उस नगर का मत्री बडी दुविधा मे पड गया । वह पूरा नास्तिक था । न वह धर्म पर विश्वास करता था न ही लोक-परलोक को मानता था । उसका कहना था —

"को जाणहि परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।"

यानी—कौन जानता है कि परलोक है या नही ।

इस प्रकार वह लोक-परलोक, धर्म व अधर्म को न मानने वाला महानास्तिक व्यक्ति था, किन्तु करता क्या ? राजा का आदेश था अत मन मारकर और मजबूरन उस मुनि के दर्शन करने के लिये सबके साथ जाना पडा ।

बडी धूम-धाम से दल-बल सहित राजा शहर से बाहर मुनिराज के दर्शन करने गए और वहाँ उनका धर्मोपदेश सुना । प्रवचन सुनकर सभी लोगो को बडा सतोष हुआ क्योंकि उसमे सयोगवश यही विषय आया था कि —"मानव शरीर मिला है तो धर्माराधन करके तथा व्रत-नियमादि ग्रहण करके इसका समुचित लाभ उठाओ ।"

लोगो पर मुनि के प्रवचन का बडा प्रभाव पडा । परिणामस्वरूप उपदेश की समाप्ति पर अधिकाश व्यक्तियो ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्रत-नियम अपनाये । धीरे-धीरे मत्री का नम्बर भी आ गया । वह बडी कठिनाई में पड गया कि राजा के समक्ष वह किसी भी नियम को लेने से इन्कार कैसे करे और श्रद्धा न होने पर नियम ले भी कैसे ? आखिर सोच-विचार कर उसने सत से कहा—

"महाराज, मुझे गीली वस्तु में गोवर न खाने का और सूखी वस्तु में पत्थर न खाने का नियम करवा दीजिये ।"

सारी सभा मत्री की वात सुनकर मन ही मन हँस पडी । पर मत्री ने सोचा—'वाह मैंने कितनी चतुराई का उदाहरण पेश किया है । साँप भी मर जाएगा और लाठी भी नही टूटेगी ।'

इधर मुनिराज धीर-गभीर स्वर से वोले—"कोई वात नही प्रधान जी ! आप यही नियम ग्रहण कर लो । पर ध्यान रखना कि भोजन मे अगर छोटा सा ककर भी आ गया तो आपका नियम भग हो जाएगा ।"

"हाँ इस वात का तो पूरा ध्यान रखूँगा महाराज ! भोजन मे भी ककर-पत्थर नही खाऊँगा ।" कहकर प्रधान जी महाराज के साथ रवाना हो गए ।

घर आने के वाद अव प्रधान जी को अपने लिये हुए नियम का ध्यान आया । वैसे वह अपनी वात के पक्के थे अत रसोई का काम करने वाले कर्मचारियों से वोले—'देखो ! खाने की सम्पूर्ण वस्तुएँ वडी वारीकी मे साफ करके वनाया करो, एक भी ककर भोजन मे नहीं आना चाहिये अन्यथा तुम सवको नौकरी से वर्खास्त कर दूँगा ।"

नौकर सभी सावधानी से काम करने लगे । हर समय उन्हे मालिक की नाराजगी का भय वना रहता था और मंत्री भी वहुत देख-भालकर भोजन करता

था। इस प्रकार व्रत तो मत्री जी ने बडी चालाकी से लिया था किन्तु उसे पालन करना भी सरल नही था, उसके लिये भी वहुत विवेक रखना पडता था।

इतनी सावधानी और विवेक का परिणाम यह हुआ कि भोजन की प्रत्येक वस्तु शुद्ध रहने लगी तथा ककरो के साथ ही अनाज आदि मे रहे हुए जीव-जन्तु एव जाले आदि निकलने लग गये।

कुछ समय बाद ही प्रधान जी को महसूस हो गया कि पत्थर खाने का त्याग कर देने से वास्तव मे ही बडा लाभ हुआ है। क्योकि विवेकपूर्वक अनाज साफ होता है तथा इसी प्रकार खाना वनता है अत जीव-जतुओ की हिंसा से वचा जाता है। उन्हे यह भी समझ मे आ गया कि सत जो कुछ भी कहते हैं वह वडा सारगर्भित होता है तथा सवर का कारण बनता है। यह शरीर तो एक दिन जाना ही है, इसकी चाहे जितनी हिफाजत क्यो न की जाय, इससे अच्छा तो यही है कि इससे कुछ लाभ उठा लिया जाय।

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा भी है—

यस्य ग्लानिभयेन नोपशमनम् नायबिल सेवितम् ।
नो सामायिकमात्मशुद्धिजनक नैकाशन शुद्धित ॥
स्वादिष्टासन-पान-यान विभवैर्नक्तदिव पोषितम् ।
हा नष्टम् तदपि क्षणेन जरया, मृत्या शरीर रुजा ॥

अर्थात्—शरीर की शक्ति क्षीण हो जाएगी इस भय से कभी उपवास नही किया, न ही कभी आयविल तप ही किया। सत महापुरुषो ने वहुत कहा कि उपवास, आयविल नही होता तो सामायिक ही कर लो, कम से कम एक घटा ईश-भक्ति और स्वाध्याय मे तो गुजरेगा और उससे आत्म-शुद्धि भी हो सकेगी। किन्तु वह भी नहीं की गई। इसके पश्चात् भी अधिक भूखा न रहा जाय इसलिये एकाशन का विधान किया गया, पर एकाशन भी नही हो सका और इस शरीर को खूब स्वादिष्ट खिला-पिला कर पुष्ट किया। किन्तु इससे भी क्या लाभ हुआ? आखिर तो वह वृद्धावस्था और क्षय को पाकर नष्ट हुआ ही।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव शरीर पाकर भी व्यक्ति कायागुप्ति का ध्यान न रखता हुआ उसे शुभ कार्यो मे लगाने के वजाय अशुभ कार्यो मे लगाता है तथा दिन-रात अच्छा खिला-पिलाकर उसे पुष्ट करने के प्रयत्न मे ही वना रहता है। शरीर को कष्ट न पहुँचे, इसलिये दस कदम चलना भी हो तो मोटर, गाडी या अन्य सवारी मे चढकर ही जाता है। शरीर दुवला न हो जाय इसलिये उपवास,

आयंबिल अथवा एकासन भी कभी नहीं करता तथा सुबह, दोपहर शाम या रात किसी भी समय खाने-पीने मे जुटा रहता है। भक्ष्याभक्ष्य का भी ध्यान नही रखता तथा मदिरा मास आदि हिंसाजनित वस्तुओ का नि सकोच उपयोग करता है। और तो और व्यक्ति रात्रि-भोजन का भी त्याग नही करता। भगवान के आदेशानुसार अगर मनुष्य केवल रात को खाना छोड दे तब भी एक वर्ष मे छ महीने की तपस्या उसके पल्ले पड जाती है। आप पूछेंगे यह कैसे ? वह इस प्रकार कि चार प्रहर का दिन और चार प्रहर की रात्रि होती है। अत आत्मोन्नति का इच्छुक व्यक्ति अगर रात में खाने का त्याग कर दे तो रात्रि के चार प्रहर का तप तो उसका सहज ही हो सकता है। एक वर्ष मे छ: महीने की रात होती है और इसलिये उसकी छ महीने की तपस्या हो जाती है।

लेकिन वह भी तो आज श्रावको से नही बन पाता। वे कहते हैं—'हमे जल्दी भूख नही लगती, शाम से खाया नही जाता।' अरे भाई ! प्रात काल अगर समय पर यानी दस बजे के आस-पास व्यक्ति खाना खा ले तो उसे शाम को भूख क्यो नही लगेगी ? लेकिन वह तो दिन को एक बजे या दो बजे तक खाना खाता है, और ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है कि फिर रात तक वह पुन खायेगा।

इसके अलावा चलिये, सदा ही रात्रि-भोजन का त्याग न सही, कम से कम चतुर्दशी एव अष्टमी को रात के खाने का त्याग करना चाहिये। पर वह भी नही। पूछने और कहने पर जवाब मिलता है—"महाराज, याद नहीं रहती।"

सुनकर बडा खेद होता है कि आज व्यक्ति को खाना-पीना, घूमना-फिरना, सैर-सपाटे करना और ठीक समय पर धनोपार्जन के कार्य करना ये सभी कुछ तो याद रहते हैं और इन्हें ठीक समय पर ही नहीं, समय से पहले ही करने को तैयार रहता है। बस केवल सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास अथवा अन्य व्रत नियमों का पालन करना याद नहीं रहता।

पर बन्धुओ याद रखो, इस शरीर के द्वारा चाहे आप व्रत-नियम और त्याग-तपस्या करो और चाहे यह कुछ भी न करके खूब सावधानीपूर्वक पौष्टिक खुराक दे-देकर पुष्ट करो, यह तो निश्चय ही एक दिन साथ छोड देने वाला है। चाहे इन्द्रियो की क्षीणता से, वृद्धावस्था के आ जाने से, रोगो के आक्रमण से और इन सबमे बच गए तो भी काल के आ जाने पर तो इसे जीव का साथ छोड़ना ही पडेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख जस्स वऽत्थि पलायण ।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कखे सुए सिया ॥

—अ० १४-२७

अर्थात्— जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो उससे भागकर बच सकता हो अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूँगा नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

इसीलिये भगवान का आदेश है कि जब उत्तम मानव जन्म मिल गया है और काल का आक्रमण कब हो जाय, इसका कोई भरोसा नही है तब फिर इस अमूल्य जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नही गँवाना चाहिये। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि इस जीवन का लाभ शरीर से ही उठाया जा सकता है। सभी प्रकार की धर्म-क्रियाएँ शरीर के माध्यम से ही हो सकती हैं अत इसे केवल सुख-सुविधा से रखने और पुष्ट करने मे ही न लगे रहकर इसके द्वारा त्याग, तपस्या, दान तथा सेवा आदि शुभ क्रियाएँ करके परलोक सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर ऐसा मानव ने नही किया तो अन्त मे पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी हाथ नही आएगा। और अगले जन्म मे फिर जीव किस गति मे जाएगा क्या, पता। शास्त्र कहते भी है—

सबुज्झह, किं न बुज्झह ?
सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमति राइओ,
नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

—सूत्रकृताग १-२-१-१

अर्थात्— अभी इसी जीवन मे समझो, क्यों नही समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक मे सम्बोधि का मिलना कठिन है।

कितनी सुन्दर बात कही गई है कि इस मानव-जीवन मे तो आर्यक्षेत्र, आर्य-जाति, उच्चकुल और सबसे बढकर सत जनो का समागम भी हमे मिला है जो कि अपने आत्महितकारी प्रवचनो से हमे पुन पुन चेतावनी देते है तथा धर्माराधन की कल्याणकारी क्रियाओ मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। पर इतने सब साधनो के प्राप्त होने पर भी, सत-दर्शन तथा उनके धर्मोपदेशो को सुनने का सुयोग प्राप्त होने पर भी हमारी आत्मा नही जागती है तो फिर अगले जन्म मे यानी परलोक

मे हमे कौन उद्‌बोधन देगा और हम उद्‌बोधन समझ सकने की स्थिति मे होंगे भी या नही, यह कौन जान सकता है ?

इसलिये बधुओ, इस शरीर को सब कुछ मानकर हमे इसकी सार सभाल मे ही अपना समय व्यतीत नही कर देना है, अपितु इसके द्वारा अधिक से अधिक आत्म-कल्याण कर लेना है। इस शरीर को तो एक दिन समाप्त होना ही है। हम तो क्या चीज हैं, मरुदेवी माता, जिनका आयुष्य एक करोड पूर्व का था और धर्मग्रन्थो के अनुसार जिन्होने अपनी पैसठ हजार पीढियाँ अपनी आँखो से देखी थी, उन्हे भी काल आकर ले ही गया था। फिर आप व हमारी आयु उनके मुकावले क्या है ? और जितनी हम अदाज लगाते हैं उतने मे भी कदम-कदम पर क्या मृत्यु के द्वारा भय नही है ? मृत्यु तो न वच्चे को छोडती है न जवानो पर तरस खाती है और न ही वृद्धावस्था का लिहाज करती है। यानी किसी भी अवस्था मे और किसी भी क्षण वह तो पलक झपकते ही जीव को ले उडती है।

तो इस बात को भली-भाँति समझकर मनुष्य को संवर का आराधन करने के लिये कायागुप्ति को ध्यान मे रखते हुए शरीर को शुभ क्रियाओ मे प्रवृत्त करना चाहिये। प्रश्न उठता है कि शरीर से शुभ क्रियाएँ किस प्रकार की जायें ? इस विषय मे कहा गया है—

> जय चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जय सए।
> जय भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्म न बन्धई॥
>
> —दशवैकालिक सूत्र, अ, ४

अर्थात्—जीव यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक खडा होवे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक भाषण करे तो वह पाप कर्म को नही वांधता है।

साराश यही है कि अगर मनुष्य पूर्ण सावधानी से जीव-जन्तुओ की रक्षा करते हुए चले, वैठे, सोए तथा भोजनादि करे एव इसी प्रकार विवेकपूर्वक किसी का मन न दुखाते हुए वोले तो उसकी आत्मा पाप कर्मों से नही वँधती। अत अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्यक्ति को व्रतादि ग्रहण करने चाहिए।

शास्त्रो मे सभी प्रकार के विधान हैं। जो अधिक त्याग नही कर सकता अथवा कडे नियमो का पालन नही कर सकता उसके लिए अणुव्रत वताए गये हैं और जो पूर्णतया दृढ है उसके लिए महाव्रत वताए हैं।

आप श्रावको के व्रत एकदेश कहलाते हैं फिर भी वे सुवर्णालकार के समान हैं। जिस प्रकार सोने के आभूषण टट-फूट जाएँ तो पुन वनवाकर उन्हे नया रूप दिया जाता है, इसी प्रकार आपके व्रतो के भग होने पर प्रायश्चित्त आदि के विधान से उन्हें पुन नया वना लिया जाता है।

किन्तु हम लोगो के व्रत मोतियो के आभूषणो के समान हैं। मोती का पानी उतरने पर फिर वह किसी महत्व का नही रह जाता, उसी प्रकार हमारे व्रतो का भग भी साधुत्व को पूर्णतया समाप्त कर देता है। साधु वनने वाला अगर कहे कि मुझे अमुक व्रत मे थोडी छूट और अमुक व्रत मे कुछ गु जाइश चाहिए तो वह कदापि नही हो सकता।

एक वार हमारे पास एक दीक्षार्थी आया। वह वोला—"महाराज! मैं सयम ग्रहण करना चाहता हूँ किन्तु शरीर के लिए वस रात को थोडी सी तम्वाकू खाने की सुविधा चाहिए।" उस दीक्षार्थी को हमने उसी वक्त रवाना कर दिया। क्योकि हमारे व्रतो मे कही छूट नही है। साधु चाहे जितना वीमार हो और मर भी क्यो न जाय, वह रात्रि को दवा भी नही लेता फिर तम्वाकू-सिगरेट जैसी नशीली वस्तु ग्रहण करने का तो सवाल ही कहाँ उठता है?

तो मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य से जितना भी हो सके शरीर-गुप्ति का ध्यान रखना चाहिये तथा प्रत्येक कार्य पूर्ण विवेक एव यतना पूर्वक करना चाहिये। उसे सकल्पी हिंसा का तो क्या असावधानी और अनजानपने से होने वाली हिंसा से ही वचना चाहिये। जो व्यक्ति अपने व्रतो मे दृढ होता है, वह अपने आपको तो पाप से वचाता ही है, कोशिश करके औरो को भी पाप-क्रियाओ से वचा लेता है। एक उदाहरण से आप यह वात भली-भांति समझ लेंगे।

जयपुर के एक राजा के दरवार में दिगवर धर्म को मानने वाला मत्री था। वह जैन था अत श्रावक के व्रतो का पूर्णतया पालन करता था। वह मत्री अत्यन्त होशियार और राज-कार्य मे निपुण था अत राजा भी उसका वडा सम्मान करता था तथा अपना हितैषी मानकर सदा अपने साथ रखा करता था।

(एक वार राजा ने शिकार के लिए जाने का निश्चय किया और मत्री को भी साथ चलने के लिये कहा। मत्री वडे पशोपेश मे पड गया। वह सोचने लगा—"मैं न तो शिकार खेल सकता हूँ और न ही शिकार खेलने वाले की सहायता ही कर सकता हूँ। इसके अलावा शिकार होने वाले प्राणी को किस प्रकार अपनी आंखो के सामने तडपते हुए देखूँगा? मेरा तो हृदय ही फट जाएगा। किन्तु राजा की आज्ञा को अमान्य भी कैसे करूँ?"

इस प्रकार सोचते-सोचते अन्त मे उसे विचार आया कि—'मैं राजा के साथ जाऊँगा तो सम्भव है राजा को किसी प्रकार शिकार करने से बचा भी लू । और अगर भाग्य ने साथ दिया तो हो सकता है राजा का शिकार करना सदा के लिये छूट जाय।'

इसी प्रकार विचारो के ताने-वाने वुनते हुए वह राजा के साथ चल दिया क्योकि राजाज्ञा का उल्लघन करना उचित नहीं था।

राजा और मत्री दोनो ही घोडे पर सवार गहन वन मे चले जा रहे थे कि उन्हे एक हरिण भागता हुआ दिखाई दिया। हरिण की आदत होती है कि वह भागते-भागते भी पीछे मुडकर देखता जाता है। वह हरिण भी उसी प्रकार वीच-वीच में पीछे मुडकर देख लेता था।

हरिण की यह क्रिया देखकर राजा ने कुतूहलवश मत्री से पूछ लिया—"मत्रिवर! हरिण के इस प्रकार मुड-मुडकर देखने का क्या अर्थ है? क्यो देखता है यह इस प्रकार?"

मत्री वडा हाजिर जवाव था अत उसने ठीक मौका देखकर पहले तो कहा—"महाराज! हरिण के इस प्रकार मुडकर देखने कारण तो मैं जानता हू किन्तु कैसे वताऊँ? आप कुपित हो जाएँगे।"

राजा हँस पडे और वोले—"आप भी क्या वात करते हैं मत्री जी? भला ऐसी वातो पर भी कहीं मैं नाराज हो सकता हूँ? आप निस्सकोच वताइये कि क्या कारण है इसके मुड-मुडकर देखने का।"

"तो सुनिये महाराज! आप क्षत्रिय हैं और यह हरिण भली-भांति जानता है कि क्षत्रिय भागते हुए दुश्मन पर भी गोली नहीं चलाते। इसी वात को ध्यान मे रखकर यह भागता जा रहा है और यही सोचता हुआ मुडकर देख रहा है कि आप सच्चे क्षत्रिय हैं या नही?'

मत्री की वात सुनकर राजा चुप रह गया। वास्तव मे यह बात सच थी कि सच्चा क्षत्रिय पीठ फेरने वाले पर वार नही करता। यद्यपि राजा का प्रश्न एव मत्री का उत्तर दोनो ही मन वहलाने के लिये थे। किन्तु राजा को वडी शर्मिन्दगी महसूस हुई और उसने सोचा—

"सच्चे क्षत्रिय तो भाग जाने वाले शत्रु पर भी गोली नही चलाते हैं तो फिर इस भोले हरिण ने या वन के अन्य पशु पक्षियों ने मेरा क्या विगाडा है जो मैं उन्हे अपनी गोली का शिकार वनाऊँ?"

यह विचार कर उसने उसी क्षण से शिकार खेलने का सदा के लिए त्याग कर दिया ।

बन्धुओ, आप समझ ही गए होगे कि त्याग-नियमो मे कितनी शक्ति होती है ? मन्त्री व्रतधारी था अत उसने राजा को भी प्रभावित करके उसकी शारीरिक हिंसक क्रियाओ को तिलाञ्जलि दिलवा दी और शरीर के द्वारा की जाने वाली निरर्थक हिंसा पर काबू करवा दिया ।

इस प्रकार मुझे यही कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन्द्रियो पर, मन पर और शरीर पर अकुश रखना चाहिए तथा अपना और पर का कल्याण करने का प्रयत्न करते हुए सवर-मार्ग पर बढना चाहिये । तभी भगवान के आदेश का पालन होगा तथा अपनी आत्मा भी कर्म-मुक्त हो सकेगी ।

हमारा इतिहास बताता है कि अमितगति नामक एक महा विद्वान जैनाचार्य हुए हैं । आपने 'सुभाषित रत्न सदोह' नामक ग्रन्थ की रचना की है । सुभाषित का अर्थ ही सुन्दर वचन लिया जाता है पर उसमे भी रत्न के समान बहुमूल्य श्लोको का सग्रह होने के कारण ग्रन्थ बहुत ही उत्तम और दूसरे शब्दो मे अमूल्य साबित हुआ है । ग्रन्थ मे अनेक विषयो पर प्रकाश डाला गया है और उनमे पाँच समिति एव तीन गुप्ति भी हैं ।

गुप्तियो के विषयो मे आचार्य अमितगति का एक श्लोक इस प्रकार है—

'प्रवृत्त्ये स्वातवचस्तनूना, सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा ।
यास्ता जिनेन्द्रा कथयन्ति तिस्रो, गुप्तिर्विधूताऽखिल कर्मबन्ध ॥

स्वात यानी मन, वच यानी वाणी और तनु याने काया । मन, वचन और तन, ये तीनो गुप्तियाँ हैं । इन तीनो की प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें बुद्धि एव विवेक के द्वारा शुभ कार्यों की तरफ ले जाने से आत्म-कल्याण होता है । अभिप्राय यही है कि मन, वचन एव शरीर की प्रवृत्ति कषायो की ओर होती है जिनसे कर्मों का निविड बध होता है । किन्तु उन प्रवृत्तियो को सूत्र यानी सिद्धान्त के अनुसार निवृत्त करना यानी अशुभ कार्यो की ओर प्रवृत्त होते हुए मन, वचन एव शरीर को शुभ कर्मों की ओर ले जाना कल्याण मार्ग है और इसी को श्री जिनेश्वर भगवान ने गुप्ति कहा है ।

आगे कहा है—जो मुमुक्षु प्राणी इन तीनो गुप्तियो को प्रवृत्ति की ओर से निवृत्ति की ओर मोड लेते है वे अखिल कर्मों के बन्धनो को तोड डालने में पूण समर्थ बन जाते हैं ।

क्षणों की महत्ता

इस पचम काल मे तो वैसे भी प्राणियो की औसतन आयु अत्यल्प है पर हम तो इसे भी एक एक क्षण करके निरर्थक करते चले जा रहे हैं। परिणाम क्या होगा ? जब हम समय की कद्र नही करेंगे तो समय कब हमारी परवाह करेगा ? वह तो पानी के स्रोत की तरह निरतर बहता चला जाएगा।

बन्धुओ, एक-एक क्षण का कितना महत्व है इसका आप अन्दाजा नही लगा सकते। फिर भी अगर कुछ समझना है तो धन्ना मुनि के जीवन से यह समझा जा सकता है।

धन्ना मुनि अतुल सम्पत्ति एव ऋद्धि-सिद्धि से परिपूर्ण कुल मे उत्पन्न हुए थे। किन्तु उस सब को ठोकर मारकर वे साधु बन गये और आत्म-कल्याण मे जुट गये। उनका सयमी जीवन केवल नौ मास का रहा, जिसमे वे बेले-बेले के पश्चात् पारणा करते थे और पारणे के दिन आयबिल मे वे जो भी रूखा-सूखा खाते थे उसे भी पानी मे भिगो देते और कहा जाता है कि इक्कीस बार पुन.-पुन धोकर उस अन्न को ग्रहण करते थे।

केवल नौ मास की दीक्षावधि मे ही उन्होने ऐसी सराहनीय तपस्या की और मोक्ष मे ले जाने वाली 'करणी' कर ली किन्तु आयुष्य-कर्म थोडा सा बाकी रह गया था अत उन्हें सर्वार्थसिद्धि-विमान मे जाना पडा और उसके पश्चात् एक जन्म लेकर ही वे मोक्ष के अधिकारी बन गए।

यहाँ मुझे आपको यह बताना है कि उनकी आयु मे कितना समय बाकी था, जिसके कारण उन्हे सर्वार्थसिद्धि मे जाकर एक जन्म और लेना पडा ? आपको जान-कर आश्चर्य होगा कि केवल सात 'लव' अर्थात् सात क्षण ही उनके आयुष्य-कर्म को और मिल जाते तो वे उसी जन्म मे मुक्ति प्राप्त कर लेते किन्तु सात क्षणों की कमी के कारण उन्हें मोक्ष-प्राप्त करने मे विलम्ब हुआ।

केवल सात क्षण, क्या इस ज्वलत उदाहरण से भी आपको समय का महत्व नही मालूम होता ? धन्ना मुनि के तो सात क्षणो की कमी ही मुक्ति प्राप्त करने में बाधा बनी, किन्तु हमारे तो क्षण ही क्या, मिनिट, घन्टे, प्रहर, दिन, महीने और वर्ष के वर्ष ही प्रमाद और केवल शरीर को सुख पहुचाने मे व्यतीत होते जा रहे हैं। और व्यतीत भी हो रहे हैं तो सार्थक नही वरन् पूर्णतया निरर्थक जा रहे हैं।

यह शरीर तो आप जानते ही हैं कि एक दिन निर्जीव होकर मिट्टी मे दब जाएगा या अग्नि की भेंट चढेगा। फिर इसको पुष्ट करना ही जीवन का लक्ष्य मानकर चलने से हमारा कब कल्याण होगा ? जीवन का लक्ष्य देह को पुष्ट करते रहना है या ससार से मुक्त होकर पुन कभी भी देह धारण से निवृत्त होना ? इस शरीर की कद्र कब तक है ? जब तक इसमे आत्मा है। आत्मा के अलग होते ही यह असह्य ग्लानि और नफरत का कारण बनती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बाल मस्तक पर रहते हैं तब तक वे सुगधित तेल से सुवासित किये जाते हैं और दिन भर मे कई बार सवारे जाते हैं। किन्तु मस्तक से अलग होते ही उनकी कोई कद्र होती है ? कोई उन्हें पूछता है या उन्हे सम्हाल कर रखता है ? किसी कवि ने कहा भी है—

"हा, केश आज भूपर, कैसे पडे हुए हैं ?
मस्तक से जो कतर कर नीचे गिरा दिये हैं।
अब वो नहीं है खुशबू, पैरो तले दबे हैं,
पुछते जो रोज थे वो, धूली पै आ पडे हैं।
राजा रईस उनमे, नाना इतर लगाते
सुरभित उन्हें बनाकर, दिल मे खुशी मनाते।
पर हाय, आज केशव, निज स्थान च्युत हुए हो,
हा ! स्थान भ्रष्ट होकर अपमान पा रहे हो।"

भावुक कवि जमीन पर पडे हुए धूलि-धूसरित बालों को देखकर खेद प्रकट करता हुआ कहता है अफसोस है कि ये बाल जो कभी किसी के मस्तक की शोभा थे, आज काटकर जमीन पर फेंक दिये गये हैं।

इन्ही बालो को जब कि वे किसी राजा, रईस या अन्य व्यक्तियो के सिरो पर होंगे, नाना प्रकार के सुगन्धित तेल व इत्र से सुवासित किया जाता होगा और इन्हें भाँति-भाँति से सवारा जाता होगा। लोग बडे गर्व से इन्हीं बालो पर हाथ फेरकर प्रसन्न होते होगे।

किन्तु अपने स्थान से च्युत होकर आज ये कितने अपमानित हो रहे हैं और पैरो तले रौंदे जा रहे हैं।

यह तो हुई है केशो की बात। यद्यपि केशो को मस्तक से काटकर गिरा दिया गया है और वे यत्र-तत्र बिखर रहे हैं, फिर भी इनकी दशा शरीर से बेहतर है। बालो को काट कर कम से कम छोड तो दिया जाता है। पर शरीर से जीवात्मा के चले जाने पर तो मनुष्य उसे देखकर डरता है। अल्पकाल मे ही उसमें से उठने

वाली दुर्गन्ध से नाक-भौंह सिकोडता है, इतना ही नही वह तब तक चैन नहीं लेता, जब तक कि उसे श्मशान मे ले जाकर शीघ्रातिशीघ्र भस्मीभूत न कर दे या पृथ्वी मे बहुत गहरे न दबा दे।

शरीर के इस अन्त को प्रत्येक व्यक्ति देखता है और समझता है कि मृत्यु के पश्चात् इसका कोई लाभ नही, कोई इसे देखकर प्रसन्न होने वाला नहीं और न ही इसके सौन्दर्य और परिपुष्टता पर रीझने वाला ही है। फिर भी वह नही चेतता। अर्थात् केवल शरीर का जतन ही जीवन भर करता है, आत्मा का भला नही सोचता। आत्मा का भला अगर व्यक्ति सोच ले तो वह इसी शरीर के द्वारा अनन्त कर्मों का क्षय कर सकता है।

आत्म-उत्थान का साधन भी यह शरीर है और आत्म-पतन का भी। जिस प्रकार तीक्ष्ण औजारो से ऑपरेशन आदि करके डॉक्टर मरीज की जीवनावधि बढा देते हैं, उन्ही औजारो से क्षण भर मे ही जीवन-डोरी काटी भी जा सकती है। दूसरा उदाहरण अग्नि का भी लिया जा सकता है कि जिस आग से बनाया हुआ भोजन शरीर को जीवन प्रदान करता है वही आग जीवन को नष्ट भी कर डालती है।

अन्त मे मुझे केवल यही कहना है कि सवर के भेदो मे मनगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति का जो महत्व बताया है उस पर दृढ विश्वास रखते हुए हमे अपने मन, वचन और शरीर को विषयो की ओर जाने से मोडना चाहिए तथा धर्माराधन की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व अधिक है क्योंकि शरीर तो अल्पकाल मे ही साथ छोड देगा किन्तु उसके कारण अगर आत्मा कर्म-बन्धनो से अधिक जकड गई तो न जाने कितने जन्मो तक नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। अतः अपनी गुप्तियो की सहायता से हमे शरीर का मोह छोडकर संवर-धर्म पर अग्रसर होना है।

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म पर दृढ रहने के लिए कितना प्रेरणात्मक आदेश दिया है—

'चइज्ज देह न हु धम्मसासण।

यानी देह को (आवश्यकता पडने पर) भले ही छोड दो, किन्तु अपने धर्म-शासन को मत छोडो।

जो भव्य पुरुष इस बात को हृदयगम कर लेते हैं वे इस लोक मे भी सतुष्ट और सुखी रहते हैं तथा परलोक मे भी सुखी बनते हैं।

●●

१४ | भोजन किया न किया....!

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

भगवान ने सवर तत्त्व के सत्तावन भेद बताए हैं। उनमें से प्रथम आठ भेद जिनमे पाँच समिति और तीन गुप्ति हैं, इनका वर्णन अब तक किया जा चुका है। अब अगले भेदो मे बाईस परिषह बताए जाएँगे।

परिषह किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर मे विषय इस प्रकार समझा जा सकता है कि धर्मरक्षा के लिए, निवृत्ति मार्ग पर सुदृढ रहने के लिए तथा आत्म-कर्मों की निर्जरा के लिए जब साधक सयम मार्ग पर बढता है तब उसके मार्ग मे नाना प्रकार की बाधाएँ और कष्ट आते हैं, उन्हे ही परिषहो की सज्ञा दी जाती है।

श्री तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय मे लिखा गया है—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा ।

धर्म के मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए जो कष्ट सहन किये जाते हैं वे ही परिषह कहलाते हैं। शास्त्रकारो ने बाईस परिषह बताये हैं। हम सतों के लिए तो परिषह सिर्फ बाईस हैं किन्तु आप लोगो के तो बाईस पर दो बिन्दियाँ और लगा दी जायें तब भी शायद कम पडेंगी।

परिषहो को समता पूर्वक सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती है पर अगर मन चचल हो गया और उन्हें सहते समय दु:ख और खेद का अनुभव किया या हाय-हाय करने लग गये तो कर्मों की निर्जरा नही होगी। इसलिये महापुरुष कहते हैं कि अगर कर्म क्षय करने हैं तो पूर्ण सम-भाव रखो तथा उस समय इस जीवन को अल्प तथा शरीर को नाशवान मानकर इन पर से ममता छोड दो। कष्ट सहन करते समय ऐसी भावना होनी चाहिए कि—

"कौन बच सकता है यहाँ, इस काल की तलवार से ?
क्यो न पकडू सत्य मारग सुख से रहने के लिए।
ज्ञान रूपी जल को ले मैं द्वेष अग्नि दूँ बुझा,
लोभ, मोह अरु क्रोध आदि सब को हरने के लिये।

कवि का कथन है कि काल रूपी इस तलवार से न तो आज तक कोई बचा है और न भविष्य मे भी बचेगा। फिर मैं परलोक मे शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिए सत्य एव सवर का मार्ग क्यो न अपनाऊँ ?

सन्त-मुनिराज अपने मन मे यही भावना रखते हैं कि जब मुझे शाश्वत सुख की प्राप्ति करना ही है तो फिर परिषहो से घवराना कैसा ? कर्मों के भुगतान को अगर रोते-रोते चुकाया तो क्या लाभ होगा ? जब भोगना ही है तो हँसकर भोगना चाहिये। पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज अपनी कविता मे फरमाते हैं कि—

लेनदार माँगन को आया,
तैयारी रख देवन की।

लेनदार तो अपना धन वसूल करेगा ही, छोडेगा तो नही, चाहे रो-रोकर दें या हँसकर। तब फिर रोने से क्या फायदा। कर्मों के भुगतान का भी यही हाल है। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती को भी नही छोडते। समदृष्टि जीव भी नरक मे जाते हैं क्योकि समदृष्टि तो वे वाद मे बनते हैं लेकिन पूर्व मे बधे हुए कर्म तो भोगने ही पडते हैं।

राजा श्रेणिक जो कि आगामी चौबीसी मे तीर्थंकर बनने वाले हैं, इस समय नर्क की क्षेत्र-वेदना को भोग रहे हैं क्योकि तीर्थंकर गोत्र वाँधने से पहिले ही उनके निविड कर्म बँधे हुए थे।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि कर्मों का भुगतान तो अवश्य ही करना पडता है और वे ही परिषह के रूप मे सामने आते हैं। किन्तु अगर उन्हें सम-भाव से सहन कर लिया जाय तो कर्मों की निर्जरा हो जाती है और विषम भाव हृदय मे लाने पर जहाँ पूर्व कर्म ही नही झड पाते, वहाँ नवीन कर्मों का वन्धन हो जाता है।

कवि ने आगे कहा है—'कितना अच्छा हो कि मैं सम्यक् ज्ञान रूपी जल से ससार के अन्य प्राणियो के प्रति रही हुई अपनी द्वेषाग्नि को वुझा दूँ। क्योकि जव मुझ मे ईर्ष्या-द्वेष नही रहेगा तो क्रोध, लोभ एव मोह आदि भी मेरा पीछा छोड देंगे।' लेकिन यह तभी तो हो सकेगा जबकि ज्ञान एव समता रूपी शीतल जल अन्त करण मे हिलोरें लेगा।

गज सुकुमाल मुनि के मस्तक पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने खैर के जलते हुए अगारे रख दिये थे लेकिन उनके अन्तर्मानस मे समभाव की इतनी शीतल धारा प्रवाहित थी कि मरणातक कष्ट पहुचाने वाले उस व्यक्ति के प्रति भी उनके मन में क्रोध या द्वेष की अग्नि प्रज्वलित नही हुई। यह उनकी दृढ समता की भावना से ही सभव हुआ। ऐसे-ऐसे उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि भावना में कितनी शक्ति होती है और उसका कितना महत्व माना जाता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

अद्भुत अतिथिसत्कार

एक बार एक घी का व्यापारी और चमडे का व्यापारी दोनो साथ-साथ अपनी इच्छित वस्तुएँ खरीदने के लिए अपने नगर से रवाना हुए।

चलते-चलते एक शहर आया और वे एक सेठ के यहाँ रात्रि व्यतीत करने के लिये ठहरे। सेठ ने उन्हे खुशी से अपने यहाँ ठहराया किन्तु घी खरीदने वाले व्यापारी को अपनी हवेली के अन्दर स्थान दिया और चमडा खरीदने वाले को बाहर। चमडे के खरीददार को यह बहुत बुरा लगा किन्तु वह करता क्या? रात बितानी थी अत मन मारकर हवेली के बाहर बरामदे मे ही सो गया। उधर घी का व्यापारी हवेली के अन्दर ठहराया जाने के कारण बडा प्रसन्न हुआ और ठाठ से सो गया।

प्रात काल होते ही दोनो पुन रवाना हो गये। सेठ से दोनो ने ही कुछ नहीं पूछा। कुछ दिन पश्चात् दोनो अपनी अपनी वस्तुएँ खरीदकर अपने नगर मे पहुँच गये।

सयोगवश कुछ महीनो के पश्चात् वे घी और चमडे के व्यापारी फिर साथ-साथ अपनी-अपनी चीजें बेचने के लिए निकले। मार्ग मे फिर उसी शहर के पास रात्रि हो गई जहाँ वे पहले ठहरे थे। अत वे इस बार भी उसी सेठ के यहा पहुचे और रात्रिविश्राम के लिए इच्छा व्यक्त की।

सेठजी बडे भले थे और अतिथियो के सत्कार की भावना रखते थे। उन्होने सहर्ष दोनो को ठहरने के लिये स्वीकृति दे दी। किन्तु आश्चय की बात यह हुई कि इस बार उन्होने चमडे के व्यापारी को अन्दर हवेली मे ठहराया तथा घी के व्यापारी को बाहर! दोनो ही सेठजी के इस व्यवहार को देखकर दग रह गये और प्रात काल इसका कारण पूछे बिना न रह सके।

प्रभात होते ही व्यापारियो ने पूछ लिया—

"सेठ साहब! हम वही तो दोनो व्यक्ति हैं जो आपके यहाँ पहले और अब

आये हैं। पर आपके अतिथि-सत्कार मे क्या रहस्य है कि आपने हम दोनो को पिछली बार जिन स्थानों पर ठहराया था, इस बार उन्हें बदल दिया ?"

सेठजी व्यापारियो के प्रश्न पर मुस्कराये और बोले—"भाई मैं जानता हूँ कि आप वही दोनो व्यक्ति हैं जो पहले भी मेरे यहाँ आकर ठहरे थे। पर मैंने इस बार जानबूझकर आप दोनो के स्थान बदले हैं। इसका कारण यह है कि आप दोनो की भावनाओ मे पहले और अभी मे बडा अन्तर है।"

सेठ की बात सुनकर व्यापारी और भी चकराये पर बोले कुछ नही, क्योकि उन्हें कुछ सूझ ही नही रहा था। अत सेठजी ने स्वय ही उनकी जिज्ञासा को शांत करने के लिये बताना शुरू किया—"देखो बन्धु ! आप दोनो ही व्यापारी हैं और मेरे लिये समान रूप से आदरणीय हैं। किन्तु आप लोगो के दोनो बार आने मे स्वय आपकी भावनाओ मे बडा अन्तर था। और वह इस प्रकार कि आप मे से जो घी खरीदना चाहता था वह चाहता था कि घी सस्ता मिले और जो चमडा खरीदना चाहता था वह सोचता था कि चमडा सस्ता मिले। किन्तु घी तभी सस्ता होता जबकि देश मे खुशहाली होती और चमडा तब सस्ता होता जबकि पशु अधिक मरते।"

"तो उस समय घी खरीदने वाले की भावना उत्तम थी और चमडा खरीदने वाले की निकृष्ट। इसीलिए मैंने भावना को महत्व देते हुए घी खरीदने वाले को अन्दर ठहराया था और चमडा खरीदने वाले को बाहर। किन्तु इस बार आप दोनो की भावनाएँ बदली हुई हैं क्योकि आप मे से एक घी बेचना चाहता है और एक चमडा। पर घी बेचने वाला घी महँगा बेंचना चाहता है और सोचता है कि देश मे घी दूध की कमी हो जाय तो मेरा घी महँगा बिक सके। इस हीन भावना के कारण मैंने इस बार घी बेंचने वाले को बाहर ठहराया और चमडा बेचने वाले को अन्दर क्योंकि वह चमडा महँगा बेंचना चाहता है अत सोचता है कि पशु बहुत कम मरें तो चमडा कम निकले और मेरा चमडा महँगा बिक सके।"

सेठ की बात सुनकर तथा उनके हृदय मे भावनाओ की ऐसी परख देखकर दोनो व्यापारी अत्यन्त शर्मिन्दा हुए और अपनी भावनाओ के लिये पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से रवाना हो गये।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को कर्मों की निर्जरा करने के लिये सवर धर्म का आराधन करना चाहिये और उसके लिए सर्वप्रथम उसे अपनी भावनाओ मे सरलता, शुद्धता एव समता लाना चाहिये। जब तक व्यक्ति की भावनाओ मे क्रोध, मोह, लोभ एव तृष्णा का स्थान रहेगा, तब तक उसकी आत्मा निर्मल नहीं

हो सकेगी। अत प्रत्येक विषम परिस्थिति मे मनुष्य को समभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए और जो भी सकट या कष्ट आएँ उन्हें शाति के साथ सहना चाहिए।

अभी मैंने आपको बताया है कि सयम की साधना के मार्ग में मुख्य बाईस परिषह समय-असमय आते है जो कि भूख, प्यास, शीत, ताप आदि— हैं। क्रमानुसार इनका विवेचन किया जाएगा। आज तो हम प्रथम परिषह भूख अर्थात् क्षुधा को ले रहे हैं।

ससार का प्रत्येक प्राणी क्षुधा परिषह से परिचित है। किन्तु इससे विशेष परिचित वे अभावग्रस्त व्यक्ति हैं जिन्हे कठिन परिश्रम करने पर भी भरपेट अन्न कभी नही मिलता और नित्य ही आधा पेट खाकर रहना पडता है। आप अमीरो को तो क्षुधा-परिषह का कष्ट भोगना नही पडता क्योंकि आपका तो पहले का खाया हुआ ही पच नही पाता कि आप और खा लेते हैं तथा दिन या रात जिस समय भी इच्छा होती है उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ उदरस्थ करते रहते हैं।

तो प्रथम तो निर्धन व्यक्ति क्षुधा परिषह सहन करते हैं और दूसरे सत-मुनि-राज। अब हमे यह देखना है कि दोनो के सहन करने मे क्या अन्तर होता है तथा किसके कर्मों की निर्जरा होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि एक निर्धन व्यक्ति जिसे भरपेट अन्न जुट ही नही पाता उसे प्रथम तो मजबूर होकर भूख का कष्ट सहन करना पडता है, दूसरे वह उस कष्ट को रोते-झीकते और हाय-हाय करते हुए सहन करता है। भोजन के अभाव मे वह आर्तध्यान करता है और उठते बैठते भगवान को कोसा करता है। ऐसी स्थिति मे क्या उसके कर्मों की निर्जरा होती है ? नहीं, जो वस्तु प्राप्त ही नही होती उसके लिये त्याग का प्रश्न कहाँ आता है ? दूसरे वह अप्राप्य वस्तु के अभाव को शाति और सम-भाव से भी तो स्वीकार नहीं करता। अत भोजन के अभाव मे उस भूख को सहने का कष्ट परिषह को सहना या जीतना नही कहलाता।

इसके अलावा कभी-कभी भोज्य-पदार्थों के अभाव मे अत्यन्त दुखी और क्रोधित व्यक्ति मौका पाते ही चोरी करने लगता है, डाकू बन जाता है तथा अनेक बार तो किसी की हत्या करके भी अपनी उदरपूर्ति का उपाय करता है। इसलिये ऐसे व्यक्तियो का भूखा रहना परिषह को सहना नहीं कहलाता और न ही उससे आत्मा को कोई लाभ ही होता है। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्ति जिनको न खाने को पूरा मिलता है और न ही उनके घर द्वार या सम्पत्ति होती है, वे यह सोचकर

सन्यासी भी बन जाते हैं कि कम से कम साधु बन जाने पर भरपेट भोजन तो मिलता रहेगा। किसी ने कहा भी है—

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूड मुडाय भये सन्यासी॥

पर ऐसे सन्यासियो के साधुत्व की नीव त्याग पर आधारित नही होती अत वे सन्यस्त-धर्म का पालन भी समीचीन रूप से नही कर सकते। सच्चा साधु या सन्यासी वही होता है जो प्राप्त ऐश्वर्य या जितनी धन-सम्पत्ति भी उसके पास होती है, उसका वह इच्छा से त्याग करता है। ऐसा त्याग ही उसकी आत्मा को कर्म-मुक्त कर सकता है।

योगशास्त्र मे कहा गया है—

"स्वय त्यक्ता ह्य ेते शमसुखमनन्त विदधति।"

—इन सासारिक भोगो का अपनी इच्छा-पूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि अधिक धन-सम्पत्ति या अथाह वैभव का त्याग करना ही अधिक महत्वपूर्ण नही कहलाता है, अपितु थोडा धन या चार बरतन भी जिसके पास हो और वह व्यक्ति पूर्ण रूप से उन्हें त्याग करने की भावना से छोडता है तो वह त्याग भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना अधिकाधिक वैभव का त्याग करना। तात्पर्य यह कि त्याग की भावना का महत्व अधिक होता है त्यागी जाने वाली सम्पत्ति की मात्रा का नही। त्याग तृष्णा का कहलाता है और उसका त्याग करने वाला ही त्यागी साबित होता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

बाईसवीं पीढ़ी क्या खाएगी ?

एक सेठजी अपनी दुकान पर बैठे थे। दीपावली का समय था अत मुनीम के द्वारा किये हुए हिसाब-किताब के बही-खाते उनके समक्ष खुले हुए रखे थे। सेठजी ने बहीखातो को देखा तो उन्हें महसूस हुआ कि मेरे पास इतना धन तो है कि मेरी इक्कीस पीढियाँ भी कुछ कार्य न करें तो बैठे-बैठे खा सकती हैं।

पर साथ ही उन्हें यह भी विचार आया कि मेरा यह धन इक्कीस पीढियों तक के लिये तो पर्याप्त है किन्तु बाईसवी पीढी फिर क्या खायेगी ? यह विचार आते ही सेठजी को चिन्ता सवार हो गई और उनका चेहरा उतर गया।

ऐसी ही मन स्थिति मे वे घर पहुचे। घर पर सेठानी पति की प्रतीक्षा कर रही थी कि सेठजी आएँ तो भोजन करें। किन्तु जब सेठजी घर आए और सेठानी

ने उनका चेहरा चिन्तित और उदास देखा तो पूछ लिया—"क्या बात है ? क्या दुकान पर कोई गडबड हो गई ?"

सेठजी ने उत्तर दिया—'नही, गडबड तो कुछ नही हुई। बात यह कि आज अपनी दुकान का और अन्य सभी प्रकार की आमदनियो का हिसाब-किताब हुआ है और उससे मालूम हुआ है कि हमारी इक्कीस पीढियाँ अपने धन को बैठे बैठे खा सकती हैं। किन्तु मैं सोचता हूँ कि यह धन जब इक्कीस पीढियां ही खा पाएँगी तो फिर बाईसवी पीढी क्या करेगी, वह क्या खायेगी ?"

सेठानी ने पति की बात सुनकर मन ही मन अपना माथा ठोक लिया। सेठजी की भावना पर उसे बडा आश्चर्य और खेद हुआ। किन्तु वह बडी समझदार थी अत उसने पति को ठिकाने लाने के प्रयत्न मे कहा "सेठजी! लगता है कि हमारी ग्रह-दशा आजकल ठीक नही है अत अच्छा हो कि हम कुछ दान-पुण्य करें और ब्राह्मणो को भोजन कराएँ।"

सेठजी ने अन्यमनस्कता की स्थिति मे उत्तर दिया—'मेरा दिमाग तो कुछ काम नही करता, तुम जो ठीक समझो करो, जाओ, और अपने पडौस मे ही जो ब्राह्मण देवता हैं उन्हे भोजन के लिए बुला लाओ।'

सेठजी की बात सुनकर सेठानी ब्राह्मण को बुलाने गई, किन्तु कुछ देर बाद वह अकेली ही लौट आई। यह देखकर सेठ ने पूछा—

"क्या हुआ ? ब्राह्मण देवता भोजन करने नही आये ?"

"नही, उन्होने कहा है कि हम भिक्षुक हैं और हमे आज का भोजन प्राप्त हो चुका है।"

"तो उन्हे कल के लिए निमन्त्रण दे दिया होता।" सेठ ने पुन कहा।

सेठानी बोली—"मैंने ब्राह्मण से कहा था कि आप कल हमारे यहाँ भोजन करने के लिए पधारना किन्तु उन्होने कहा दिया है—मैं कल की चिन्ता आज नही करता।"

यह बात सुनकर सेठजी दग रह गये और विस्मय से सेठानी की ओर देखने लगे। मौका ठीक जानकर सेठानी ने सेठ को समझाने के तौर पर कहा—"सेठजी, वह ब्राह्मण तो कल की चिन्ता भी आज नही करता पर आप तो बाईसवी पीढी के लिए भी आज ही चिन्ता कर रहे हैं।"

सेठानी की बात सुनकर सेठजी की अक्ल ठिकाने आ गई और उन्होंने अपनी निरर्थक चिन्ता और तृष्णा के लिये पश्चात्ताप करते हुए संतोषवृत्ति को धारण किया।

उदाहरण से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण के समान ही सतोष, निश्चितता और तृष्णारहित वृत्ति जिसकी होती है वही व्यक्ति इस ससार मे सुखी रहता है तथा अवसर आते ही अपने परिग्रह को तिनके की भाँति छोड सकता है।

शकराचार्य ने 'मोहमुद्गर' मे लिखा है—

> सुरमन्दिरतरुमूलनिवास शय्याभूतलमजिन वस्त्र:।
> सर्वपरिग्रहभोगत्याग कस्य सुख न करोति विराग.॥

—जो देवमदिर या पेड के नीचे पड़े रहते है, जमीन ही जिनकी शैय्या है, मृगछाला ही जिनका वस्त्र है और सारे विषय भोग के सामान जिन्होने त्याग दिये हैं यानी जो सम्पूर्ण कषाय और वासना से रहित हो गये हैं, ऐसे मनुष्य क्यो नही सुखी रहते ? यानी त्यागी सदा सुखी हैं।

क्षुधा परिषह

बन्धुओ, प्रसगवश मैंने अभी त्याग तथा तृष्णा आदि के विषय मे बताया है, किन्तु हमारा आज का मूल विषय बाईस परिषहो मे से प्रथम क्षुधा परिषह को लेकर है।

आप जानते ही हैं और अभी मैंने भी बताया है कि दो प्रकार के व्यक्ति क्षुधा परिषह सहन करते हैं। एक तो वे जिन्हे अन्न जुटता नही अत वे रोते-धोते मजबूरन उस कष्ट को भोगते हैं तथा दूसरे सच्चे सन्त-मुनिराज, जो इच्छा और त्याग की भावना मे इस परिषह को जीतते हैं। उन्हे भिक्षा मिलती है तो अपनी सयमसाधना का निर्वाह करने के लिए शरीर को भाडा दे देते है, और न मिले तो भी पूर्ण आनन्द और शाति से अपने मार्ग पर बढते जाते हैं। इतना ही नही, भिक्षा मिल जाने से ही वे उसे ले लेते हैं, यह भी बात नही है। वे वही भोज्य-पदार्थ ग्रहण करते हैं जो पूर्णतया निर्दोष हो।

भगवान महावीर ने बाईस परिपहो मे से प्रथम परिपह क्षुधा-वेदनीय बताया है। इस विपय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा गया है—

> परिसहाण पविभत्ती, कासवेण पवेइया।
> त मे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।
> दिगिछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामव,
> न छिदे न छिदावए, न पए न पयावए।
>
> —अध्ययन २, गा० १-२

कहा गया है—काश्यय गोत्रीय भगवान महावीर ने परिषहो का विभाग

करने के लिए जो कुछ कहा है, वह मैं आपके सामने कहूँगा और आप मेरी बात क्रमश सुनें ।

कहते हैं—सन्त-मुनिराज एव तपस्वी अपने शरीर को रखने के लिये भिक्षार्थ जावें किन्तु वे किसी वस्तु का छेदन-भेदन न करें और न किसी से करावें । न वे स्वय पकावें और न ही किसी से पकवाएँ । अपितु श्रावक के घर मे सहज भाव से मिला हुआ अचित्त और निर्दोष आहार लावें ।

वस्तुत सच्चे सत जहाँ तक बनता है, कर्मों की निर्जरा करने के लिए एकाशन, उपवास, आयविल आदि तप करते हैं । उन्हे भोज्य-पदार्थों मे तनिक भी आसक्ति नही होती । जो कुछ भी रूखा-सूखा तथा निर्दोष आहार मिल जाता है उसे केवल शरीर कायम रखने के लिये ग्रहण करते हैं । क्योंकि बिलकुल ही आहार या ओगन न देने पर यह शरीर रूपी गाडी नही चलती और इसके न चलने पर ज्ञान, ध्यान, जप एव तप आदि कुछ नही हो पाता ।

यह तो हुई भिक्षा ग्रहण करने की बात । पर भिक्षा लाते समय भी साधु के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं । अनेक बार तो गृहस्थ भिक्षा दें चाहे नही, पर गालिया तो दे ही देते हैं । उनके द्वारा कहे गए अपशब्दो को भी साधु पूर्ण धैर्य और समता के साथ सहन करता है । अपशब्दो और कटु-वचनो का सुनना भी 'आक्रोश परिषह' मे आता है । जिसके विषय मे समयानुसार कहा जाएगा ।

तो साधु भी आहार ग्रहण करता है किन्तु गृहस्थो के समान नही कि चाहे जैसा और चाहे जब खा लिया । वह भिक्षा के मुख्य व्यालीस दोषो को टलाकर ही निर्दोष आहार लेता है अन्यथा कुछ नही खाता और फिर भी पूर्ण आनन्द तथा शाति पूर्वक अपनी साधना मे लग जाता है । इस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति घर मे अन्न न रहने पर भूखा रहता है और साधु अपने नियमो का पालन करने के लिए तथा सदोष आहार न लेने के कारण भूखा रहता है । दोनो मे कितना अन्तर है ? निर्धन व्यक्ति जबकि भूखा रहने के कारण अत्यन्त दु ख का अनुभव करता है, साधु उलटा शाति और आनन्द को प्राप्त करता है । क्योंकि वह जानता है—

अप्पाहारस्स न इंदियाइ, विसएसु संयन्तति ।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ॥

—बृहत्कल्पभाष्य १३३१

अर्थात् जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयभोग की ओर नही दौडती । तप का प्रसग आने पर भी वह क्लात नही होता और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है ।

इस प्रकार साधु आहार ग्रहण करके और न करके भी वैसे ही प्रसन्न, शांत और सुखी रहते हैं। उनकी आत्मा दोनो अवस्थाओ मे एक समान रहती है। वे खाकर भी उपवास करते हैं और न खाकर भी।

आप सुनकर चकित होंगे कि यह कैसी बात है ? क्या खा लेने पर भी उपवास होता है ? हा, खा लेने पर भी व्यक्ति उपवास कर सकता है। पर इसे समझने के लिए हमे पहले यह जानना होगा कि उपवास किसे कहते है। उपवास का अर्थ है—आत्मा के समीप रहना। जो व्यक्ति आत्म रमण करता है। चिंतन और मनन की गहराई मे उतरता है वह अपनी आत्मा के निकट अधिक से अधिक रहता है। इस विषय को एक सुन्दर उदाहरण से समझा जा सकता है।

गगाजी ने मार्ग कैसे दिया ?

कहा जाता है कि एक बार द्वारिका नगरी के बाहर दुर्वासा ऋषि आए। प्राचीन काल मे सत-मुनिराज नगरो के बाहर ही प्राय ठहरा करते थे। दुर्वासा ऋषि भी नगर के बाहर ठहर गये। जब नगरी में उनके आने का समाचार आया तो महाराज कृष्ण की रानियो ने उनके दर्शन करने का विचार किया और कृष्ण से इस बात की आज्ञा मागी।

कृष्ण ने सहर्ष रानियो के लिये दुर्वासा ऋषि के दर्शनार्थ जाने का सम्पूर्ण प्रबन्ध कर दिया। किन्तु मार्ग मे गगा नदी आती थी अत. रानियो ने शका व्यक्त कि—"हम गगा नदी को कैसे पार करेंगी ?"

रानियो की बात सुनकर कृष्ण बोले—

"वाह ! यह कौन सी बडी बात है ? तुम लोग गगा नदी से कह देना कि अगर कृष्ण ब्रह्मचारी हो तो वह मार्ग दे देवे।"

रानियाँ यह सुनकर सोचने लगी—

'अब तो हो चुके ऋषिराज के दर्शन। महाराज कैसे ब्रह्मचारी हैं यह तो हम लोग जानती ही हैं। पर खैर चलने मे क्या हर्ज है ? गगाजी को पार नही कर सकेंगी तो घूम-घाम-कर लौट आएँगी।" यह विचार कर वे सब रवाना हो गई। जब उनकी पालकियाँ और रथ आदि गगा के तट पर पहुच गये तो कौतुकवश एक रानी ने हाथ जोडकर कहा—"गगा मैया, अगर हमारे पति ब्रह्मचारी हैं तो आप हमे मार्ग दे दीजिये !"

इन शब्दो का उच्चारण करने के साथ ही साथ रानियो ने दग होकर देखा कि वास्तव मे ही गगा नदी दो हिस्सो मे बँट गई है। फिर क्या था, सारी रानियाँ

अपार हर्ष से भरकर सहज ही गगा के उस पार पहुँच गईं और दुर्वासा ऋषि के दर्शनार्थ जा पहुची ।

रानियो का काफिला काफी समय तक वहाँ रुका । सबने वही पर भोजन किया और महारानियो की तीव्र भक्ति एव अत्यन्त आग्रह करने के कारण दुर्वासा ऋषि ने भी उनका लाया हुआ भोजन ग्रहण किया ।

इस सब के बाद पुन लौटने की तैयारी हुई, पर रानियाँ फिर चिन्ता मे पड गईं कि एक बार तो गगा नदी ने शायद कृपा करके ही रास्ता दे दिया होगा पर अगर अब वह मार्ग नही देगी तो फिर किस प्रकार हम घर पहुचेगी ? अपनी उस समस्या को उन लोगो ने इस बार ऋषिराज के समक्ष रखा ।

रानियो की बात सुनकर दुर्वासा ऋषि मुस्कराये और बोले—"तुम लोग तनिक भी फिक्र मत करो । जब गगा नदी आ जाये तो उससे कह देना—"अगर दुर्वासा सदा उपवास करते हो तो वह हमे मार्ग दे दे ।"

ऋषि की बात सुनकर सभी रानियाँ फिर भौंचक्की रह गईं । आज उनके लिये आश्चर्य पर आश्चर्य था । वे सोचने लगी—"अभी-अभी तो ऋषि ने हमारे निमन्त्रण और आग्रह पर भोजन किया है और गगा मैया से कहलवा रहे हैं कि दुर्वासा प्रतिदिन उपवास करते हो तो वह हमे मार्ग देवें ।"

ऐसा विचार आने से रानियो को भरोसा तो नही हुआ कि गगाजी उन्हे मार्ग देगी, किन्तु यह शका ऋषि के समक्ष रखी भी कैसे जा सकती थी ? वे दुर्वासा ऋषि थे, पलक झपकते ही आगबबूला होकर श्राप दे देते तो फिर क्या होता ? चुपचाप रानिया वहाँ से रवाना हो गईं और गगा के तट पर पहुची । बडी व्यग्रता से उन्होने पुन गगा से निवेदन किया—

'गगा माता ! अगर दुर्वासा ऋषि प्रतिदिन उपवास करते हो तो आप हमे उस पार पहुँचने के लिए मार्ग दीजिये ।"

इन शब्दो का उच्चारण होना ही था कि गगा नदी पुन दो हिस्सो मे विभाजित हो गई और बीच मे सुन्दर रास्ता बन गया । श्री कृष्ण की समस्त रानियाँ अपने दल सहित आनन्द पूर्वक गगा के इस पार आ गईं और समय पर राजमहल मे पहुँच गईं । पर आज की अद्भुत बातो को वे पचा नही सकीं और कृष्ण महाराज के महल मे आते ही उनसे प्रश्न कर बैठी—

"महाराज ! कृपया हमे बताइये कि आप स्त्री-सुख भोगते हुए भी ब्रह्मचारी कैसे हैं, और दुर्वासा ऋषि भोजन करने पर भी उपवास किस प्रकार किया करते हैं ? जिनके प्रभाव से गगाजी भी रास्ता दे देती हैं ।"

श्री कृष्ण ने अपनी रानियो को समझाया—"बात यह है कि उस व्यक्ति के प्रभाव से गगाजी रास्ता देती हैं जो सदा अपनी आत्मा मे रमण करता हो, यानी अपनी आत्मा के निकट रहता हो। मैं सचमुच ही ब्रह्मचारी हू क्योकि 'ब्रह्म' का अर्थ आत्मा और चर्य' का अर्थ रमण करना होता है। इसी प्रकार 'उप' का अर्थ निकट और 'वास' का मतलब निवास करना होता है। इस प्रकार हम दोनो ही आत्मा मे रमण करते हैं और आत्मा के निकट रहते हैं। यही कारण है कि गगा मैया ने हमारी प्रार्थना पर तुम लोगो को मार्ग दे दिया था।"

बन्धुओ! आप भी समझ गए होगे कि उपवास का अर्थ क्या होता है, और व्यावहारिक दृष्टि से जो उपवास किया जाता है वह किसलिये किया जाता है? यद्यपि हम एक दिन भूखे रहने को उपवास की सज्ञा देते हैं किन्तु उसका सच्चा आशय आत्मा मे रमण करना होता है। सत मुनिराज ऐसे ही उपवास करते हैं और इसीलिये उन्हें आहार मिले या न मिले, कोई अन्तर महसूस नही होता। आत्मिक आनन्द की अनुभूति कुछ ऐसी ही होती है, जिसके कारण भूख-प्यास आदि कोई भी परिषह अपना दुखदायी प्रभाव साधक के मन पर नही डाल पाता। उसकी आत्मिक शक्ति मरणातक परिषह को भी परिषह नही समझती अपितु निर्जरा का साधन मानती है।

हमे भी ऐसी प्रबल शक्ति को प्राप्त करना चाहिये ताकि सवर-मार्ग पर हम सुगमता से बढ सकें तथा अपना इहलोक और परलोक सुधार सकें।

कटिबद्ध हो जाओ !

[ब]न्धुओ, माताओ एव वहनो !

[इ]स विश्व मे जो भी व्यक्ति जन्म लेता है, उसका यह कर्तव्य होता है कि वह [जिस देश] मे और जिस जाति मे उत्पन्न हुआ हो उसके लिये कुछ न कुछ करे। देश, [जाति और] कौम का उस पर एक प्रकार से ऋण होता है और वह ऋण इस प्रकार [हो]ता है कि वह जहाँ जन्म लेता है वहाँ की धरती से अपने शरीर को टिकाता [है, उसी] जाति और समाज मे शिक्षा प्राप्त करता है तथा धर्म के द्वारा उत्तम [बातो] को अपनाता है। दूसरे शब्दो मे वह जो कुछ भी होता है अपनी मातृभूमि, [जाति औ]र समाज की देन होता है। अत उस ऋण को चुकाने के लिए उसे केवल [अपना] और अपने परिवार का ही नही, अपितु देश, धर्म और समाज का ध्यान भी [रखना] चाहिये।

आप योग्य वनकर जो कुछ कमाते हैं, उससे अपने परिवार का पालन पोषण करते ही हैं किन्तु उस धन का कुछ भाग औरो के लिये या परमार्थ के लिये खर्च [कर]ना भी आवश्यक है।

सत महापुरुष आपको यही उपदेश देते हैं कि आप अपना और साथ ही [दू]सरो का भी भला करो। सतो को उपदेश देने का निषेध नहीं है। वे आपको मार्ग [सु]झा सकते हैं, किन्तु आपको मजवूर नही कर सकते। सतो की वात मानना और उसके अनुसार करना यह आपकी इच्छा और रुचि पर निर्भर है।

श्री मुणोत जी ने अभी हमसे शुभ-कामना करने के लिये कहा है। मुणोतजी का कहना उचित है और हम भी इस वात को मानते हैं। किन्तु वैसे भी अपनी

मर्यादा को भग न करते हुए जो कुछ कहना चाहिये उसे कहने मे हम पीछे नही रहते और न ही पहले कभी रहे हैं। दिल केवल उसी बात को कबूल नही करता है, जिसके कारण किसी भी प्रकार से हमारी मर्यादा टूटती हो।

उदाहरण स्वरूप किसी ने कहा—"आप लाउडस्पीकर मे क्यो नही बोलते ?" अब इसका क्या उत्तर दें ? यही कि, इससे हमारी परम्परा मे बाधा आती है। वैसे जहाँ पच्चीस या सौ व्यक्ति हो, वहाँ भी लाउडस्पीकर मे बोलने वाले हैं, किन्तु हमने अगर उसका उपयोग किया तो हम पराधीन हो जाएँगे। जिस प्रकार कोई गवैया सदा तबले और हारमोनियम के साथ ही गाता है और ऐसी आदत होने पर फिर कभी उनके न होने पर गाने मे कठिनाई का अनुभव करता है।

सत सब एक साथ नही रहते, अलग-अलग विचरण करते हैं और उनकी धारणाएँ भी अलग-अलग हैं। आज अगर मैं लाउडस्पीकर का प्रयोग करूँगा तो पखे की आदत भी शुरू हो जाएगी। गोचरी के लिए जाने पर कही पखा चालू हुआ तो वहाँ भी कुछ थम जाएँगे। इसलिये मेरा कहना यह है कि अगर चली आ रही परम्परा मे सामूहिक रूप से कोई परिवर्तन आता है तो उससे किसी एक पर आक्षेप नही आता। आप सब मिलकर चाहें तो प्रयत्न करे। अकेला एक सत क्या कर सकता है ?

पुस्तको के प्रकाशन के बारे मे भी अभी कहा गया है, किन्तु यह तो सभी करते हैं अत किसका निषेध करेंगे ? हाँ, कोई नई चीज प्रारम्भ करने के विषय मे मैं मौन रहता हू और टाल देता हू। आप लोग चाहें तो कर सकते हैं। आपको कुछ काम करना है तो अकेले भी प्रारम्भ कर सकते हैं और धीरे-धीरे औरो को साथ लेकर उसे ठीक ढग से निर्णय की ओर ले जा सकते हैं। उसमे मेरा निषेध नही है।

आप लोग श्रीमन्त हैं अत अन्य साधारण व्यक्तियो पर सहज ही प्रभाव डाल सकते हैं इसलिए सर्व-प्रथम आपको शिक्षण देने के लिए तैयार होना चाहिए। हमे उपदेश देने मे समय नही लगेगा, समय तो आपको कार्य करने मे लगेगा।

प्रसन्नता और सतोष की बात है कि महाराष्ट्र मे श्रावको का सगठन हो सके, इसके लिये पूना और चिचवड में कमेटियाँ बनी हैं और उनकी मीटिंगें हुई हैं। वे कमेटियाँ संगठन करना चाहती हैं अत आप भी इसके लिये तैयार रहें। यह कार्य एक व्यक्ति का नही है, समाज का है और समाज मिलकर ही कर सकेगा। किन्तु उसके लिये आप सभी व्यक्तिगत रूप से सहयोग देने की भावना रखेंगे तभी सफलता मिल सकेगी।

अभी-अभी आपने जिन बातो के कार्य-रूप मे परिणत होने की इच्छा व्यक्त

की है वे कव सभव होगी ? जवकि आप लोगो मे सगठन होगा । इसलिए स्थान-स्थान पर अधिवेशन करते हुए तथा लोगो को अपने विचार समझाते हुए और उनके भी विचार लेते हुए उनका पालन करना आपका प्रथम कर्तव्य है। इस प्रकार आपको सगठित होकर कार्य करना है और सफलता तभी मिलेगी जव श्रावक-सघ प्रत्येक कार्य करने मे एकमत होगा।

सगठन से किस प्रकार सफलता मिलती है, यह किसी कवि के द्वारा लिखी गई एक सीधी-साधी कवितामय लघु कथा से आपको ज्ञात हो सकता है। कविता इस प्रकार है—

एक पिता के कई पुत्र थे,
पर वे सव थे बडे गँवार।
कलह परस्पर उनमे अक्सर,
होती रहती थी निस्सार ॥
किया वहुत उद्योग पिता ने,
पुत्रो को समझाने का।
मगर हुआ निष्फल सव उसका,
सुतविद्वेष मिटाने का ॥

कविता का अर्थ विलकुल सरल है। इसमे कहा गया है कि एक व्यक्ति के कई पुत्र थे, किन्तु वे सव अज्ञानी और अविवेकी थे। इसी कारण वे सव आपस मे निरर्थक और नगण्य वातो को लेकर सदा झगडते रहते थे। पिता ने नाना प्रकार से समझाते हुए उन्हे आपस मे प्रेम और सप रखने के लिये कहा। किन्तु उसका सारा प्रयत्न निष्फल गया।

कहानी वडी सरल है पर उससे वडा गम्भीर अर्थ भी लिया जा सकता है। जैसे—हम भी परम पिता भगवान महावीर के पुत्र और अनुयायी हैं, लेकिन दिगम्बर, श्वेताम्बर, मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी एव तेरापथी आदि अपने आपको मानकर आपस मे भेदभाव रखते हैं। परिणाम यह होता है कि सरकार के द्वारा किसी वात को मनवाने की शक्ति हम मे उत्पन्न नही होती। अगर हममे से प्रत्येक व्यक्ति स्वय को किसी सम्प्रदाय का ठेकेदार न मानकर सिर्फ जैन-धर्म को मानने वाला जैन कहे और इस प्रकार एक होकर बुलन्द आवाज से माँग करें तो क्या हमारी माँग को सरकार ठुकराने की हिम्मत कर सकती है ? नही, वहुमत के समक्ष तो उसे झुकना ही पडेगा, ईसाई और पारसी आदि धर्मों के अनुयायी इने-गिने हैं। किन्तु वे सगठित रहते हैं अत अपने इरादो मे सफल हो जाते हैं। इधर जैनधर्म के अनुयायी लाखों

हैं पर वे सगठित नहीं रहती इसलिये सरकार को झुकाने की बात तो दूर है, वे अपना सोचा हुआ स्वय भी अमल मे नही ला पाते।

आज आप मे से और हम लोगो मे से भी अनेक व्यक्ति देश, काल और वस्तु स्थिति को देखते हुए पुरानी परम्पराओ मे कुछ सुधार करना आवश्यक समझते हैं, किन्तु वे हो नही पाते क्योकि हम सबके विचार ही आपस मे नही मिलते। उलटे कविता मे बताये गये पिता के उन पुत्रो के समान आपस मे एक-दूसरे को उपालम्भ देते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं और मौका मिलने पर औरो को बदनाम करने से भी नही चूकते।

ऐसी स्थिति मे किस प्रकार सामाजिक या धार्मिक-सुधार हो सकता है ? यह ठीक है कि कभी-कभी चन्द व्यक्ति स्टेज पर खडे होकर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे कार्यान्वित किस प्रकार हो सकते हैं, जबकि अन्य सभी व्यक्ति उन विचारो पर एकमत न हो और उन्हे अमल मे लाने का प्रयत्न न करें।

कविता मे आगे कहा गया है—

हो हताश अत मे उसने,
मन मे ऐसा किया विचार।
दे उत्तम दृष्टान्त ऐक्य का,
इनका अब मैं करू सुधार ॥
ले गट्ठर लकड़ी का उसने,
उनके सम्मुख फैक दिया।
जोर लगाकर इसे तोड़ दो,
ऐसा उसने हुक्म दिया ॥

आपस में निरन्तर झगडने वाले पुत्रों के पिता ने जब देखा कि समझाने से उसके लडके नहीं समझते तो उसने उनकी अक्ल ठिकाने लाने के लिए एक उपाय सोचा। वह उपाय यह था कि उसने लकडियो का गट्ठर मगवाया और उसे अपने लडको के सामने रखते हुए बोला—'मैं देखना चाहता हूँ कि तुममे कितनी ताकत है ? कौन इस बधे हुए गट्ठर को तोड सकता है ? जरा तोडकर बताओ।'

पर परिणाम क्या निकला ? यह बताते हैं—

किया जोर बहुतेरा सबने,
टूट सका ना वह गट्ठर।
फैंक दिया पृथ्वी पर सबने,
थके सभी ताकत कर कर ॥

पिता की बात सुनकर लडको ने एक-एक करके उस गट्ठर को तोडने की कोशिश की । किन्तु किसी से भी वह टूट नही सका । अन्त मे हताश होकर उन्होंने पुन उसे पृथ्वी पर पटक दिया ।

देख हाल उसने पुत्रो का,
उस गट्ठर को खोल दिया ।
एक-एक लकडी को तोडो,
यह उनको आदेश दिया ।।
तब तो उन्होंने आसानी से,
झटपट उनको तोड दिया ।
कहा पिता ने क्या तुमने कुछ,
इस शिक्षा पर ध्यान दिया ।।

पिता ने जब देखा कि लडको मे से किसी से भी वह गट्ठर नही टूटा तो उसने भारी को खोलकर एक-एक लकडी अलग कर दी और कहा—"अब इनको एक-एक करके तोडो !" फिर क्या था, लडको ने एक-एक लकडी उठाई और आसानी से उन्हें तोड डाला । इस पर पिता ने कहा—"क्या इस कार्य से तुम्हे कुछ शिक्षा मिली ?" लडके चुप रहे, उन्हे कुछ नही सूझा । यह देखकर पिता ने कहा—

देखो मेरे प्यारे पुत्रो !
यही एकता का है सार ।
जब तक ये सब मिली हुई थीं,
टूट सका नहीं तुम से भार ।।
इसी तरह तुम भी हिलमिलकर,
अगर रहोगे आपस मे ।
क्या मजाल है प्रबल शत्रु भी,
जो तुमको कर ले बस मे ।।
भिन्न-भिन्न रहने से पुत्रो,
दुश्मन तुम्हें दबायेगा ।
बिखरे हुए काष्ठ सम तुमको,
खड खड कर डालेगा ।।

पिता कहता है—'पुत्रो ! इस गट्ठर ने तुम्हें एकता की शिक्षा दी है । जब तक ये सगठित थी यानी इनमे एकता थी, तब तक इन्हे तुम तोड नहीं सके । किन्तु ज्यो ही ये बिखरी, तुम लोगो ने अलग-अलग पाकर इन्हे तोड डाला ।

इसीलिए मैं कहता हू कि तुम सव भी आपस में मिल-जुल कर रहना सीखो। अगर तुम सव मे एकता रहेगी तो प्रबल दुश्मन भी तुम्हारा वाल वाका नही कर सकेगा। अन्यथा कोई साधारण व्यक्ति भी तुम्हारी इज्जत को, गौरव को तथा अभिमान को धूल मे मिला देगा।"

वन्धुओ! हमे भी इस सुन्दर कथा से शिक्षा ग्रहण करनी है। आज के इस विपम युग मे अगर हम जैनधर्म के अनुयायी भी आपस मे सगठित होकर नहीं रहेगे तो अन्य धर्मावलम्वी हमारे धर्म पर आक्षेप करेंगे और इसे हीन सावित करने मे नही चूकेंगे। हमारे धर्म और समाज रूपी भवन को दृढ रखने के लिये हमें उसकी नीव मजवूत वनानी होगी। आप देखते ही हैं कि व्यक्ति एक साधारण सा मकान भी अगर वनाता है तो पहले उसकी नीव को पक्की करता है। यद्यपि वहाँ कोई रहता नहीं है, किन्तु मकान को स्थिर रखने के लिये उसका पक्का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार हमारे जैनधर्म या स्याद्वादधर्म का भवन जो कि सभी धर्मों को अपने मे स्थान देता आया है, और जिसका लोहा सारा विश्व मानता है उसे हमे उसी प्रकार दृढ रखना है और उसे दृढ रखने के लिये एकता रूपी नींव को खोखली नहीं होने देना है।

हम लोग तो आपको उपदेश देते हैं और प्रेरणा प्रदान करते हैं। किन्तु कार्य तो आपको ही करना होगा। श्रावको के विना सन्त क्या कर सकते हैं? कुल्हाडी मे शक्ति वहुत होती है पर जव तक उसमें डडा नही लगा होता, वह अपना कार्य नही कर पाती। इसी प्रकार सतो की वाणी मे प्रवल शक्ति होती है किन्तु वह तभी काम मे आती है जव श्रावको का सहयोग होता है। दोनो पूरी एकता से काम करें, तभी समाज और धर्म की उन्नति हो सकती है। अगर श्रावक समुचित सहयोग न दें तो सन्त का कोई भी सुझाव कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता।

अभी आपने फिजूलखर्ची के विपय मे भी वहुत कुछ कहा है। आपका कहना यथार्थ है पर इस पर रोक भी आप लोगों को सम्मिलित होकर लगानी पडेगी। एकता का एक सुन्दर उदाहरण आपको वताता हूँ। प्रतापगढ मे दिगम्वर समाज के चार सौ घर हैं। पर वहाँ के लोगो मे वडी भारी एकता है। यहाँ तक कि वे फिजूलखर्ची न हो इसलिये वे एक ही वक्त मे व्याह-शादियाँ करते हैं। कभी-कभी तो पचास-पचास दूल्हे एक ही वैंड-वाजे के साथ जाते हैं, जिनके साथ उतनी ही दुल्हिनें भी होती हैं।

इस रिवाज का कारण संभवत आप नही समझे होगे। वात यह है कि समाज में सभी व्यक्ति अमीर नही होते और जो अमीर नही होते उनके लिये अधिक खर्च करना अपने पेट पर लात मारने के समान होता है। इसलिये धनी व्यक्ति वाजे वगैरह मे

खर्च करते हैं और साथ मे उन लोगो का कार्य भी निकल जाता है जो अधिक खर्च नही कर सकते । इस प्रकार कम खर्च मे उनके यहाँ अधिक शादियाँ हो जाती हैं । पर आप ऐसा सोचने वाले कितने हैं ? गरीबो को सहारा देना तो दूर, श्रीमन्त व्यक्ति अधिक से अधिक खर्च करके मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो को कठिनाई मे डाल देते हैं । मध्यम श्रेणी के लिये मैंने इसलिये कहा है कि निर्धन व्यक्ति, जिनका समाज मे विशेष स्थान नही होता जैसा भी बनता है खर्च करके अपने कार्य निपटा लेते हैं, क्योकि कोई उनकी निन्दा नही करता ।

किन्तु लखपति और करोडपति न होने पर भी मध्यम वर्ग के व्यक्ति अपनी योग्यता, शिक्षा और उच्च पदवियो के कारण समाज मे अपना उच्च स्थान रखते हैं और उनका गौरव श्रीमन्तो से कम नही होता । वे कीर्ति और प्रतिष्ठा तो बहुत अर्जित कर लेते हैं किन्तु लाखो रुपया उनके पास शादियो मे लगाने के लिए नही होता । इधर पैसे वाले होडा-होड मे अधिक से अधिक खर्च करके उन्हे कठिनाई मे डाल देते हैं ।

मैंने सुना था कि जयपुर के धनी व्यक्ति बीस-बीस हजार तो केवल रोशनी के प्रबन्ध मे ही खर्च कर देते हैं । इस हिसाब से शादियो मे कितना व्यय किया जाता होगा ? क्या मध्यम श्रेणी का व्यक्ति इस प्रकार लाखो रुपये एक-एक विवाह मे खर्च कर सकता है ? नही, इन्ही सब बातो को ध्यान मे रखते हुए आपको दहेज आदि की प्रथाओ मे सुधार करना चाहिए ।

मारवाड मे तो लोगो ने मीटिंग करके एक 'ग्राम भरण' बाँधा है, ऐसा मालूम हुआ है । किन्तु उस पर कितना अमल होता है यह कहा नहीं जा सकता । इसके अलावा दहेज आदि की प्रथा मे तो उधर भी कोई सुधार हुआ हो यह बात दिखाई नही देती । एक कवि ने कहा है—

लडके का जब व्याह रचावें, श्री मुख से श्रीमान् सुनावें,
चाहिये तीस हजार ।
घडी अगूठी सूट चाहिये, सैंडल चप्पल बूट चाहिये,
हार रेडियो कार ।
इक मशीन हो सीने वाली, सोफा, सैट कटोरी थाली,
मेज कुर्सियाँ चार ।
ऐसे आते कई बराती, पीते मद्य शर्म न आती,
गिरते बीच बाजार ।

कवि ने लडके वालो के लोभ का दृश्य अपनी पक्तियों मे प्रस्तुत किया है। आज के युग मे किस प्रकार अपने लडको के दाम वढाकर वे लडकी वालों को परेशान करते हैं यह असत्य नही है। इसीलिये आप सवको मिलकर समाज की सभी कुप्रथाओ को त्याज्य घोषित करके उनमे सुधार करना चाहिये। किन्तु ये सभी बातें तभी सभव हो सकेंगी जवकि आप श्रीमन्त लोग पहले कदम उठाएँगे और कटिबद्ध होकर इन कार्यों मे जुटेंगे।

केवल सन्त ही यह वोझ नही उठा सकते। वे आपको समझा सकते हैं, आपको मार्गदर्शन कर सकते हैं पर सतो के विचारो को मूर्त-रूप तो आप लोग सगठित होकर ही दे सकते हैं। इसीलिये मैं बार-बार आपसे कहता हूँ कि आप लोग अपने विचारो मे साम्य लावें और यह ध्यान रखें कि अगर समाज सुदृढ रहेगा तभी धर्म टिकेगा। दीवार रहने पर ही उस पर रग ठहरता है। दीवार के न रहने पर रग के ठहरने का प्रश्न ही नही उठता।

वन्धुओ ! समाज मे कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ नई नही हैं। इन्हे वहुत दिनो का कचरा समझना चाहिये। और काफी प्रयत्न की जरूरत समझ कर इन्हे साफ करने का प्रयत्न भी अधिक करना चाहिये। ऐसा करने पर ही परिवारो मे शाति रहेगी समाज गौरवशाली वनेगा तथा देश भी विश्व के अन्य देशो के समक्ष अपना मस्तक ऊँचा रख सकेगा।

●

१६ समझ सयाने भाई !

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

सवर आत्म-कल्याण का मार्ग है। सवर शब्द का अर्थ होता है 'रोकना'। सस्कृत मे भी कहा गया है—'सव्रियते इति सवर ।' कर्मों को आने से रोकना सवर कहलाता है। इसके लिये मन और इन्द्रियो को इनके विषयो की ओर प्रवृत्त होने से रोकना चाहिये।

सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे प्रथम पाँच भेद समितियो के और तीन गुप्तियो के है। इन आठो का वर्णन करने के बाद बाईस परिषहो मे से प्रथम क्षुधा-परिषह का वर्णन मैंने किया था। क्षुधा-परिषह सवर का नवाँ भेद है।

क्षुधा यानी भूख। भूख प्रत्येक व्यक्ति को लगती है चाहे वह साधु हो या श्रावक। सत तुकाराम जी ने कहा है—

'पोट लागले पाठीशी हिंडविते देशोदेशी।'

यह पेट जो कि पीठ से लगा हुआ है, व्यक्ति को देश-विदेश मे भटकाता है। आप लोग अपनी जन्मभूमि, माता-पिता और पत्नी-पुत्रादि सभी को छोडकर दूर-दूर के देशो मे जाते हैं, वह क्यो ? दो पैसे कमाकर पेट भरने के लिए ही तो। अगर पेट न होता या उसके कारण भूख का अनुभव न होता तो कोई भी व्यक्ति अथक परिश्रम नही करता और अपने परिवार को छोडकर इधर-उधर नही भटकता।

भूख हमे भी लगती है

हम लोग भी यद्यपि साधु बन गये हैं और सासारिक झमेलो से दूर हैं, किन्तु भूख हमे भी लगती है और इसलिये भिक्षाचरी के लिये घर-घर मे जाते हैं। यह

वात दूसरी है कि आप लोग अपना पेट भरने के लिए धन का संग्रह तो करते ही हैं साथ ही वर्षो के लिए अनाज आदि का सग्रह करके अपने भडार भी भर लेते हैं। इसलिये आपको क्षुधा-परिषह सहन करने की नौवत कम ही आती है।

किन्तु साधुओ के लिये यह वात नही है। वे न तो अपने पास पैसा ही रखते हैं और न ही अन्न का सचय करते हैं। यहाँ तक कि सुवह भिक्षा लाने के पश्चात् वे शाम की भी फिक्र नही करते, फिर कल की बात तो दूर होती है। आहार का वक्त होने पर वे अपने स्थान से निकलते हैं और निर्दोष आहार मिल जाता है तो ले आते हैं। भिक्षा सदोष होने पर या न मिलने पर वे परम शाति पूर्वक लौट आते हैं तथा अपने ज्ञान, ध्यान मे लग जाते हैं।

अनेक वार ऐसे प्रसग आते हैं जबकि निर्दोष आहार नही मिलता और उन्हें भूखा रहना पडता है। आप जानते ही हैं कि शरीर खुराक माँगता है और वह न मिलने पर साधारण व्यक्ति आकुल-व्याकुल हो जाता है। किन्तु साधारण व्यक्ति और साधु मे जमीन आसमान का अन्तर होता है। भिक्षा के मिलने और न मिलने की स्थिति मे भी साधु के हृदय मे किसी प्रकार की व्याकुलता अथवा खेद उत्पन्न नही होता है। इसी को क्षुधा-परिषह पर विजय पाना अथवा परिषह को सहना कहते हैं।

तो आज हमे क्षुधा-परिषह के समान ही महत्व रखने वाले सवर के पिपासा-परिषह को लेना है। यह सवर का दसवा भेद है। जीवन के धारण करने के लिए अन्न के समान ही जल भी आवश्यक है, वल्कि अन्न से अधिक इसकी आवश्यकता रहती है। अन्न के अभाव मे तो मनुष्य कई घन्टे, कई दिन और कई महीने भी जीवित रह जाता है, किन्तु जल के विना वह अधिक समय जीवित नही रह सकता। इसलिये ही जीवन प्रदान करने वाले जल का अभाव पिपासा-परिषह कहलाता है।

पिपासा-परिषह

आप लोगो को तो यह परिषह सहन करने का अवसर क्वचित् ही आ पाता होगा और वह भी कभी घण्टे दो घण्टे के लिए। क्योंकि आप सचित्त जल ग्रहण करते हैं और वह कदम-कदम पर मिल सकता है।

पर साधु के लिए अचित्त अथवा प्रासुक जल की प्राप्ति होना कठिन होता है। और जब वे एक शहर से दूसरे शहर और एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं तब तो उनके लिये निर्दोष जल की प्राप्ति कठिनाई से भी वढकर मरणातक कष्ट का कारण वन जाती है। किन्तु उस अवस्था मे भी वे कभी सचित्त जल ग्रहण नहीं करते। पूर्ण समभाव रखते हुए परिषह को सहन करते हैं। दूसरे शब्दो मे शरीर

और शरीर की आवश्यकता के प्रति उपेक्षा रखते हुए आत्म-चिंतन मे लीन रहते हैं। यहाँ तक कि समाधिभाव धारण करके प्राण-त्याग भी हो जाय तो परम शातिपूर्वक शरीर छोड देते है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे कहा गया है—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगु छी लज्जसजए।
सीओदग न सेविज्जा, वियडस्सेसण चरे॥

अध्ययन २, गा ४

भगवान महावीर ने सयम की सही साधना करने वाले के लिए कहा है— 'तओ पुट्ठो', अर्थात् उसके पीछे, यानी क्षुधा के पीछे पिपासा का अनुभव करने पर भी कदाचार से घृणा करने वाला साधु सीओदग, यानी शीतजल, दूसरे शब्दो मे सचित्त जल का सेवन कदापि न करे। अपितु प्रासुक जल की खोज करे।

इसी विषय को और भी स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है—

छिन्नावाएसु पथेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहाऽदीणे त तितिक्खे परीसह॥

— उत्तराध्ययन सूत्र, २-५

अर्थात् गरमी के कारण लोगो के आगमन से रहित मार्ग मे अति तृषा से आकुल और परिशुष्क मुख हुआ साधु भी अदीन मन से पिपासा के इस परिषह को सहन करें।

भावार्थ यही है कि भले ही ग्रीष्म ऋतु का ताप कितना ही प्रखर हो और मार्ग मे विचरण करते हुए साधु को असह्य प्यास सताये, पर फिर भी वह सचित्त जल का कभी उपयोग न करे तथा समता पूर्वक पिपासा परिषह को सहन करे, इसी को सच्ची साधुवृत्ति का धारण करना कहा जा सकता है।

ए। वहा फ ‍ौर वास्तव मे ऐसा होता भी है। अनेक बार सत अपने प्राण-त्याग कर उसके ग्रहण किये हुए व्रतो का भग नही करते। एक उदाहरण आपको बताता हूं प. मारे मगन मुनि जी का आंखो देखा है।

ौर जि

परिषह-विजय

या। र पचोदवड मे मोतीलालजी कोटेचा थे। घर भी उनका बडा सम्पन्न था और भी ाप [भी। पाँच भाई थे और सभी एक-दूसरे पर जान देने वाले। किन्तु मोती-

ओ को मानव जन्म की कीमत महसूस हो गई और उन्होने ससार से विरक्त

हे अ दीक्षा ग्रहण कर ली। वे पूज्य जवाहरलाल जी म० के शिष्य बने और

गुरु ीरता से सच्चे मायने मे सयम का पालन करने लगे।

एक समय जबकि मगन मुनिजी उनकी सेवा मे थे और साथ ही विचरण कर रहे थे। एक गांव की ओर चले। भयकर गर्मी पड रही थी और मोतीलालजी म०, मगन मुनिजी तथा करनीलाल जी म० आगे बढते गये। अस्वास्थ्य की दशा मे तथा भीषण गर्मी मे चलते हुए सभी को प्यास का अनुभव हुआ और मोतीलाल जी म०, को तो तीव्र ज्वर, साथ ही सन्निपात भी हो गया। यद्यपि मार्ग मे शीत जल प्राप्त हो सकता था किन्तु साधु कब अपना व्रत-भग करके सचित्त जल ग्रहण करता है?

तो जब मोतीलाल जी म० का स्वास्थ्य चिंतनीय हो गया तो मगन मुनिजी को उनके पास छोडकर करनीलाल जी म० पानी की गवेषणा मे आगे गये। उन्हे लौटकर आने मे देर लगी और इधर पिपासा-परिषह को परम शातिपूर्वक सहन करते हुए मोतीलालजी म० स्वर्गवासी हो गये। मगन मुनिजी के द्वारा ही उन्होने सथारा ग्रहण किया था।

तात्पर्य यही है कि चाहे प्राण चले जायें, किन्तु मुनिराज सचित्त जल का कभी स्पर्श भी नही करते। यहाँ यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि जिस प्रकार सयम मार्ग मे बढने वाले साधु क्षुधा की तीव्रता होने पर भी सदोष आहार नही लेते तथा पिपासा-परिषह के असीम होने पर भी सचित्त जल को ग्रहण नही करते, उसी प्रकार सद् श्रावक को भी अभक्ष्य को अगीकार नही करना चाहिए। धर्मवीर व्यक्तियो का गौरव इसी मे है कि वे महा-सकट के समय मे भी अपने धर्म से मुँह न मोडें तथा अपने कर्तव्यो से च्युत न हो।

श्रावकधर्म की महत्ता

बन्धुओ, आपको जानना चाहिये कि साधु के तथा श्रावको के नियमों मे यद्यपि अन्तर होता है, किन्तु श्रावक या सद्गृहस्थ को पूर्णतया छूट नही रखनी चाहिये। यह ठीक है कि परिषहो को सहन करने मे उनके बीच तरतमता होती है और न्यूनाधिकता भी आ जाती है, पर वहाँ भी भावना महत्त्वपूर्ण होती है।

आपने अबड सन्यासी के विषय मे सुना होगा, जिनके सात ... ही आ पाता ... यद्यपि उनके लिये सचित्त जल का त्याग नहीं था किन्तु अदत्त अर्थात् ... त्त जल ग्र... नही लेना ऐसा व्रत लिया था, अटवी मे किसी गृहस्थ का सयोग नही मि... सभी ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये पर अदत्त जल ग्रहण नही कि... ठिन होता ...

इसीलिये मेरा कहना है कि साधु-पुरुषो के समान ही श्रावको को ... ते हैं तव ... व्रतो के अनुष्ठान मे पूर्णतया सजग रहना चाहिये। ... ष्ट का ... ण नहीं ...

योगशास्त्र में कहा गया है—

"सकाम निर्जरा सार तप एव महत् फलम्।" ... शरीर

—इच्छापूर्वक कष्ट, परिषह एव उपसर्ग आदि सहन करने से सकाम-निर्जरा की उत्पत्ति होती है, जो कि आदर्श तपस्या है और जिसके फलस्वरूप कर्म क्षय होते हैं।

तो बन्धुओ, ग्रहण किये हुए व्रतो को तथा अनमोल धर्म को प्राप्त करने के वाद कैसा भी सकट क्यो न आए और कितने भी परिषह क्यो न सहन करने पड़ें, उन्हे छोडना नही चाहिये। सोना कसोटी पर कसने से ही अपनी परख करवाता है, इसी प्रकार धर्म और व्रत-नियम, उपसग और परिषहो की कसौटी पर कसे जाने पर ही फल प्रदान करते हैं तथा उसी समय साधक की परीक्षा होती है। अत प्रत्येक साधक को प्राणो की परवाह छोडकर अपने व्रतो का पालन करना चाहिये। सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

"प्राणान्तेपि न भक्तव्यम् गुरुसाक्षे कृत व्रतम्।
" प्राणा. जन्मनि जन्मनि ॥"

कहते हैं—गुरु के द्वारा ग्रहण किये हुए व्रतो को प्राण जाने पर भी भग नही करना चाहिये। क्योकि प्राण तो प्रत्येक जन्म मे मिल जाते हैं, किन्तु व्रत धारण करने का सयोग सदा नही मिलता।

भरना कबूल है

हमारे अनेक भाई-बहन आज भी ऐसे हैं जो चाहे जैसी वीमारी आ जाय और डॉक्टर लाख वार क्यो न कहे, पर वे अपने नियमो का भग हो ऐसी वस्तु ग्रहण नही करते। उनका यही कथन होता है—"मरना तो एक दिन है ही, फिर अपने नियमो को कैसे छोडें ?"

एक बार हम वर्धा की ओर गये। वर्धा के समीप वायफड नामक एक गांव है। वहाँ का पटेल जवर्दस्त मासाहारी था। जीवों की हड्डियो और मुर्गियो के पख आदि से उसके मकान के बाजू मे रहा हुआ एक वडा सारा खड्ढा भी भर गया था।

हमारे वहाँ पहुँचने के पश्चात् उसने कभी-कभी हमारे यहा आना प्रारम्भ किया और जिनवाणी मे रुचि लेनी शुरू की। धीरे-धीरे उसके मन पर सत्सगति का असर पडा और वह दुखी होता हुआ कहने लगा—"महाराज ! मैंने जीवन भर महा-पाप किये हैं, इनसे मेरा छुटकारा कैसे होगा ?"

मैंने उसे दिलासा दी और कहा—"भाई ! तुमने अज्ञानावस्था मे पाप किये हैं पर अगर उनके लिये पश्चात्ताप करके आगे से पाप-कर्म करना छोड दो तो भी

तुम्हारा छुटकारा जरूर हो जाएगा। मैंने उसे सत तुकाराम के वचन भी सुनाए जिनमे से एक है—

"मागे केले, नका पाहू, पुढे जामीन आम्हीं होवू।"

—अगर आगे पाप नही किये तो तुम्हारी मुक्ति होगी, जरूर होगी। यही पटेल से कहा गया कि—किये हुए के लिए पश्चात्ताप करो और आगे न करने की प्रतिज्ञा करो। अगर की हुई प्रतिज्ञाओ का बराबर पालन करोगे तो कर्म-बन्धनो छूट जाओगे।

पटेल ने हिंसा और मासाहार न करने का व्रत लिया और जहाँ वह सद शराब के नशे मे धुत्त रहता था, वहाँ उसका भी सर्वथा त्याग कर दिया।

कर्मसयोग से कुछ समय पश्चात् वह बीमार पडा और डॉक्टरो ने कहा—"तुम्हे शराब पीनी पड़ेगी अन्यथा स्वस्थ नही हो सकोगे।"

किन्तु पटेल ने स्पष्ट इन्कार करते हुए कह दिया—"मरना कबूल है पर शराब नही पीऊँगा।"

मराठो मे भी ऐसे बहुत है जो नियमों का पालन करते हैं। एक बार हमारा चातुर्मास चिचोडी गाँव मे था। वहाँ एक महाराष्ट्रीय कोलाटी जाति का आया। उसने कहा—"महाराज! मुझे मास-मदिरा का त्याग करा दो।" मैंने कहा—"तुम साँप-बिच्छू को भी मत मारना।" उस व्यक्ति ने यह भी कबूल कर लिया और वहाँ से चला गया।

सयोग की बात थी कि उसके खेत मे एक भयकर सर्प निकल आया। बेचारा वह व्यक्ति भागा भागा हमारे पास आया और बोला—"महाराज! अब क्या करूँ?"

उस व्यक्ति के मन मे श्रद्धा थी अत मैंने कहा—"भगवान शातिनाथ का नाम लेकर खेत के चारो तरफ राख डाल दो।" उसने वैसा ही किया और बाद में आकर बोला—"महाराज साँप चला गया।"

वास्तव मे ही जिसके हृदय में श्रद्धा होती है, और जो अपने त्याग-नियमों का पक्का होता है, उसकी रक्षा भगवान भी करते हैं। इसीलिये अभी एक श्लोक के द्वारा बताया गया है कि गुरु के द्वारा लिये गये नियमो को किसी भी अवस्था मे भग मत करो। सक्षेप मे प्राण जाने पर भी प्रण मत छोडो।

मेरे कहने का साराश यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु को चाहे वह साधु हो या श्रावक, अपने व्रतो पर दृढ रहना चाहिये तथा आत्म-कल्याणकारी बारह भावनाओ

को भाते हुए धर्म-पथ पर बढना चाहिये। इन्ही भावनाओ का महत्व बताते हुए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने सुन्दर पद्य मे कहा है—

> जग है अनित्य नहीं, शरण ससार मांही,
> भ्रमत अकेलो जीव, जड वोउ भिन्न है।
> परम अशुचि लखी, देह तजी आश्रव को,
> सवर निर्जरा ही तें होय भव छिन्न है।
> चित्त मे विचारी लोकाकार बोधबीज सार,
> सम्यक् धरम उर धारो निश दिन है।
> कहे अमीरिख धारे भावना यो भाव उर,
> धारे जिनवेण एन ताको धन धन है॥

यह जगत नश्वर है, प्रत्येक वस्तु अनित्य है। अत इस जीव के लिये कोई भी शरणभूत नही है। जीव अकेला ही इस ससार मे आता है और अकेला ही पुन॰ जाता है। यह देह जो उसे प्राप्त हुई है, अनेक अशुद्ध, एव घृणित पदार्थों से निर्मित है अत यह मनुष्य का साध्य नही है। इसे साधन बनाकर ही मुक्ति के अभिलाषी प्राणी को आश्रव से यानी कर्मों के आगमन से बचना चाहिए तथा सवर एव निर्जरा के द्वारा पुन पुन जन्म लेने से छुटकारा प्राप्त करना चाहिये।

बोधि-दुर्लभ

प्रत्येक मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिये कि मैंने अनत काल तक नरक और निगोदादि के कष्ट भोगे हैं और उसके पश्चात् भी असख्य जन्म लेकर त्रस पर्याय प्राप्त की। किन्तु त्रस पर्याय प्राप्त होने पर भी विकलेन्द्रिय रहकर अज्ञानावस्था मे समय गँवाया है। और फिर किसी प्रकार प्रबल पुण्यो के फलस्वरूप यह पाँचो इन्द्रियो और मन से परिपूर्ण मानव-शरीर मिल पाया है। अगर अब भी हमने सम्यक्त्व पाकर उसका लाभ नही उठाया तो इसे पाने से क्या हासिल होगा ? कुछ भी नही।

विद्वत्रत्न प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने भी प्राणी को बोध देते हुए समझाया है—

> अगोपाग पूर्ण होने पर भी चिर जीवन पाना,
> चिर जीवन पाकर भी सुन्दर शीलयुक्त हो जाना।
> चिन्तामणि के सदृश परम सम्यक्त्वरत्न सुखदायी,
> दुर्लभ है, दुर्लभतर है रे ! समझ सयाने भाई॥

कहा गया है –इस जीव को प्रथम तो सम्पूर्ण अग एव उपाग मिलने कठिन होते हैं और ये मिल गये तो लम्बा जीवन मिलना मुश्किल हो जाता है। ससार मे हम देखते ही हैं कि कच्ची कलियो के समान अनेक शिशु जन्म लेते समय या उसके पश्चात् शैशवावस्था मे और तब भी बच गये तो पूर्ण युवावस्था मे भी काल-कवलित हो जाते हैं।

इसीलिये कवि ने कहा है कि लम्बा जीवन भी मुश्किल से मिलता है। पर आगे क्या कहा है ? यही कि लम्बा जीवन व्यक्ति प्राप्त कर ले तो भी अगर वह शील एव सदाचार से युक्त न हो तो व्यर्थ है। और भाग्य से कदाचित् यह सब मिल गया तो अमूल्य चिन्तामणि के समान सम्यक्त्व रत्न प्राप्त होना तो बहुत ही कठिन है या दुर्लभ है।

तो बन्धुओ ! मनुष्य जन्म, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, लम्बा जीवन, और सम्यक्त्व की प्राप्ति करके भी कपायो के वेग से मन को नही बचाया और आश्रव करते चले गये तथा सवर एव निर्जरा की आराधना नही की तो यह शरीर पाने का क्या लाभ होगा ? कुछ नहीं ;

यह ध्यान मे रखते हुए हमें सवर-मार्ग अपनाना है एव धर्म की आराधना के लिये अपने मन व इन्द्रियो पर काबू पाना है। पर यह तभी हो सकता है, जबकि व्रत और नियमो का इन पर अकुश रखा जाय। सयमित जीवन के लिये व्रतो का बडा भारी महत्व है और उनका पालन करना आत्मोन्नति के लिये अनिवार्य है।

इसलिये व्रतों का पालन करते समय कोई भी बाधा, कैसी भी कठिनाइयाँ और कितने भी परिषह क्यो न सामने आएँ, साधक को उनसे घबराना नहीं चाहिये। अपितु दृढ मनोबल से उनका मुकाबला करना चाहिये। परिषहो से घबराकर व्रतो को भग कर देने वाले व्यक्ति का व्रत-धारण करना कोई महत्व नही रखता। क्योकि जिस प्रकार जूतो का महत्व घर मे नही वरन कटकाकीर्ण मार्ग पर होता है, इसी प्रकार व्रतो का महत्व साधारण दिनचर्या मे नही वरन उपसर्गों और परिषहो के समय साबित होता है। परिषह भी व्रतो की कसौटी हैं।

तो, जो मुमुक्षु प्राणी ऐसा मानकर परिषह सहते हुए भी अपने व्रतो का पालन करेंगे वे इस लोक और परलोक मे सुखी बनेंगे।

●●

१७ | असली और नकली

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से दसवें भेद पिपासा-परिषह को लिया था, जिसका अर्थ है साधुवृत्ति अंगीकार करने के बाद कडी से कडी प्यास लगने पर भी अचित्त पानी न मिले तो सचित जल ग्रहण न करना। जल के अभाव मे होने वाला कष्ट पिपासा-परिषह कहलाता है। सच्चे साधु अगर अचित्त जल न मिले तो इस परिषह को समभाव से सहन करते हैं। चाहे प्राण भी क्यो न चले जायें वे सचित्त जल ग्रहण नही करते। इसका ज्वलन्त उदाहरण त्यागी मुनि श्री मोतीलाल जी थे, जिनके विषय मे मैंने कल बताया था।

धर्म के लिये प्राणो की भेंट

हमारे इतिहास मे ऐसे महापुरुषो के अनेक प्रसंग आते हैं जिन्होंने अपने महाव्रतो के पालन करने के लिये तथा धर्म की प्रभावना के लिये अपने प्राणो को भी न्योछावर किया था। पूज्य श्री धर्मदास जी म० ऐसे ही साधु-रत्न थे। आपने भी धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राणो की बाजी लगा दी थी।

श्री धर्मदासजी म० के निन्यानवें शिष्य थे। उनमे से एक शिष्य एक बार अस्वस्थ हुआ और जीवन की आशा न रहने पर धार शहर मे उसने संथारा ग्रहण किया।

किन्तु कुछ दिन पश्चात् उसकी भावना बदल गई और उसने अन्य संतो से कहा—"मुझे खाने-पीने के लिए दो।" संतो ने समझाया कि समाधि धारण करने के पश्चात् अन्न जल ग्रहण नही करना चाहिए, पर शिष्य माना नही।

उन दिनो श्री धर्मदास जी म० दूसरे गाव मे विराज रहे थे। किन्तु यह समाचार पाकर उन्होंने तुरन्त वहा से विहार कर दिया और 'धार' पधार गये। वहाँ आकर आपने अपने शिष्य को पुन-पुन समझाया कि—"तुमने सथारा ग्रहण किया है और इसलिए अब खाने पीने की इच्छा करना पाप है। हम तुम्हें मारना नही चाहते पर व्रत ग्रहण कर लेने के पश्चात् उन्हे निभाना साधु का मुख्य कर्तव्य है। ऐसा न करने पर धर्म की बदनामी होती है तथा लोगो को टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिलता है।"

पर शिष्य पर गुरुजी की बातो का कोई प्रभाव नही पडा और उसने स्पष्ट कह दिया—"मुझसे रहा नही जाता, अब मैं अवश्य अन्न-जल ग्रहण करूँगा।"

जब धर्मदास जी म० ने शिष्य की ऐसी भावना देखी तो कहा—"ठीक है, फिर तुम सथारे के आसन से उठकर चले जाओ, तुम्हारा स्थान मैं ग्रहण करूँगा।"

जो लोग वहाँ उपस्थित थे, वे यह बात सुनकर सन्नाटे मे आ गये और महाराज को रोकने लगे। किन्तु धर्मदासजी धर्मवीर भी थ। उन्होने आहार और जल केवल मार्ग मे कही ग्रहण किया था। धार आने के पश्चात् जल भी नही लिया था अत प्यासे भी थे। पर क्षुधा या पिपासा-परिषह की परवाह न करते हुए वे उसी क्षण शिष्य के छोडे हुए आसन पर बैठ गये। पूर्ण समाधि भाव धारण करके अन्त मे उन्होने अपने प्राणो की आहुति धर्म के लिये चढा दी।

भगवद्गीता मे एक श्लोक है—

> **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,**
> **नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
> **तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—**
> **न्यन्यानि सयाति नवानि देही॥**
>
> —अ० २-२२

श्री धर्मदासजी म० ने गीता की इस बात को सत्य साबित किया है। वे ज्ञानी पुरुप थे और जानते थे कि मृत्यु कोई आश्चर्यजनक या दुखद वस्तु नही है। जिस प्रकार पुराना वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण कर लिया जाता है और ऐसा करने मे किसी को तनिक भी दुख या खेद नही होता उसी प्रकार अपने वर्तमान शरीर का त्याग करने मे महाराज श्री ने रचमात्र भी हिचकिचाहट और विचार नही किया, अपितु परम प्रसन्नता पूर्वक, स्वेच्छा से उसे धर्म के लिए अर्पण कर दिया। भगवान की आज्ञा का पालन करने के लिये अपने प्राणो की परवाह भी नहीं की।

वास्तव मे समय आने पर ही असली और नकली की परीक्षा होती है। किसी ने कहा भी है—

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी,
आपत काल परखिये चारी।

सकट मे धीरज

धैर्यवान व्यक्ति की परीक्षा सकट के समय ही होती है। अपनी दुकान और अपने घर मे सुरक्षित रहकर तो व्यक्ति चाहे जितनी डीगें हांक सकता है पर अगर घर मे चार चोर आ जाएँ तो मुँह से बचाओ—शब्द भी नही निकल पाता वह भी हलक मे ही रह जाता है।

इसके अलावा दु ख, कष्ट और परेशानी मे भी मनुष्य चिडचिडा हो जाता है तथा धीरज खो बैठता है, पर सभी व्यक्ति ऐसे नही होते। जो धैर्यवान पुरुष होते हैं वे कैसी भी आपत्ति क्यो न आ जाए, विचलित नही होते।

एक मारवाडी व्यापारी को एक बार गुड के व्यापार मे लगभग चालीस हजार रुपये का घाटा हो गया। जब किसी अन्य व्यक्ति ने उससे इस नुकसान के लिये सहानुभूति प्रकट की तो वह व्यापारी हँसने लग गया और बोला—"अरे भाई! मुझे चालीस हजार का घाटा नही वरन् तीस हजार का लाभ हुआ है।" सहानुभूति दिखाने वाला व्यक्ति यह सुनकर चकित हुआ और व्यापारी का मुँह देखने लग गया।

मारवाडी सज्जन ने तब कहा—"देखो मित्र! अगर आज मैं यह माल न बेचकर पन्द्रह दिन बाद बेचता तो मुझे चालीस के स्थान पर सत्तर हजार का नुकसान होता। तब तुम्ही बताओ मुझे तीस हजार का लाभ हुआ है या नही?" यह सुनकर दूसरा व्यक्ति चुप रह गया और व्यापारी के धीरज की मन ही मन प्रशसा करने लगा।

हमारे धर्म के इतिहास मे तो ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं। अल्प-वय के मुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर उनके ससुर द्वारा अगारे रखे गये तब भी उन्होंने उफ तक नही किया, महावीर भगवान के कानो मे कीलें ठोक दिये तब भी वे उसी शांत मुद्रा मे ध्यानस्थ रहे। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को अपना विशाल साम्राज्य छोडकर चाडाल के घर पानी भरना पडा और यही नहीं पत्नी व पुत्र को भी बेचना पडा। पर क्या उन्होंने धैर्य खोया? नही। महापुरुष किसी स्थिति मे धैर्य च्युत नही होते। परिणाम यह होता है कि वे ससार मे सदा के लिये अमर हो जाते हैं।

वाल्मीकि ने अपने एक श्लोक मे कहा है—

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमाघ्नावसीदति ॥

अर्थात्-शोक मे, आर्थिक सकट मे अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होने पर भी जो अपनी बुद्धि से दु ख निवारण के उपाय का विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कष्ट नही उठाना पडता।

दार्शनिक रूसो का भी कथन है—

"Patience is Witter, But its fruit is sweet."

—धैर्य कडवा होता है पर उसका फल मधुर होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि धैर्य की परीक्षा सकट मे होती है और जो महापुरुष उस कसौटी पर खरा उतर जाता है, उसे अपने धीरज का बडा उत्तम और मधुर फल मिलता है।

धर्म परीक्षा

धीरज के पश्चात दोहे मे धर्म के लिए कहा गया है कि धर्म की परीक्षा भी आपत्तिकाल मे ही की जाती है कि व्यक्ति उस समय अपने धर्म पर किस प्रकार दृढ रहता है।

'अन्तगढ सूत्र' मे बताया गया है कि सेठ सुदर्शन अपने माता-पिता से भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाने की इजाजत मांगते हैं।

सुदर्शन जी के माता-पिता यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं और कहते हैं—"बेटा ! वहाँ जाने का नाम भी मत लो। हम भगवान के दर्शन करने से तुम्हें नही रोकते, किन्तु मार्ग मे हत्यारा अर्जुनमाली घूमता है जो यक्ष के प्रभाव से प्रतिदिन कई व्यक्तियो की नृशसता से हत्या कर देता है तुम्ही बताओ हम कैसे अपने पुत्र को मौत के मुँह मे धकेल सकते हैं ? अच्छा तो यही है कि तुम यही से पूर्ण भक्ति के साथ भगवान को वन्दन कर लो। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, वे तुम्हारी वन्दना कबूल कर लेंगे। उस मार्ग पर न जाने के लिये तो यहाँ के राजा ने भी मुनादी करवा दी है और इसीलिये उधर कोई घास-फूस लेने भी नही जाता।"

सुदर्शन सेठ ने अपने पिता की बात बडी शाति से सुनी और नम्रतापूर्वक बोले—"पिताजी ! आपका फरमाना सही है, कोई भी पिता अपने पुत्र को इस प्रकार आज्ञा नही दे सकता। पर भगवान के दर्शन तो बडे दुर्लभ हैं और ऐसा

अवसर बार-बार नही आता। यह सच है कि मैं यही से उन्हे वन्दन करुगा तो वे जान लेंगे। पर मैं अपने चर्म-चक्षुओ से उन्हे कब देखूंगा ? इसके अलावा अर्जुनमाली के कारण मार्ग मे भय अवश्य है, पर मौत का भय कहाँ नही है ? क्या मैं यहाँ रहकर नही मर सकता ? इस शरीर को एक दिन तो जाना ही है फिर स्वय भगवान के दर्शन करने जाते समय या धर्म-कार्य करते समय चला जाये तो क्या हर्ज है ? आप मुझे प्रभु के दर्शन करने से न रोकें।"

इस प्रकार विनम्रता पूर्वक माता-पिता से आज्ञा लेकर सेठ सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिये रवाना हो गये। उनके हृदय मे तनिक भी मृत्यु का भय नही था, उलटे धर्म का बल जाग रहा था।

एक कवि ने ऐसे ही प्रसग को लेकर कहा है—

धर्म को भेंट जो इन्सान अपनी जान करते हैं,
अवध तक जिदगी के वास्ते सामान करते हैं।
नहीं है शय कोई ऐसी, जो बाइस खौफ हो उनको,
धर्म के वास्ते जो कशमकश इन्सान करते हैं।
मुबारिक जिदगी उनको जो कर दें धर्म पर कुरबान,
दमे-आखिर तलक इस रास्ते का ध्यान करते हैं।

कवि कहता है—उन महामानवो का जीवन धन्यवाद का पात्र है जो अपने आखिरी श्वास तक के लिये अपना प्रत्येक प्रयत्न करते हैं तथा आवश्यकता पडने पर अपनी जान भी भेंट कर देते हैं। उन शूरवीर प्राणियो के लिए धर्म-मार्ग बेखौफ होता है, अर्थात् वे स्वय किसी भी बाधा, परिषह और उपसर्ग से भयभीत नही होते तथा पूर्ण आत्म-बल के सहारे बढते चले जाते हैं।

हमारे सुदर्शन सेठ भी इसी प्रकार धर्म के मार्ग पर बढे चले जा रहे हैं और भगवान के दर्शन की चाह उन्हे परम प्रसन्नता से उन्हे भगवान की ओर खीचकर ले जा रही है।

किन्तु उपसर्ग और परिषह भी कब पीछे रहते हैं ? प्रत्येक महापुरुष को वे अपनी कसौटी पर कसे बिना आगे नही बढने देते। सेठ सुदर्शन के सामने भी हत्यारा अर्जुनमाली यक्ष का मुद्गर लिये हुए साक्षात् यम के समान आ खडा हुआ। लेकिन धर्मवीर सेठ डरे नही और उन्होने यही प्रार्थना की "हे प्रभो ! अगर मेरी जिन्दगी रही तो प्रत्यक्ष मे आकर दर्शन करूँगा अन्यथा इसी क्षण मे संथारा ग्रहण करता हूँ।"

सुदर्शन सेठ घवराये नही और न ही उनके मन मे यह विचार आया कि—"हे भगवान ! मुझे वचाओ ।" वे पूर्ण समाधिपूर्वक ध्यानस्थ हो गये ।

इधर अर्जुनमाली भयकर रूप धारण किये हुए दूर से ही सुदर्शन जी की ओर दौडता हुआ आया और समीप आकर उन्हे मारने के लिये मुद्गर ऊँचा किया। पर घोर आश्चर्य की वात तव हुई जवकि उस हत्यारे का मुद्गर लिये हुए जो हाथ ऊँचा उठा था, वह ऊपर ही थम गया । नीचे झुका ही नही ।

वधुओ ! आप सोचेंगे कि ऐसा कैसे हो गया ? पर इसमे आश्चर्य की वात नही है । जो दिव्य-पुरुप धर्म को अपने सम्पूर्ण अन्त करण से ग्रहण कर लेता है, क्या धर्म उसकी रक्षा नही कर सकता ? धर्म मे तो इतनी शक्ति है कि वह अनन्त जन्म-मरण से भी छुटकारा दिला देता है तो फिर सेठ सुदर्शन के लिये तो एक वार की मृत्यु का ही सवाल था ।

कहने का अभिप्राय यही है कि सेठ सुदर्शन मृत्यु का भय होने पर भी अपने धर्म से नहीं डिगे और कसौटी पर खरे उतरे । परिणाम स्वरूप वे सदा के लिये अजर-अमर हो गए ।

आपके पास कलेजा नहीं है ?

वैष्णव साहित्य मे भी एक छोटी सी कथा आती है कि नारद जी अपने आपको महान धर्मात्मा और भगवान का सच्चा भक्त मानते थे । उन्होने एक वार विष्णु जी से कहा भी कि—"भगवन् ! आपका सवसे वडा भक्त मैं हू । मेरे जैसा भक्त आपको इस ससार में दूसरा नही मिल सकता ।"

विष्णु यह सुनकर उस समय तो मौन रहे पर एक वार नारद जी की परीक्षा लेने का उन्होंने निश्चय किया । कुछ काल व्यतीत हो जाने पर एक वार जव नारद जी पुन उनके पास आए तो उन्होने असह्य दर्द का दिखावा करते हुए छटपटाना शुरू कर दिया ।

नारद जी ने जव उनकी तकलीफ के विषय मे और उसके ठीक होने के वारे मे पूछा तो वे वोले—

"आज मेरे पेट मे असह्य दर्द है । और यह तभी ठीक हो सकता है, जव कि मुझे किसी महान् धर्मात्मा और मेरे सच्चे भक्त का कलेजा मिले । '

नारद जी वोले—"इसकी क्या फिक्र है प्रभो ! मैं अभी चुटकियो मे ही इस कार्य को सम्पन्न करता हूँ तथा आपके लिये औपधि लेकर आता हूँ ।"

यह कहकर नारद ऋषि तीर की तरह वहाँ से दौड गये और सबसे पहले कुभ के मेले पर प्रयाग जा पहुचे। वहाँ गगाजी के किनारे पर असख्य भक्त जोर-शोर से भगवान विष्णु का नाम जपते हुए भक्तिभाव से स्नान कर रहे थे। नारद जी यह देखकर बडे प्रसन्न हुए और सोचने लगे—"ओह, यहाँ तो अनेको भक्त मौजूद हैं मुझे एक ही तो क्या, अनेकों धर्मात्मा व्यक्तियो के कलेजे मिल सकते हैं भगवान के पेट का दर्द मिटाने के लिये।"

यह विचार करते-करते वे एक व्यक्ति के समीप जा पहुचे जो जोर-जोर से विष्णु भगवान के नाम का उच्चारण करता हुआ गगा में स्नान कर रहा था। उस व्यक्ति से नारद जी बोले—"भक्तराज, क्या तुम भगवान विष्णु के सच्चे भक्त हो ?"

"अरे वाह! क्या तुम्हे दिखाई नही देता कि मेरी जबान पर विष्णु के अलावा और किसी का नाम आया ही नही है। मेरे भक्त होने मे क्या तुम्हें कोई सदेह है ?" व्यक्ति ने उत्तर दिया और पुन जल्दी जल्दी विष्णु का जप करता हुआ स्नान करने लगा।

नारद जी उस भक्त का उत्तर सुनकर खुश हुए और बोले—"तो भाई! मेरी बात सुनो, आज भगवान विष्णु जी के पेट मे असह्य दर्द हो रहा है, क्या तुम मुझे उनके लिये औषधि दे सकते हो ?"

वह भक्त प्रसन्न होकर बोला—"मेरा लाखो का कारोबार है जितना धन और जितनी दवाइयाँ चाहो भगवान के लिये ले जाओ। चाहो तो पूरी दवाइयों की दुकान ही खरीद लो।"

नारद जी मन मे विचार करने लगे—"वास्तव मे ही सच्चा भक्त और बडा भारी धर्मात्मा व्यक्ति है यह अब मेरा कार्य बनने मे क्या देर लगेगी ?" यह सोचते हुए वे प्रत्यक्ष मे बोले—

"बधु! भगवान के पेट का दर्द साधारण नही है। किसी अन्य दवाई मे वह ठीक नही हो सकता। उसके लिये एक ही औषधि है और वह है किसी सच्चे भक्त और धर्मात्मा पुरुष का कलेजा। तुम वास्तव मे ही सच्चे भक्त और धर्मात्मा प्राणी हो, अत अपना कलेजा निकाल कर मुझे दे दो ताकि भगवान का कष्ट मिट जाय।"

यह सुनते ही वह भक्त चोट खाए हुए सर्प की तरह उछल पडा और आग-बबूला होकर कह उठा—"आपका दिमाग खराब हो गया है क्या ? ससार मे कौन

बेवकूफ होगा जो अपना कलेजा निकालकर देगा ? चले जाइये यहाँ से। बड़े आए हैं कलेजा लेने वाले।"

नारद जी अपना सा मुँह लेकर वहाँ से खिसक गये, पर उन्हें भगवान का काम करके अपने को भक्त साबित करना था अत एक-एक करके कई भक्तो के पास पहुचे। किन्तु अपना कलेजा तो किसी ने भी नही दिया, उलटे नाना प्रकार के अपशब्द कहे। सबकी बातें सुनते हुए वे तीर्थराज प्रयाग से रवाना होकर बडे-बडे ठाकुरद्वारो मे और मन्दिरो मे भी गये जहाँ भक्तो की मडलियाँ आकाश को फाड देने वाले ऊँचे स्वरो मे कीर्तन कर रही थी और विष्णु का गुणगान कर रही थी पर नारद जी के लाख समझाने पर भी किसी ने अपना कलेजा तो नही दिया सो नही ही दिया।

आखिर हारकर वे एक जगल में निकल गये और एक वृक्ष के नीचे बैठकर उदास मन से नाना-प्रकार के विचार करने लगे। उसी वृक्ष पर एक लकडहारा चढा हुआ था और अपनी कुल्हाडी से लकडियाँ काट रहा था।

उसने जब नारद जी को इस प्रकार गमगीन देखा तो पूछा—"ऋषि जी! क्या बात है ? आप इस प्रकार सोच मे डूबे हुए क्यो बैठे हैं ?"

नारद जी निराशा से भरे हुए तो थे ही, बोले 'तुम जानकर क्या करोगे ? इस ससार मे कोई भी भगवान का सच्चा भक्त नहीं है। सब दिखाने की भक्ति करते हैं।"

लकडहारा बेचारा अपढ था पर भगवान और भक्त का उल्लेख सुनकर उसके कान खडे हो गये। वह आजिजीपूर्वक पूछने लगा—

"महाराज, कृपा करके मुझे बताइये तो सही कि आखिर बात क्या है ?"

इस पर नारद जी ने अनमने ढग से सक्षेप मे अपनी कठिनाई बता दी। लकडहारा यह सुनते ही बोला—"महाराज ! इतनी सी बात के लिये आप इतने परेशान हो रहे हैं ? अभी, इसी क्षण मेरा कलेजा भगवान के लिये ले जाइये। वह अत्यन्त गद्‌गद स्वर से कहने लगा— मेरे धन्य भाग्य कि आज मुझे ऐसा अवसर मिल रहा है। मेरा शरीर स्वय भगवान विष्णु के काम आए, इससे बढकर इसका और क्या फायदा है। देर मत कीजिये, आप शीघ्रातिशीघ्र मेरा कलेजा ले जाइये। मुझे एक-एक क्षण का विलम्ब भी अब अच्छा नही लग रहा है।"

नारद जी को प्रथम तो लकडहारे की बात का विश्वास ही नही हुआ और वे आंखें फाड-फाड़कर उसे देखने लगे। सोचने लगे कि यह कोई स्वप्न तो नही है ? पर जब लकडहारे ने पुन उन्हें अपने काम को पूरा करने की याद दिलाई तो उन्हे

वास्तविकता का ध्यान आया और वे बड़ी प्रसन्नता पूर्वक लकड़हारे का कलेजा लेकर विष्णु जी के पास पहुँच गये।

विष्णु जी के समक्ष पहुँचकर नारद जी बोले—"देखिये प्रभो ! मैं आपके लिये कलेजा लेकर आ गया हूँ, भला आपके कष्ट को मिटाने के लिये मैं पीछे रह सकता था ?"

विष्णु नारद जी की बात सुनकर मुस्कुराए और बोले—"अच्छा किया नारद जी। पर आप यह बताइये कि इस काम में आपको इतनी देर कैसे लग गई ?"

भगवान के इस प्रश्न के उत्तर में नारद जी ने अथ से इति तक का सारा हाल नमक-मिर्च लगाकर कह सुनाया कि वे कितनी कठिनाई से और भक्त की खोज-बीन करके यह कलेजा ला पाये हैं।

नारद जी की बात सुनकर विष्णु हँस पड़े पर साथ ही बोले—'मेरे लिये सच्चे भक्त और धर्मात्मा की खोज करने में आपको वास्तव में बड़ी दिक्कत हुई, किन्तु ऋषि जी ! क्या आपके पास कलेजा नहीं था ?"

बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि विष्णु ने ऐसा क्यों कहा ? कारण यही है कि जो नारद अपने आपको बड़ा धर्मात्मा और भगवान का सच्चा भक्त कहकर डींगें हाँकते थे, वे स्वयं ही विष्णु भगवान के कष्ट के समय अपना कलेजा देने के लिये तैयार नहीं हुए तथा सारे संसार में दूसरे का कलेजा लाने के लिये घूमते फिरे। विष्णु ने तो केवल परीक्षा लेने के लिये पेट दर्द का बहाना किया था। पर परीक्षा की कसौटी पर नारद ऋषि जैसे महापुरुष खरे नहीं उतरे, खरा उतरा एक साधारण लकड़हारा। यही धर्म-परीक्षा होती है।

मित्र कैसा हो ?

अभी कहे हुए दोहे में पौरुष और धर्म के पश्चात मित्र का उल्लेख किया गया है कि आपत्तिकाल में सच्चे मित्र की परीक्षा होती है। वैसे आज की दुनिया में किसी को भी मित्रों की कमी नहीं होती। चाय का एक कप पिलाते ही चाय वाला मित्र बन जाता है, एक बार सिनेमा दिखाते ही सिनेमा देखने वाला आपको मित्र कहने लगता है। किन्तु ऐसे मित्र क्या संकट में आपके काम आ सकते हैं, और आपके दुःख को कम कर सकते हैं ? नहीं, वे मित्र केवल सुख के साथी होते हैं, जिन्हें खिलाते-पिलाते रहो और मौज-मजे कराते रहो, तभी तक वे मित्रता निभाते हैं। आपके दुःख के समय आएँ, ऐसी आशा उन लोगों से नहीं की जा सकती। उदाहरणस्वरूप दो

मित्र हैं, साथ-साथ रहते हैं। किन्तु अगर एक की पत्नी या पुत्र बीमार पड जाय और पैसे की जरूरत पडने पर वह अपने मित्र के पास जाएगा तो मित्र तुरत ही बगलें झाँकने लगेगा या कह देगा—"दोस्त ! इस समय तो मेरा हाथ भी खाली है।"

किन्तु ससार मे सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते। ऐसे-ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो सकट मे अपने मित्र की तो क्या, शत्रु की भी सहायता करते हैं।

शत्रु को मारता हू

अब्राहिम लिंकन ऐसे ही महापुरुप थे। वे जिस प्रकार अपने मित्रों के साथ सरलता एव सौजन्यता का व्यवहार करते थे, उसी प्रकार अपने शत्रुओं के साथ भी बड़ा प्रेमपूर्ण सबंध रखते थे।

यह देखकर एक बार उनके एक मित्र ने झुंझलाहट के साथ कहा—"यह आपका नया रवैया है ? शत्रु को तो जान से मार देना चाहिये। किन्तु आप उनसे भी दोस्त के समान पेश आते हैं।"

मित्र की बात सुनकर लिंकन हँस पडे और बोले—"भाई ! मैं शत्रु को मारता ही तो हूँ। फर्क केवल यह है कि तुम उन्हें जान से मार डालना चाहते हो और मैं मित्र बनाकर मारना चाहता हूँ।"

कितनी महानता थी लिंकन मे और कितने उच्च विचार थे उनके ? उनका शत्रु, शत्रु के रूप मे मरकर मित्र बन जाता था। अगर ऐसी गहराई और महानता से व्यक्ति विचार करे तभी वह सच्चा मित्र बन सकता है। वह मित्र, मित्र नहीं कहला सकता जोकि प्रत्यक्ष मे तो खुशामद और चापलूसी करके मित्रता का दभ करे और परोक्ष मे निंदा-बुराई करता रहे।

हितोपदेश में कहा गया है—

परोक्षे कार्य हन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्ज्जयेत्तादृश मित्र विषकुम्भ पयोमुखम् ॥

—मुँह के सामने मीठी बातें करने और पीठ पीछे छुरी चलाने वाले मित्र को विष से भरे हुए और ऊपर से दूध डले हुए घडे के समान त्याग देना चाहिए।

तात्पर्य कहने का यही है कि व्यक्ति को बहुत ठोक-बजाकर ही किसी से मित्रता करनी चाहिये। जिस-तिस पर विश्वास करना, और उसे मित्र मान लेना बुद्धिमानी नही है क्योकि ऐसे मित्र कभी आवश्यकता पडने पर और विपत्ति के

समय साथ नहीं देते। मित्रता कृष्ण और सुदामा जैसी होनी चाहिये। अधिकतर हम देखते है कि साथ-साथ पढ़ने और रहने वाले दो विद्यार्थियों में से भी एक बड़ा होने पर अगर किसी ऊँचे पद पर पहुँच जाता है और दूसरा भाग्यहीनता का शिकार बनकर रह जाता है तो उच्च पदवी-धारी व्यक्ति दूसरे को अपना मित्र कहने में भी शर्म का अनुभव करता है। समय-असमय अपने घर बुलाना तो दूर की बात है।

सच्ची जीवनसंगिनि कौन सी ?

अब हमारे सामने नारी का विषय आता है। नारी की परीक्षा भी विपत्ति में हो जाती है। जब तक पति अपनी स्त्री को अच्छा खिला-पिला सके, अच्छे वस्त्राभूषण पहना सके और जीवन के सभी सुख-साधनों को प्रदान कर सके, तब तक तो वह पूर्ण सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती है। किन्तु अगर कभी पति को व्यापार में घाटा आ गया या दिवाला निकलने की नौबत आई तथा उस समय उससे लज्जा रखने के लिये जेवर माँगे जायें तो वह फौरन इन्कार कर देगी और कहेगी— 'गहने मेरे मायके के हैं तुम्हारा इन पर क्या अधिकार है ?"

इसके अलावा जब पुरुष की वृद्धावस्था आ जाती है और वह कमा नहीं पाता तो वही स्त्री पति की सेवा करना तो दूर उलटे उसकी मृत्यु की कामना करने लगती है।

राजा परदेशी ने जब अपना सम्पूर्ण समय आत्म-कल्याण में लगाना आरम्भ कर दिया तो उसकी रानी सूर्यकान्ता ने राजा को विष दे दिया। इससे साबित हो जाता है कि स्वार्थ-साधना में कमी होते ही स्त्री अपना रूप बदल देती है।

इसीलिये तुलसीदास जी ने 'अयोध्याकाण्ड' में कहा है—

> सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ,
> सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
> निज प्रतिबिम्ब मुकुर गहे जाई।
> जानि न जाय नारिगति भाई॥

कवि का कहना है कि—'मैं सत्य कहता हूँ, नारी का स्वभाव पूर्ण रूप से अगम्य यानी समझ में न आ सकने वाला और कपट से भरा हुआ होता है। दर्पण में पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्ब को तो फिर भी पकड़ सकता है पर नारी यानी उसके कार्य-कलाप को कभी नहीं समझ सकता।

कवीर तो तुलसीदास जी से एक कदम और आगे वढ गये हैं। उनका कथन है—

साँप वीछि को मत्र है, माहुर झारे जात।
विकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात॥

क्या कहा है इन्होंने ? कहा है कि साँप और विच्छू के काटने पर तो उनका जहर मत्र से उतर जाता है, किन्तु नारी जव पल्ले पड जाती है तो वह कलेजे को ही खा डालती है।

वन्धुओ, ये कथन अवश्य ही स्त्रियो के लिये कहे गये हैं और इनके द्वारा नारी जाति की तीव्र निन्दा झलकती है। किन्तु अगर हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो इन कवियो के कथन अपवाद ही कहला सकते हैं। उदाहरण के तौर पर इसी वसुधरा पर तो सावित्री जैसी सती ने जन्म लिया था जो यमराज के मुँह से अपने पति सत्यवान को छुडा लाई थी। यही पर सीता भी हुई थी, जिसने वनवास मे भी अपने पति रामचन्द्रजी का साथ नही छोडा था। आप सभी जानते हैं कि वनवास केवल 'राम' को दिया गया था, सीता को नही। उलटे सभी ने उसे अयोध्या मे रहने का ही आग्रह किया था। किन्तु सीता ने स्पष्ट कह दिया था कि जिस प्रकार छाया शरीर को नही छोड सकती, इसी प्रकार मैं भी अपने पति को वन मे भटकने के लिये भेजकर आनन्द से अयोध्या मे नही रह सकती। इनके सुख मे ही मेरा सुख और इन्ही के दुख मे मुझे दुख है। सीता के विषय मे सारा ससार जानता है कि उस पतिव्रता ने कितने कष्ट सहन किये और रावण द्वारा हरण किये जाने पर भी किस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा की। इसीलिये अग्नि-परीक्षा मे भी वह खरी उतरी तथा कुड मे धधकती हुई अग्नि शीतल जल मे वदल गई।

ऐसे उदाहरणो से सावित होता है कि इस विश्व मे नारी-रत्नो की भी कमी नही रही और वे आपत्ति, विपत्ति आदि सभी प्रकार की कसौटियो मे खरी उतरी हैं। उन्होने पति का प्रत्येक समय मे साथ दिया है और गृहस्थ धर्म व आत्म-धर्म का भी यथाविधि पालन किया है। उन्हे लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।"

अन्त मे केवल इतना ही कहना है कि इस ससार मे अगर नकल है तो असल भी अवश्य है और समय आने पर उसकी परख हो जाती है।

१८ | कर्तव्यमेव कर्तव्यं....।

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

इन दिनों हमारा विषय परिषहों को लेकर चल रहा है। भगवान की आज्ञा है कि अगर साधक को संसार-मुक्त होना है तो उसे अपने अनियन्त्रित जीवन को व्रतों एवं नियमों में नियन्त्रित या संयमित करना चाहिये। साथ ही ध्यान रखना चाहिये कि लिये हुए व्रत किसी भी स्थिति में और कैसे भी कष्ट आने पर भंग न हों।

जीवन में परिषहों का आना कोई बड़ी बात नहीं है। साधु के लिये तो कदम-कदम पर परिषह आ उपस्थित होते हैं क्योंकि सदोष आहार वे ग्रहण नहीं करते और निर्दोष मिलने में कठिनाई होती है। कहीं कोई दोष सामने आता है और किसी घर में कोई दोष। इस प्रकार उन्हें अनेकों बार क्षुधा-परिषह सहन करना होता है। और इसी प्रकार पिपासा-परिषह का भी सामना पड़ता है।

मुनिव्रत अंगीकार करने के पश्चात् सचित्त जल का साधक के लिये सर्वथा त्याग होता है केवल अचित्त जल ही वे ग्रहण कर सकते हैं। अचित्त जल अथवा उष्ण जल ही उनके काम आता है अतः ऐसा जल मिलना ग्राम में कम, विचरण करते हुए मार्ग में तो बहुत कठिन हो जाता है। किन्तु उसके न मिलने पर भी किसी भी अवस्था में साधु शीतोदक ग्रहण न करे, यह शास्त्रों का विधान है।

कर्तव्याकर्तव्य की पहचान

शास्त्रों का कर्तव्य मार्गदर्शन करना है। वे साधक को साधना के पथ पर चलने की सम्पूर्ण विधियाँ बताते हैं, किन्तु उन पर चलना साधक की इच्छा या क्षमता पर निर्भर है। जिस प्रकार सरकार एक गाँव से दूसरे गाँव के लिए, और

एक शहर से दूसरे शहर को जाने के लिये सडकें बनवा देती है। पर उस पर कौन चलता है और कौन नही, इस पर वह विचार नही करती।

इसी प्रकार भगवान ने साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारो तीर्थों के लिए क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य हैं, यह बता दिये हैं और साथ ही यह भी समझा दिया है कि कर्तव्यो का पालन करने पर आत्मा विशुद्ध बनकर उत्थान की ओर बढती है तथा अकर्तव्य या अकरणीय करने पर अवनति की ओर अग्रसर हो जाती है। इतना सब कुछ जानकर और समझकर भी अगर व्यक्ति अपने व्रतो पर दृढ नही रहता, अपने कर्तव्यों का पालन नही करता तो समझना चाहिये कि उसके जन्म-मरण का चक्र चलता रहने वाला है।

कर्तव्यो का महत्व बताते हुए एक श्लोक भी कहा गया है—

कर्तव्यमेव कर्तव्य, प्राणै कठगतैरपि।
अकर्तव्यम् न कर्तव्य, प्राणै कंठगतैरपि ॥१॥

कहा है-- चाहे प्राण कठ मे ही क्यो न आ जायें, अर्थात् मृत्यु निकट हो क्यो न आ खडी हो, व्यक्ति को कर्तव्य ही करना चाहिये अकर्तव्य नही।

जो महापुरुष इस बात को समझ लेते हैं, वे ही ससार-मुक्त होते हैं तथा सदा के लिए अमर हो जाते हैं। सुदर्शन सेठ को अभया रानी ने लालच दिया और न मानने पर धमकी भी दी किन्तु उन्होंने ब्रह्मचर्य का खडन कर अकर्तव्य नहीं किया। इसके अलावा रानी दोषी थी, पर उन्होने उसका नाम भी नही बताया तथा मौन धारण कर लिया। सती चन्दनबाला की माता रानी धारिणी ने जीभ खीचकर मृत्यु का आलिंगन किया पर शील-धर्म का पालन किया।

इसी प्रकार जो धर्म और नीति का पालन करने वाले पुरुष होते हैं वे किसी भी परिस्थिति मे धैर्य खोकर अकरणीय कार्य नहीं करते।

कर्तव्य का मधुर फल

एक व्यापारी को व्यापार मे बडा घाटा लग गया। घाटा आ जाने पर उसने विचार किया कि अगर मैं अन्य साहूकारों से कह देता हूँ कि मेरे पास कुछ भी नही है तो उनका नुकसान होगा अत मुझे ऐसा नही करना चाहिये।

वह घर आया और अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिये तथा औरो को अधिक हानि न हो इसलिये पत्नी से बोला—"अपने घर मे पडा हुआ जो भी सोना या जेवर है वह इस समय दे दो।"

व्यापारी की पत्नी उन औरतों में से नहीं थीं जो जेवर के लिए मरती हैं और पति की जान जाने का अवसर आ जाने पर भी उसे निकाल कर नहीं दे सकती। उस व्यापारी की पत्नी ने सहर्ष घर का सम्पूर्ण जेवर पति के हवाले कर दिया। व्यापारी ने सब आभूषणों को इकट्ठा किया और दुकान पर ले आया। उसके पश्चात् उसने सभी साहूकारों को बुलवाया और उनसे स्पष्ट कहा—

"बन्धुओ! हाल ही में मुझे व्यापार में जबर्दस्त घाटा लग गया है, और मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि आप सबका पूरा ऋण चुका सकूँ। किन्तु यह मेरे घर का सम्पूर्ण जेवर मकान तथा खेत आदि जो कुछ भी है आपके सामने है। मैं चाहता हूँ कि इन सबको लेकर आप सब आपस में बाँट लें तथा मुझे ऋण से मुक्त करें। ईश्वर ने चाहा तो भविष्य में कभी मैं आप सबका बचा हुआ ऋण भी अवश्य चुकाऊँगा।"

साहूकार लोग व्यापारी की बात सुनकर हक्के-बक्के रह गये। पर उसकी ईमानदारी और नैतिकता से बहुत प्रभावित हुए। सबके दिलों में विचार आया कि यह ईमानदार व्यक्ति हमारे रुपये कभी हजम नहीं कर सकता। इस वक्त यद्यपि इसे नुकसान उठाना पड़ा है, पर अगर इसे अपने व्यापार को संचालन करने का मौका मिल जाए तो यह सबका ऋण अवश्य ही चुका देगा। वैसे भी हमें अभी पूरा रुपया तो मिल नहीं सकता है अतः अच्छा यही है कि यह अपने व्यापार में सम्भल जाय ताकि अपनी प्रतिष्ठा भी बनाए रखे और हमारा रुपया भी सुरक्षित हो जाय।

ऐसा विचार कर सब व्यापारियों ने सलाह की तथा प्रत्येक ने पच्चीस-पच्चीस हजार रुपये उस व्यापारी को पुनः दे दिये। उन्होंने कहा—भाई! संकट का समय किसी के लिये और कभी भी आ सकता है। इसके अलावा तुम इतने नीतिवान और ईमानदार हो कि हमारा पैसा कभी न कभी निश्चय ही चुका दोगे। अतः यह सब रुपया लो और पुनः अपने व्यापार को चालू करो। हमें उस समय कुछ भी नहीं चाहिए। यह जेवर और सोना वापिस घर ले जाओ और अपनी जायदाद भी रहने दो।

इस प्रकार बिना कुछ भी लिये, उलटे अपने पास से पच्चीस-पच्चीस हजार और देकर वे सब साहूकार अपने-अपने स्थान पर चले गए। पर यह क्यों हुआ? इसलिये कि व्यापारी ने अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निभाया तथा सच्चाई पूर्वक अपनी स्थिति लोगों के सामने रख दी। अगर वह किसी प्रकार भी बेईमानी करता और इसके कारण से रुष्ट होता तो उसका फल कभी इतना सुन्दर नहीं होता।

व्यापारी को लोगो की सहायता और सहानुभूति से हिम्मत बँध गई और प्राप्त हुई पूँजी से उसने पुन अपना व्यापार जमा लिया। सौभाग्य से कुछ ही समय मे उसने आशा से अधिक धन कमा लिया और उन्ही सब साहूकारो को बुलाकर बोला—

"भाइयो ! मैं आपका बडा कृतज्ञ हू कि आप लोगो ने मेरी विपत्ति मे सहायता की, अन्यथा मैं कभी ऋण-मुक्त नही हो सकता था। पर आप सबकी सद्भावना से आज मैं इस काबिल हो गया हू कि आपका कर्ज चुका सकू अत अब कृपा करके अपने रुपये ब्याज सहित ले जाइये। मैं केवल आपके पैसे का ऋण ही चुका रहा हूँ, आपके प्रेम का ऋण तो असीम है और उसका चुकना सभव नहीं है।

बन्धुओ, जिस प्रकार घाटा खाये हुए व्यापारी ने अपने कर्तव्य का पालन किया, उसी प्रकार साहूकारो ने भी अपने कर्तव्य का पालन किया तथा एक गिरते हुए व्यक्ति को सहारा देकर पुन उठाया। इसीप्रकार साधु और श्रावक को भी अपने कर्तव्य, यानी व्रतो के पालन मे दृढ रहना चाहिये। तथा परिषह या उपसर्ग आने पर जिन वचनो का सहारा लेकर अपनी आत्मा को पुन सम्हाल लेना चाहिये। उन्हे सोचना चाहिये—

उपसर्ग और परिषह हैं ऋण का देना।
बदला लेकर क्यो नया कर्ज फिर लेना ?
मानापमान जिन ने समान पहचाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

भारिल्ल जी ने अपने इस पद्य मे गूढ भावो को गागर मे सागर के समान भर दिया है। उन्होने बताया है कि पूर्वकृत कर्मों का निविड बन्धन होने पर ही प्राणी पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं उसे अनेकानेक सकटो का सामना करना पडता है। तथा और तो और सत-मुनिराजो को भी उपसर्गों और परिषहो से बचना असभव हो जाता है।

बहुत से व्यक्ति आकर हमे यह कहते हैं—

"महाराज ! हम ससारी प्राणियो को तो दु ख एवं कष्ट भोगना पडता है सो ठीक ही है पर साधु-सत तो कोई पाप नही करते फिर उन्हें क्यो कष्टो का सामना करना पडता है ?

अरे भाई ! यह ठीक है कि सत-मुनिराज अपनी साधना के कडे नियमो का पालन करते हुए पाप नही करते। किन्तु पिछले जन्म के कर्मों का फल तो भोगना

बात कितनी सुन्दर और यथार्थ है। कि अगर हम शाति पूर्वक परिषहो को सहन कर लेते हैं तो पूर्वकृत कर्मों पर अगर आर्त घ्यात्त पैदा हो गया और उपसर्ग-प्रदान करने वाले के प्रति बदला लेने की भावना मन मे आ गई तो पुन कर्मों का बन्धन हो जाएगा। दूसरे शब्दो मे फिर जीव कर्मों का कर्जदार हो जाएगा और अगली बार उन्हे फिर भुगत कर चुकाना पड़ेगा।

इसलिए, मान और अपमान, दु ख और सुख सभी को समान समझकर मुमुक्षु को अपने कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये। वही व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी बनता है जो प्रत्येक स्थिति मे समभाव रखता है तथा परिषहो को पिछला कर्ज समझकर उसे शाति से चुकाता है। वह भव्य प्राणी नवीन कर्म बाँधकर पुन. कर्जदार कभी नही बनता।

साधना के पथ का पथिक कभी परिपहो से नही घबराता, वरन उन्हे अवश्य भावी या होनहार मानकर स्वीकार करता है। क्योकि वह भली-भांति जानता है कि वही कुछ जीवन मे घटता है जो होना अनिवार्य है। आप और हम भी प्राय यही कहते हैं—'होनहार बलवान है।' इस सम्बन्ध मे एक बडा मनोरजक किन्तु शिक्षाप्रद उदाहरण वैष्णव साहित्य मे पाया जाता है—नमस्कार किसको ?

घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार एक कुए पर तीन स्त्रियाँ पानी भर रही थी। वे पानी भरते-भरते आपस मे हँसी-मजाक और गप-शप करती जा रही थी।

सयोगवश उसी समय उधर से नारदजी घूमते-घामते निकल आए। नारदजी, नारदजी ही थे, उन्होने तीनों के समक्ष एक बार झुककर नमस्कार किया और वहाँ से चलते बने।

नारदजी के नमस्कार करते ही वे तीनो स्त्रिया खुश हुई और उनमे से एक बोली—

"नारदजी कितने अच्छे हैं ? उन्होंने मुझे पहचान लिया और नमस्कार भी किया।

यह सुनकर दूसरी स्त्री बोली—"अरे वाह ! नारदजी ने तो मुझे पहचाना है, तभी तो उन्होने नमस्कार किया था।" उन दोनो स्त्रियो की बातें सुनते ही तीसरी भडक उठी और बोल पडी—

"तुम दोनो अपने आपको समझती क्या हो ? नारदजी ने केवल मुझे ही नमस्कार किया था। भूल जाओ इस बात को कि उन्होने तुम्हें प्रणाम किया है।

तब उनमे से एक पहले बोली—"ऋषि जी ! मेरा नाम लक्ष्मी है और मैं लोगो को धन-माल से भरपूर करके ससार के अनेक सुख प्रदान करती हूँ। अब कहिये आपका नमस्कार मेरे लिये ही था न ?"

नारद जी बोले—"नही ! तुम कुछ लोगो को ही निहाल करती हो। ससार के बडे-बडे विद्वान और ज्ञानियो के निकट तुम नहीं फटकतीं अत मैंने तुम्हें नमस्कार नही किया।"

लक्ष्मी नारद की बात सुनकर चुप हो गई। कुछ भी नही बोल सकी। अब दूसरी स्त्री प्रसन्न होकर कह उठी—"मेरा नाम सरस्वती है ऋपिराज ! तुम्हारे बताए हुए विद्वान और ज्ञानी पुरुष मुझे ही चाहते हैं और मैं उन पर अपनी कृपा उँडेल देती हूँ। निश्चय ही आपने मुझे प्रणाम किया था। ठीक है न ?"

सरस्वती की बात सुनकर नारद जी अपनी चोटी ठीक करते हुए धीरे-धीरे बोले—"मैंने तुम्हे भी नमस्कार नही किया। क्योकि तुम भी अपनी कृपा इने-गिने लोगो पर ही करती हो। बडे-बडे धनी और कुबेरपति तो तुम्हारी दया न होने से गोबर गणेश ही रह जाते हैं।" नारद जी की बात सुनकर सरस्वती भी अपना सा मुँह लेकर रह गई।

अब तीसरी स्त्री की बारी आई। दो स्त्रियो के प्रति नारद जी का मन्तव्य सुनकर वह भी कुछ-कुछ निराश होते हुए हिचकिचाहट पूर्वक बोली—

"नारद जी ! मेरा नाम तो होनहार है।" स्त्री के मुँह से यह शब्द सुनते ही नारद जी उछल पडे और उसे आगे कुछ भी बोलने का मौका न देते हुए उसे पुन हाथ जोडते हुए बोले—"देवी ! तुम्हें ही मैंने नमस्कार किया था। तीनो मे से तुम ही बस ऐसी हो जो लाख प्रयत्न करने पर भी अपना करिश्मा लोगो को दिखाए बिना नही रहती और तुम्हारी कृपा से संसार का कोई भी व्यक्ति चाहे वह चक्रवर्ती हो और चाहे भिखारी, कोई वचित नही रहता। तुम ही वह देवी हो जिसे मैं तो क्या ससार का हर व्यक्ति नमस्कार करता है।"

तो बधुओ, मैं आपको यह बता रहा था को होनहार को कोई नही टाल सकता। साथ ही ध्यान मे रखने की बात यह है कि होनहार या होनी का निर्माण कर्मबन्धनो के द्वारा होता है अत जबकि कर्मों के फल को भोगे बिना नही बचा जा सकता तो फिर होनी को कैसे टाला जा सकता है ?

मन को ढील मत दो ?

इसलिये मेरा यही कहना है कि जब हमे उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम

सुनकर उसे देखने के लिये उनके यहाँ पधारे। शालिभद्र की माता ने महाराज को घर आया हुआ देखकर अपार प्रसन्नता से अपने पुत्र को पुकारा—"बेटा! नीचे आओ, अपने यहाँ स्वय महाराज पधारे हैं।"

शालिभद्र ने वही से अनमने भाव से उत्तर भिजवा दिया—"भडार मे डलवा दो।" वे यह भी नही जान पाये कि राजा क्या होता है?

तव मा ने स्वय जाकर समझाया—'अरे बेटा! हमारे स्वामी आए हैं अतः उनके दर्शन करलो।"

यह सुनकर शालिभद्र जी चौंक पडे और सोचने लगे—"अभी तक तो मैं स्वय को ही अपना मालिक समझता था पर क्या ये मेरे भी मालिक हैं? तव तो मुझे अव ऐसा करना है कि मेरा कोई भी स्वामी न वन सके।"

यह सोचते-सोचते ही उन्हे विरक्ति हो गई एव उन्होंने अपनी ऋद्धि एव वत्तीस पत्नियो को छोडकर सयम ग्रहण कर लिया। और जिस प्रकार पुण्य रूपी शक्कर की गाडी भरकर उस जन्म से लाए थे, उसी प्रकार पुन शुभ-कर्म रूपी शक्कर गाडी मे भरकर इस लोक से भी ले गये। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती आदि के भी उदाहरण हमारे शास्त्र मे मौजूद हैं।

(२) अव हम श्री स्थनाग सूत्र मे वर्णित दूसरे प्रकार के व्यापारी जीव के विपय मे विचार करते हैं। शास्त्र के अनुसार दूसरी तरह का व्यापारी जीव वह वताया गया है जो पिछले जन्म से तो गाडी खाली लाता है, किन्तु इस जन्म मे उसे भरकर ले जाता है।

खाली गाडी से तात्पर्य पुण्य-हीनता है। पुण्यो के अभाव मे वह इस जन्म मे तो कुछ प्राप्त नही करता किन्तु धर्म-ध्यान, जप-तप एव चारित्र की आराधना करके अगले जन्म के लिये पुण्य-रूपी शक्कर अपनी गाडी मे भर लेता है।

हमने देखा है, वम्बई जैसे वडे नगर मे अनेक गुमास्ते वडी-वडी पेढियो पर काम करते हैं। वे दिन भर मेहनत करके अपने मालिक को लाखो रुपयो का नफा दिलाते हैं। किन्तु स्वय उन्हे कठिनाई से गुजारा करने लायक ही पैसा मिलता है। किन्तु वे वफादारी से कार्य करते है और अपने मालिक से प्रथम ही इतना वायदा करा लेते हैं कि हम अपना नित्य-नियम स्वाध्याय एव भजन-पूजन आदि करके काम पर आएँगे अत कभी देर भी हो जाय तो आप हमे क्षमा कीजियेगा।

इस प्रकार इस जीवन मे यद्यपि वे सुख के साधन अपने लिये नही जुटा पाते किन्तु परलोक के सुख की सामग्री सचित कर लेते हैं। मुनिवर हरिकेशी चाडाल कुल

चार प्रकार के व्यापारी जीवो के विषय मे बताया गया है, और यह आपको निर्णय कर लेना है कि आप किस प्रकार के व्यापारी बनना चाहते हैं।

आप अपनी गाडी मे शक्कर भरकर लाए है यह तो दिखाई दे ही रहा है किन्तु गाडी यहाँ पर जो खाली हो रही है, उसे पुन किससे भरना है? शक्कर से या मिट्टी से? आप मिट्टी के नाम से नाराज हो रहे होगे? पर भाई, शक्कर भी यो ही तो नही मिल जाएगी। उसके लिये त्याग करना पडेगा, नियम लेने पडेंगे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की आराधना करनी होगी तथा सवर के मार्ग पर आत्मा को बढाना पडेगा। परलोक कोई नानीजी का घर नही है कि कुछ परिश्रम किए विना ही वहाँ सब कुछ मिल जाय।

इसलिए बन्धुओ! इस दुर्लभ भव को पाकर हमे भली-भाँति जान लेना है कि हमारे लिए कर्तव्य क्या हैं और अकर्तव्य क्या हैं। जब हम यह समझ लेंगे तभी सवर के मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण कर सकेंगे।

बहता पानी निर्मला, पड्या गदेला होय।
साधु तो रमता भला, दागन लागे कोय ॥

देखा जाता है कि पानी जब तक बहता रहता है, तब तक वह पूर्णतया निर्मल रहता है। किन्तु अगर वही पानी एक स्थान पर इकट्ठा हो जाय तो अशुद्ध व मलिन हो जाता है। जिस स्थान पर पानी रुकता है उसे मराठी भाषा मे 'डबक' कहते हैं और हिन्दी मे 'गड्ढा'। खैर उसे कुछ भी कहें, पर यह सत्य है कि उस स्थान पर पानी गदा, दुर्गंधपूर्ण हो जाता है तथा वहाँ काई जमा हो जाती है।

इसी प्रकार साधु के लिये भी कहा जाता है कि अगर वह एक ही स्थान पर अधिक समय तक ठहरे तो उसकी आत्मा अलिन हो जाती है। आप विचार करेंगे कि ऐसा क्यो ? वह इसलिए कि अगर वह एक ही गांव या शहर मे अधिक समय रहे तो उसका वहाँ के व्यक्तियो के प्रति मोह हो जाएगा और एक ही स्थान पर अधिक ठहरने से कुछ न कुछ परिग्रह भी बढेगा। इसी प्रकार और भी कुछ न कुछ अप्रिय घट सकता है, अत भगवान ने आदेश दिया है कि साधु विचरण करता रहे तथा गांव छोटा हो तो वहाँ पर केवल एक रात्रि के लिये ही ठहरे।

यहाँ एक बात ध्यान से समझने की है कि शास्त्रो के अनुसार समय का प्रमाण इस प्रकार है छोटे गाँव मे एक रात्रि, यानी अगर साधु सोमवार को गाँव मे पहुचे तो अगले सोमवार की रात्रि आने से पहले वहाँ से रवाना हो जाय। यानी एक सप्ताह ठहरे। इसी प्रकार बडे शहर मे पाँच रात्रि यानी उन्तीस दिन रहे।

कहने का अभिप्राय यही है कि विशेष कारण और चार महीने के वर्षावास के अलावा साधु ग्रामानुग्राम विचरण करता रहे और धर्म-प्रचार करे। गाथा मे आगे बताया है कि विचरण वह किस प्रकार करे ? साधु जो कि सासारिक सुखो से विरक्त हो जाता है तथा अपनी इन्द्रियो को काबू मे कर लेता है वह फिर भूख प्यास शीत-ग्रीष्म, किसी भी परिषह की परवाह नहीं करता। और इसलिये रूक्ष वृत्ति रखता हुआ यानी स्निग्ध भोजन आदि की इच्छा न करता हुआ पूर्ण सन्तोष-वृत्ति के साथ वह मार्ग मे चले और रात्रि-विश्राम करे ऐसा सयमी-साधक के लिए विधान किया गया है।

आगे कहा गया है कि वह शीत परिषह को भी सहन करे और उससे बचने के लिये स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन करके स्थानातरण न करे।

शीत परिषह

आप जानते ही हैं कि शीत का प्रकोप कैसा भयकर होता है ? उससे बचाव करने के लिये आप कितने ही गर्म वस्त्र पहनते हैं, हीटर आदि जलाकर कमरे गर्म

सस्कृत मे एक श्लोक है, जिसमे प्रश्न है और उत्तर भी। श्लोक इस प्रकार है—

क बलवन्तम् न बाधते शीतम् ?
कंबलवन्तम् न बाधते शीतम्।

पद्य की प्रथम पक्ति मे कहा गया है—ऐसा कौन बलवान है, जिसको ठड नही लगती ? और दूसरी पक्ति, जिसमें शब्द वही हैं, बताया गया है—कम्बल वाले को ठड नही लगती। यानी जिसके पास कबल है उसे सर्दी नही लगती।

अभिप्राय यही है कि शीत निवारण के लिये कवल होना आवश्यक है किन्तु सत कहां ये सब रखते हैं ? वे तो अपने साधारण वस्त्रो से ही काम चलाते है। चाहे कितना भी शीत का प्रकोप क्यो न हो, अपने सीमित वस्त्रो का ही उपयोग वे करते हैं। इसके साथ ही भगवान के आदेशानुसार अपनी दिन-चर्या अथवा रात्रि-चर्या मे भी बाधा नही आने देते। कडाके की सर्दी क्यो न हो, ठीक समय पर स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन और मनन मे जुट जाते हैं। इस प्रकार तनिक भी कष्ट का अनुभव न करते हुए वे परम-शाति और प्रसन्नता पूर्वक शीत-परिषह सहन करते हैं।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में बताया है कि जिन व्यक्तियो को सासारिक सुखो से विरक्ति हो जाती है वे यह सोचते हैं—

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्य मम सुदिवसैर्यत्र तं निर्विशका,
सप्राप्स्यन्ते जरठहरिणा शृङ्गकडूविनोदम्॥

ससार से उदासीन व्यक्ति यह भावना रखते हैं कि—अहा ! वे सुख के दिन कब आएंगे जबकि हम गगा नदी के किनारे पर हिमालय की शिलाओ पर पद्मासन लगाकर विधिपूर्वक नेत्र बद करके ब्रह्म का ध्यान करते हुए योगनिद्रा मे मग्न होंगे तथा वृद्ध हरिण निर्भयता पूर्वक हमारे शरीर की रगड से अपने शरीर की खुजली मिटाएंगे।

ससार-विरक्त प्राणी की कैसी सुन्दर भावनाएं हैं। वह इस प्रपंचमय जगत से दूर जाकर एकान्त मे ब्रह्म के ध्यान मे निमग्न हो जाना चाहता है। वह चाहता है कि मैं योग-निद्रा मे ऐसा लीन हो जाऊं कि अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठूं।

आप विचार कर सकते हैं कि शरीर की सुधि भूल जाने वाला साधक क्या

फिर शीत और ग्रीष्म का अनुभव करता है ? नहीं, ये सब परिषह तो उसे गौण लगते हैं उसके सामने महत्त्व केवल उसकी साधना का ही रहता है।

सच्चे मुनि के भी यही लक्षण हैं। वे अपनी साधना मे इतने रत रहते हैं कि भूख-प्यास एव शीतादि परिषह उन्हे महसूस ही नही होते। उन्हें ध्यान रहता है केवल अपनी सयम-साधना का वे अपने व्रतादि का पालन करने मे इतने दृढ़ होते हैं कि शरीर की सुख-सुविधा के विचार उनके अन्त करण से निकल जाते हैं।

आपको क्या करना है

बधुओ ! यह तो हुई हमारी मुनिचर्या की बात। आपमे इतना साहस, त्याग और दृढता नही है। साधारण से साधारण कष्टो से भी आप घबरा जाते हैं तथा धर्म-क्रियाओ को और ईश-चिन्तन को एक ओर रख देते हैं। और तो और जिस समाज, देश और धर्म मे आपने जन्म लेकर अपने आपको बडा किया है, उसके लिये किये जाने वाले साधारण कर्तव्यो का भी आप पालन नही कर पाते हैं। कम से कम इनका ध्यान तो आपको रहना ही चाहिये।

किसी कवि ने यही बात ध्यान मे रखते हुए देश के नौजवानो को प्रेरणा देते हुए उनका साहस बढाने का प्रयत्न किया है तथा कहा है—

नौजवानो, तुम कदम उलटे हटाना छोड दो,
काम के मैदान मे पीछा दिखाना छोड़ दो।

कवि का कहना है— ऐ नौजवानो ! जिस देश, धर्म और जाति मे तुमने जन्म लिया है, और जहाँ की मिट्टी से तुम्हारा पोषण हुआ है, कम से कम उसका खयाल तो करो। तुम्हारा कर्तव्य समाज और धर्म की सेवा करना है अत उससे विमुख मत होओ। अभी तुम्हारे समक्ष बडा भारी कर्तव्य है, और वह है अपने धर्म और समाज को ऊँचा उठाना। इसलिये काम करो और कार्य-क्षेत्र मे बढते चलो। काम से मुँह मोडकर पीठ मत दिखाओ। आगे कहा है—

ऐ उस्तादो ! तुम रहो हर वक्त पवन की तरह।
कप कपाना छोड दो और डगमगाना छोड़ दो !

नौजवानो को अत्यधिक प्रेरणात्मक 'उस्ताद' शब्द से सम्बोधित करते हुए कवि ने अपनी मनोरजन वृत्ति का भी परिचय दिया है। उस्ताद वही होता है जो स्वय भी समर्थ हो और दूसरो को भी समर्थ बना सके। अत उसका कहना है कि देश के नवयुवको, तुम ऐसे ही शक्तिशाली, मार्गदर्शक बनो तथा अपने हृदय मे तनिक भी भय मत रहने दो। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न आए, कैसे भी कष्ट क्यो

न सहन करने पडे और कैसे भी उपसर्ग तथा परिषहो का सामना क्यो न हो, तुम मेरु पर्वत की तरह अविचलित बने रहो तथा देश व धर्म लिये कभी कुरबानी देनी पडे तब भी हँसते-हँसते बलिदान हो ही जाओ।

जैनाचार्य 'मानतुंग' ने भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए कहा है— हे प्रभो ! आपके समक्ष ससार के सम्पूर्ण ऐशोआराम आए किन्तु—

> चित्रं किमत्रयदि ते त्रिदशांगनाभि—
> र्नीतम् मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
> कल्पान्तकालमरुता चलिता चलेन,
> किं मन्दराद्रि शिखर चलित कदाचित्॥

अर्थात्—भगवन् ! आपका मन इस जगत के भोग-विलासो से विरक्त होने के कारण अप्सराओ और देवागनाओ को अपने समक्ष पाकर भी विचलित नही हुआ। पर इसमे भी आश्चर्य की क्या बात है, क्योकि प्रलयकाल की भयकर वेगवान हवाएँ चलने पर भी मेरु-पर्वत कभी नहीं डोलता तो फिर आप तो चैतन्य स्थिति को प्राप्त एव आत्मा की अनन्त शक्ति से परिपूर्ण हैं। इसलिये आपका मन विकार-मार्ग की ओर कैसे बढ़ सकता है ?

भगवान की इस शक्ति के प्रति नतमस्तक होता हुआ कवि भी नौजवानो को यही प्रेरणा दे रहा है कि जीवन में चाहे जैसी विकट स्थितियाँ क्यो न आएँ, मेरु-पर्वत की तरह अकप रहो, डगमगाओ मत।

आगे कहा है—

> कुर्सियो पर क्यो पडे रहते हो मित्रो हर घड़ी,
> लूले लगडे की तरह आराम पाना छोड़ दो।

कितनी सुन्दर बात कही गई है कि तुम्हारे माता-पिता और शिक्षको ने तुम्हें कुछ करने योग्य बना दिया है और उच्च-पद भी तुम्हे मिल गए है। किन्तु उन पदवियो को पाकर तुम्हे उनका इतना नशा या अहकार हो गया है कि अब आराम से तुम उन पर बैठे रहते हो, जैसे कि अब कुछ करने को शेष ही नहीं रह गया है। पर यह तुम्हारे मन का लगडापन है। सही रूप से सोचा जाय तो नौजवानो के कार्य करने का समय तो अब सामने आया है जबकि वे स्वय अपनी बुद्धि और बल के द्वारा देश, धर्म तथा समाज के लिये कुछ कर सकते हैं। दूसरे शब्दो मे अभी तक तो औरो के सहारे से ऊँची कुर्सियो पर बैठ सके हैं पर उनका कार्य-क्षेत्र अब उन्हें पुकार रहा है। और इस समय वे पगु के समान अपनी पदवियों से चिपके ही बैठे

रहें और कुर्सियां तोडते रहे तो यह उनके लिये शर्म की बात है। इसीलिये कवि उन्हें समझा रहा है—

> धर्म का और देश का कितना है वाजिव तुम पै हक,
> अब जरूरी फर्ज को तुम भूल जाना छोड़ दो।

कहते हैं —कुर्सी प्राप्त कर लेना और अपने नाम को फैला देना कुछ भी नही है, जब तक कि व्यक्ति अपने पद के अनुरूप कार्य न करे। उसे कुर्सी काम करने के लिए जनता प्रदान करती है, अपना घर भरने के लिये नही। कुर्सी-प्राप्त व्यक्ति को सोचना चाहिये कि देश और धर्म का उस पर कितना कर्ज है, और उससे कार्य लेने का उसे कितना अधिकार है? इसलिये प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को अपना फर्ज कभी नही भूलना चाहिये।

हमारे इतिहास मे तो ऐसे अनेको उदाहरण मौजूद हैं कि बिना किसी पद को प्राप्त किये और बिना ख्याति लाभ की इच्छा के साधारण व्यक्तियो ने भी देश के लिये अनेक चमत्कारिक कार्य किये हैं।

सच्चा परोपकारी

मैंने एक बार एक बालक की कहानी पढी थी आपने भी सुनी होगी। नाम मुझे याद नहीं है, इतना ध्यान है कि वह बालक घूमता-घामता ट्रेन की पटरियो के किनारे-किनारे कही जा रहा था।

अचानक एक स्थान पर उसकी दृष्टि पडी और उसने देखा कि किन्ही दुष्ट व्यक्तियो ने वहां पर पटरियां उखाड दी हैं ताकि ट्रेन उस जगह आते ही एक्सीडेंट का शिकार बने और परिणाम स्वरूप अनेको व्यक्तियो की प्राणहानि के साथ ही सरकार को क्षति हो।

यह देखते ही वह पन्द्रह या सोलह वर्ष का बालक बहुत घबराया। उसने देखा कि स्टेशन वहां से थोडी ही दूर है, सिगनल गिरा दिया गया है, क्योकि गाडी के वहां से रवाना होने मे थोडा ही वक्त है।

बालक विचार करने लगा कि अगर इस समय कुछ उपाय नही हो सका तो गाडी आ जाएगी और देखते-देखते ही अनेको व्यक्तियो का सहार हो जाएगा। समय नही था अत उसने किसी नुकीले पत्थर से कुछ क्षणो मे ही अपने शरीर के किसी हिस्से मे बडासा घाव कर लिया और जब तेजी से खून निकलने लगा तो अपनी कमीज को खोल कर उसी खून से रग लिया।

कुछ मिनिटो में ही उसने यह कार्य कर लिया और आस-पास से कोई लकडी

उठाकर उस पर कमीज को झडी की तरह टाग लिया। इसके पश्चात् उसे हाथ मे लेकर हिलाता हुआ वह उस दिशा की ओर दौड चला जिधर स्टेशन था और जहा से गाडी आने वाली थी।

अब देखिये कि इधर से बालक अपने खून से कमीज रगकर दौड रहा था और उधर से ट्रेन के चालक की दृष्टि दूर से दौडकर आते हुए और हाथ मे कुछ लाल-लाल सा कपडा हिलाते हुए बालक पर पड गई। दाल मे कुछ काला समझ कर उसने फौरन गाडी को रोकने के लिये ब्रेक लगा दिया। पर मोटर के समान ट्रेन तो एकदम रुकती नही पर धीरे-धीरे उस बालक के समीप पहुँचने तक वह रुक गई। हो—हल्ला मच गया तथा लोग गाडी से उतर कर यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि क्या हुआ है। पर इन सबसे पहले ड्राइवर तथा गार्ड वगैरह सभी शीघ्रता पूर्वक उस लहूलुहान लडके के समीप पहुच चुके थे।

सबने मिलकर उसे सम्हाला तथा उसके इस प्रकार दौडने का कारण पूछा। बालक ने मन्द-स्वर से कहा—"आगे पटरी टूटी हुई है। गाडी गिर जाती इसलिए मैंने अपनी कमीज को खून से रगकर झडी बनाई है। कृपया आप ट्रेन को उधर न जाने दें।"

यह कहते-कहते बालक अचेत हो गया क्योकि उसके शरीर से बहुत खून वह गया था। पलक झपकते ही लोगो को बात समझ मे आ गई और देश के उस नन्हे तथा वफादार नागरिक के प्रति उन सबका मस्तक झुक गया। सब लोग अपना बलिदान देकर इतने लोगों की जान बचाने वाले उस बालक के लिये आँसू बहाने लगे।

तो बन्धुओ, जो प्राणी अपने देश, समाज व धर्म के प्रति वफादार होते हैं तथा उनसे अनुरक्ति रखते हैं वे देश-धर्म का भला, ख्याति-लाभ, नामवरी या पुरस्कार प्राप्ति की इच्छा से नही करते। उनका हृदय केवल अच्छा कार्य करना चाहिए तथा सबका भला हो ऐसा करना चाहिए, यही कहता है और वे अपने हृदय की इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर कार्य करते हैं।

तो कवि भी आप से यही कह रहा है कि अपना फर्ज और देश का अपने ऊपर कर्ज समझकर आप उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रयत्न करें। आगे कहा गया है—

"डाल दो-खतरे मे अपनी जिन्दगी को शौक से
धर्म की रक्षा मे अपना तन बचाना छोड दो।'

यह मानव शरीर जो जीव को मिला है, वह केवल खाने-पीने और मौज करने के लिए नही, अपितु देश और धर्म की रक्षा के लिए तथा आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है। अत प्राणो की परवाह किये बिना व्यक्ति को चाहिए कि वह इनकी रक्षा करे। सस्कृत मे एक कहावत है—

"कार्यम् साधयामि वा देहम् पातयामि।"

आत्मविश्वासी और दृढ प्रतिज्ञ व्यक्ति जिस कार्य को करने का बीडा उठाता है, उसे सम्पन्न करके ही छोडता है। वह कहता है—'या तो काम पूरा ही करूँगा अन्यथा अपने प्राणो का उत्सर्ग कर दूँगा।' ऐसे दृढ विचारो वाले व्यक्ति ही हाथ में लिये कार्य को पूर्ण कर सकते हैं।

कविता मे अब बताया गया है—

मैं ये कहता हूँ कि तुम गर्दन न काटो और की,
ये नही कहता कि अपना सर कटाना छोड दो।

इन पक्तियो से अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को चाहे अपना बलिदान देना पडे तो वह खुशी से दे, किन्तु कभी भी दूसरे की गर्दन काटने का प्रयत्न न करे। जो व्यक्ति किसी और का बुरा सोचता है उसका कभी भी भला नही होता। कहा भी जाता है—

'गड्ढा खोदे और को, ताहि कूप तैयार।'

एक उदाहरण से यह कहावत स्पष्ट हो जाती है—

जैसे को तैसा

फारस देश के बादशाह का गुलाम एक बार भाग गया। उसे पकडने के लिए चारो ओर सैनिक भेजे गए तथा वह गुलाम पकडकर ले आया गया।

अगले दिन बादशाह जब दरबार मे बैठे थे, गुलाम को सजा देने के लिए उपस्थित किया गया। यद्यपि भाग जाने की सजा मृत्यु दण्ड नही होती किन्तु बादशाह का मत्री उस गुलाम मे बहुत रुष्ट था अत बोला—"हुजूर, इस व्यक्ति को फासी पर लटका देना चाहिये।"

अब बादशाह ने गुलाम से पूछा—"तुम अपनी सफाई मे क्या कहना चाहते हो?"

वह दास नम्रतापूर्वक बोला—"जहाँपनाह! मैं भागा था इसलिए दोषी अवश्य हूँ। किन्तु मैंने किसी की हत्या नही की अत मुझे मार डालने से आपका न्याय

कलकित हो जाएगा। पर अगर आप भी मुझे मरवा डालना चाहते हैं तो कृपया आज्ञा दीजिए कि मैं मेरे लिए मृत्युदण्ड की सजा तजवीज करने वाले मत्री को मार डालूँ ताकि मैं बडा भारी खूनी वन जाऊँगा और फिर मुझ दोषी को मरवा डालने से आपको कोई यह नही कह सकेगा कि आपने एक निर्दोष की हत्या करवाई थी।"

दास की वात सुनकर वादशाह को क्रोधित होने पर भी हँसी आ गई और वे मत्री से पूछने लगे—

'कहो वजीर! इस विषय मे अव तुम्हारी क्या राय है ?"

वादशाह की वात सुनकर तो मत्री महाशय के देवता ही कूच कर गये। वे धीरे से वोले—"हजर, यह पुराना सेवक है, इसे क्षमा ही कर दीजिये।"

यह उदाहरण तो हुआ दूसरो का गला काटने की इच्छा करने पर स्वय का गला कटने की नौवत आ जाती है यह वताने वाला। इसके साथ ही मैं यह भी वताना चाहता हूँ कि दूसरे का गला काट देना ही केवल गला काटना नही है, वरन् वेईमानी से किसी का धन हडपकर उसे भूखे मरने को वाध्य करना भी गला काटना हैं और अनीतिपूर्वक धधा करके गरीबो को हानि पहुँचाना या अधिकाधिक व्याज लेकर कभी भी कर्जदार को ऋण मुक्त न होने देना भी उसका गला काटना है। प्राय देखा जाता है कि साहूकार मूल की अपेक्षा भी व्याज को दुगुना, चौगुना करता चला जाता है और वेचारा कर्जदार जो एक वार किसी साहूकार के चगुल मे फस जाता है, फिर जीवन भर उससे मुक्त नही हो सकता। यहाँ तक कि उसकी अगला पीढियाँ भी व्याज तक नही चुका पाती मूल तो दूर की वात है।

तो वधुओ, ऐसी अनैतिकता भी दूसरे का गला काटने के वरावर ही है। आज अमीर लोग मजूरो से दिनभर कडा परिश्रम करवा के भी उन्हे भरपेट खाने लायक पैसा नही देते और इस प्रकार उनके पेट पर लात मारते हैं। ये सभी कार्य अनुचित हैं और मानवता के नाम पर कलक हैं अत प्रत्येक वुद्धिमान और विवेकवान व्यक्ति को इनसे वचना चाहिये। उसे चाहिये कि वह किसी भी अन्य को तकलीफ न दे तथा किसी भी प्रकार से सताए नहीं। ऐसा करने पर ही वह सच्चा नागरिक, सच्चा देशप्रेमी और सच्चा धर्मात्मा वन सकता है।

अव कविता की अतिम पक्तियाँ सुनिये—

शूरवीरो, अव वची हैं अगर कुछ भी जिंदगी,
आगे वदख्वाहों के तुम आँसू वहाना छोड दो!

वची हुई जिंदगी से कवि का अभिप्राय उत्साह एव जिंदादिली से है। उसका

कहना है कि अगर तुममे थोडी भी समझ, बुद्धिमानी, विवेक, और आत्म-विश्वास आदि हैं तो गये हुए समय के लिये पश्चात्ताप मत करो और निराशा का भी सर्वथा त्याग करके पुन जीवन को उत्थान की ओर ले जाने का प्रयत्न करो। जिस प्रकार सम्पूर्ण रस्सी कुए मे चली जाए पर चार अ गुल हाथ मे रहे तो पूरी रस्सी ऊपर खीच ली जाती है, इसी प्रकार कितनी भी जिदगी क्यो न बीत गई हो जो भी वर्ष, महीने, दिन, घटे या क्षण भी बाकी हैं उनसे भी लाभ उठाने का प्रयत्न करो। जीवन भर पाप करने वाला व्यक्ति भी अगर अपने अन्तिम समय मे किये हुए पापो का प्रायश्चित करके शुद्ध समाधिभाव धारण कर लेता है तो वह बहुत कुछ साथ लेकर इस लोक से प्रयाण करता है।

पर बधुओ, इसका यह अर्थ भी आप मत लगा लेना कि इस दृष्टि से तो हम अपना जीवन चाहे जैसे, अर्थात् भोग-विलास या कुकृत्य करके भी बिता लें तो कोई बात नही है क्योंकि अन्तिम क्षणो पर तो सारा दारोमदार है ही और तभी परलोक सुधार लेंगे। अगर आपने ऐसा सोच लिया तो इससे बढकर मूर्खता और कोई नहीं होगी। जीवन का अन्त कैसा होना है, प्रथम तो यह भी कोई नही जानता और अत-समय मे परिणाम अच्छे हो ही जाएँगे इसको भी गारटी नही है।

इसलिये आप क्योंकि श्रावक हैं और श्रावक के नाते आपकी सीमाएँ विस्तृत हैं अत आपको अधिक कार्य करना है तथा जीवन मे अधिक सावधानी भी बरतनी है। मुनि तो जिस बात का त्याग करते हैं उसे पूर्णरूप से छोड देते हैं। किन्तु आपको तो सासारिक कार्य करते हुए भी व्रतो को निभाना है और दूसरे शब्दो मे ससार मे रहकर भी ससार से परे रहना है। आपका जीवन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर आपके लिये भी कसौटियां तैयार रहती हैं और उन पर आपको खरा उतरना है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने फरमाया है—

मानुष जनम शुभ पाय के भुलाय मत,
औसर गमाय चित्त फेर पछितावेगो।
साधुजन सगत अनेक भाति धर ताप,
छोरिके कुपथ एक ज्ञान पथ आवेगो॥
जीवदया सत्य गिरा अदत्त न लीजे कभौं,
धारि के शियल मोह ममत मिटावेगो।
ठावेगो सुक्रिया ए तो मन मे विरागधार,
कहे अमीरिख तबे मोक्षपद पावेगो॥

कवि ने अपने पद्य मे प्रत्येक मनुष्य-जन्म प्राप्त करने वाले जीव को चेतावनी दी है कि—'भोले प्राणी ! इस दुर्लभ जीवन को प्राप्त करके तू अपने आपको मत भूल, अर्थात् अपनी आत्मा के कल्याण का सदा ध्यान रख। अगर तूने यह अमूल्य अवसर खो दिया तो फिर जन्म-जन्म मे तुझे पछताना पडेगा।

वे कहते हैं—"तू सत्सगति में रह तथा जितना भी हो सके त्याग-तपस्या को अपना। इसके अलावा सबसे बडी बात तो यह है कि तू सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करने का प्रयत्न कर जिससे सही मार्ग को खोज सके। आत्मोन्नति का सही मार्ग है—हृदय मे करुणा की भावना रखते हुए अन्य प्राणियो पर दया करना, जिह्वा से सदा सत्य-भाषण करना, कोई भी अदत्त वस्तु ग्रहण नही करना तथा शील धर्म की आराधना करते हुए ससार के प्रत्येक पदार्थ को 'पर' समझकर उनसे मोह एव ममता को हटा लेना।

आगे कहा गया है—हे जीव ! अगर तू इस प्रकार विरक्ति-भाव धारण करके शुभ क्रियाएँ करेगा तो निश्चय ही मोक्ष-पद की प्राप्ति कर लेगा।

तो बधुओ, आप समझ गए होगे कि आत्मोन्नति का मार्ग क्या है और उस पर किस प्रकार दृढता से चला जा सकता है ? वैसे मेरा आज का विषय शीत-परिषह चल रहा था और उसके विषय मे पूर्व मे बता दिया गया है। किन्तु प्रसगवश आपको भी अपने कर्तव्यों का पालन करने की प्रेरणा दी है अगर इसे आप अमल में लायेंगे तो इस लोक और परलोक मे भी सुख की प्राप्ति करेंगे।

●●

२० | वही दिन धन्य होगा…!

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल मैंने वाईस परिपहो मे से तीसरे शीत परिषह के वारे मे वताया था। आज भी इसी विपय पर कुछ और वर्णन चलेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की मातवी गाथा मे कहा गया है—

> न मे निवारण अत्थि छवित्ताण न विज्जई।
> अह तु अग्गि सेवामि इइ भिक्खु न चिन्तए ॥

अर्थात्— मेरे पास शीत से निवारण करने वाला स्थान नही है और शरीर को उससे बचाने लायक वस्त्रादि भी नही है, अत मैं अग्नि का सेवन करूँ, इस प्रकार का चिन्तन मुनि कदापि न करे।

इस गाथा के द्वारा साधु को अग्नि तापने का निपेध किया गया है। भले ही उसके पास सर्दी से वचाव के लिये काफी और उचित वस्त्र न हो, ठीक स्थान भी उसे न मिला हो, फिर भी वह अग्नि के समीप वैठे नही और अग्नि तापने की इच्छा न करे। क्योकि सयम ग्रहण करने पर मुनि ससार के समस्त जीवो की रक्षा करने का व्रत लेता है। किन्तु अग्नि सचित्त यानी सजीव होती है। सजीव ही क्या वह तो अग्निकाय के जीवो का समूह मात्र ही होती है। अत अगर साधु अग्नि के ताप से शीत निवारण करता है तो अग्निकाय के असख्य जीवो की हिंसा का भागी वनता है।

आप जानते ही हैं कि जव एक वाड टूट जाती है तो फिर एक के वाद एक सभी धीरे-धीरे समाप्त होकर ही रहती हैं। अत, अगर साधु अग्नि के समीप वैठ

जाएगा तो धीरे-धीरे उसके निमित्त से ही अग्नि का प्रज्वलन होना प्रारम्भ हो जाएगा। इसके अलावा जब परिषह सहन करने की शक्ति साधु मे न रहेगी तो उसकी आत्म-शक्ति साधना के लिये भी किस प्रकार उत्कृष्ट बन सकेगी। शरीर को सुख पहुँचाना और मुक्ति के लिये सयम की दृढ साधना करना यह दोनो कार्य एक साथ नही हो सकते। जो व्यक्ति शरीर को सुख पहुचाने का प्रयत्न मे रहता है, वह आत्मा को सुखी करने का प्रयास नही कर सकता।

क्योंकि दोनो परस्पर विरोधी मार्ग हैं शरीर के सुख की कामना करने वाला मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है और आत्मा को सुख पहुचाने का प्रयास करने वाला निवृंत्ति मार्ग होता है। इन दोनो पर एक साथ कभी नही चला जा सकता। जिसकी प्रवृत्ति भोगो की ओर होगी वह निवृंत्ति मार्ग या त्याग मार्ग को कैसे अपनाएगा ?

योगशास्त्र मे कहा भी है—

"स्वय त्यक्ता ह्यते शमसुखमनन्त विदधति।"

यानी—सासारिक भोगो को अपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शरीर को सुख पहुँचाना भी भोगेच्छा ही कहलाती है और अगर साधु इनकी इच्छा रखता है तो वह त्याग को दृढता से नही अपना सकता और उसकी सयम-साधना बाधित होती है। और इसीलिये अगर वह शीत-परिषह को सहन न करके अग्नि तापना प्रारम्भ करेगा तो उसे गरम वस्त्र रखने की भी चाह पैदा हो जाएगी और उसके साथ ही शीत-निवारण के उपयुक्त स्थान की अपेक्षा भी करेगा। परिणाम यह होगा कि उसका मन इन्ही बातो मे उलझा रहेगा और समय पर स्वाध्याय, चितन-मनन आदि मे वह लीन नही हो सकेगा। फिर भव-सागर पार करने की इच्छा तो उसके लिये आकाश-कुसुम ही बनकर रह जाएगी।

गुजराती भाषा के एक कवि का कथन है—

आ भव-सागर तेह तरे छे, करवानूं जे काम करे छे।
मगलकारक जेना मन छे, दोष करवाथी जेह डरे छे॥

यह ससार-रूपी समुद्र वही पार कर सकता है जो करने योग्य कार्य ही करता है। और करणीय वही है जो भगवान ने बताया है। ऐसा साधक जिसका अन्त करण मगलकारी है, और जो ससार के किसी भी जीव का अमगल नहीं सोचता वह पापों से सदा भयभीत रहता है, अत किसी काम मे जीव की हिंसा नही करता। ऐसा

व्यापारी जीव ही अपनी गाडी मे शक्कर भर कर जाता है और शक्कर भरकर ही ले जाता है।

एक दिन मैंने श्री स्थानाग सूत्र के आधार पर आपको वताया था कि व्यापारी जीव चार प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के वह जीव जो पुण्यरूपी शक्कर भरकर यहाँ लाते हैं और पुन यहाँ भी शुभ-करनी करके शक्कर ही भर ले जाते हैं। दूसरे वे जीव जो पुण्य-रूपी शक्कर लाते तो हैं पर उसे यहाँ समाप्त कर डालते हैं यानी अगले लोक मे जाने के लिये वह पुन सचय नही करते। दूसरे शब्दो मे यहाँ पर वे कुछ भी सुकृत या साधना नही करते। तीसरे जीव वे होते हैं, जो पूर्वकृत तो कुछ साथ मे नही लाते, किन्तु इधर सयम की अटूट साधना करके अपनी गाडी पुण्य रूपी शक्कर से ठसाठस भरकर ले जाते हैं। और चौथी प्रकार के अभागे जीव वही होते हैं जो खाली आते हैं और खाली ही जाते हैं। न वे शुभ-कर्मों का कुछ फल साथ मे लाते हैं और नही यहाँ शुभ-कर्म करके कुछ साथ ही ले जाते हैं।

प्रसगवश मैंने इन चार प्रकार के व्यापारी जीवो के विषय मे पुन सक्षिप्त रूप से वताया है क्योकि अव मैं व्यापारी जीवो की पाँच प्रकार की भावनाएँ एक कवि के भजन के आधार पर वताने जा रहा हूँ। कवि ने वताया है कि प्रत्येक व्यापारी जीव की चाहे वह सत हो या गृहस्थ, पाच प्रकार की भावनाएँ होती हैं। किन्तु जो त्यागी और सन्यासी होता है वह सासारिक व्यापार की कला को अपनाकर भी धर्म का व्यापार करता है—

जव सुकृत द्रव्य कमाऊंगा, मैं वही धन्य दिन मानूँगा।

आज ससार के सभी व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाने की चिन्ता मे रहते हैं। उसकी तृष्णा का कभी अन्त नही आता। उनके लिये पेट भरने की समस्या वडा विकट रूप धारण किये रहती है। जवकि एक वैष्णव सत हरिरामदास जी महाराज तो यह कह गये हैं—

तू कहा चित करै नर तेरिहि,
तो करता सोई चित करेगो।
जो मुख जानि दियो तुम्ह मानव,
सो सवहुन को पेट भरेगो॥
कूकर एकहि टूक पे कारण,
नित्य घरोघर वार फिरेगो।
दास कहे हरिराम विना हरि,
कोई न तेरो काम सरेगो॥

—पेट भरने के लिये ही वावले के समान फिरने वाले प्राणी के लिए सत कहते हैं—"अरे मानव ! तू अपनी ही चिन्ता दिन-रात क्या करता है ? तेरी चिंता तुझे वनाने वाले को भी तो होगी।

जिस विधाता ने मनुष्य को मुँह दिया है तो क्या उस मुँह मे डालने के लिए वह अन्न के कण नही देगा ? वह तो एक तेरा ही क्या, सभी जीवो का पेट भरेगा।

कुत्ता बुद्धिहीनता और विवेकहीनता के कारण एक-एक टुकडे के लिए घर घर घूमता है किन्तु तुझे तो ईश्वर ने विशिष्ट शक्ति, ज्ञान, विवेक और मस्तिष्क दिया है फिर तू केवल पेट भरने की समस्या को लिए ही क्यों यत्र-तत्र फिरता रहकर अपने अन्य समस्त गुणो को व्यर्थ कर रहा है ? क्या इस जन्म मे केवल उदर-पूर्ति करते रहने से ही तेरा मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का उद्देश्य पूरा हो जाएगा ? नहीं, मानव-जन्म केवल पेट भरने के लिए नही, वरन सदा के लिए पेट और उसकी भूख मिटाने के लिए मिला है और यह तभी सभव होगा, जबकि तू हरि का स्मरण करेगा। इस प्रकार चाहे तू लाख सिर और वातो के लिए पटक, किन्तु भगवान के विना तेरा कोई भी कार्य सिद्ध नही होगा। उसके स्मरण करने से ही काम सरेगा यानी सदा के लिए भूख मिटाकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकेगा।

सीधी-साधी भाषा मे सत ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है। अगर व्यक्ति इसे समझ ले और अपने परलोक को सुधारने का निश्चय कर ले तो उसका यह शरीर प्राप्त करना सार्थक हो जाएगा।

यहाँ यह वात ध्यान मे रखने की है कि यद्यपि अधिकतर ससारी जीव मिथ्यात्व के उदय और ज्ञान-हीनता के कारण सतो के उपदेशो को भी इस कान से निकाल देते हैं। किन्तु सभी ऐसे जीव नही होते। अनेक भव्य प्राणी ऐसे भी होते हैं जो मानव भव की दुर्लभता को समझते हैं, उसके उद्देश्य को जानते है और इसलिए इस ससार मे रहते हुए भी ससार से उदासीन रहकर शुभ-भावनाएँ भाते हैं। वे ही उत्तम भावनाएँ मैं आपके सामने रखने जा रहा हू और वे इस प्रकार हैं—

> व्यावहारिक द्रव्य कमाने को, दूकान खोल मैं देता हू।
> त्यो धर्म दुकान को खोलूँगा मैं वही धन्य दिन मानूँगा॥

मुमुक्षु प्राणी की पहली भावना हैं—सुकृत करनो करना। इस विषय में एक लाइन मैं पहले कह चुका हूँ जिसमे कवि कहता है—जव मैं सुकृत द्रव्य कमाऊँगा तभी अपने आपको और उस दिन को धन्य समझूँगा। भौतिक द्रव्य कमाने मे तो आज सारी दुनिया लगी हुई है। पर उससे क्या लाभ होना है ? यह शरीर

छूटते ही सब यही पडा रह जाएगा। लाभ तो उस द्रव्य से ही होगा जो मेरे साथ पुण्य के रूप मे चलेगा। अब है दूसरी भावना जिसे भाते हुए कवि कह रहा है— इस शरीर को सुख-सुविधा पहुँचाने वाले जड द्रव्य को कमाने के लिए तो मैं दुकान खोल कर बैठता हूँ और अपना अमूल्य समय नष्ट करता ही हूँ, पर ऐसी सासारिक दुकान के समान ही जब मैं धर्म रूपी दुकान भी खोललूँगा, अपने जीवन के उसी दिन को धन्य समझूँगा। उस दूकान मे आने वाले व्यक्ति को भी मै कुछ जीवन को सुधारने के सूत्र बता सकूँगा और स्वय भी ज्ञान हासिल करूँगा।

'उपासक दशा सूत्र' मे आनन्द श्रावक के विषय मे वर्णन आता है कि वे अपने श्रावको से कहते थे—"भाई! दुनियादारी की बातें करनी हो, मेरे बडे पुत्र के साथ करो, पर मेरे पास आए हो तो हे आयुष्मन्! इस निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ करो, इसे समझो क्योकि इसके अनुसार चलने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। इस प्रकार आनन्द श्रावक मुनि नही थे। ससारी व्यक्ति ही थे पर वे अपनी भौतिक दुकानदारी को छोडकर धर्म की दुकानदारी करते थे। जिसके द्वारा आने वाले को भी आत्मोन्नति का उपाय बताते थे तथा स्वय भी अपने आत्म-कल्याण के प्रयत्न मे लगे रहते थे।

भजन मे आगे साधक की भावना दर्शाई गई है—

द्रव्य माल का निशिदिन में, क्रय विक्रय तो मैं करता हू।
त्यो रत्नत्रय लूँगा-दूँगा वही धन्य दिन मानूँगा।

व्यापारी जीव का कथन है—"मैं अपनी इस सासारिक दुकान मे भौतिक द्रव्यो का क्रय-विक्रय तो सदा ही करता हूँ, किन्तु मेरे पल्ले उससे क्या पडता है? कुछ भी नही, मुझे तो कुछ लाभ तभी होगा जबकि मैं सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान एव सम्यक् चारित्र रूपी इन तीन दुर्लभ रत्नो का क्रय और विक्रय करूँगा। मेरे पास जो कुछ है, उसे औरो को दूँगा तथा बदले मे औरो से भी इसी प्रकार आत्म-कल्याणकारी सूत्र हासिल करूँगा।

बन्धुओ, ज्ञान प्राप्त करने मे किसी को भी विलम्ब नही करना चाहिये यह तो आप अनुभव करते ही हैं, किन्तु आपको यह भी समझना चाहिए कि ज्ञान चाहे छोटे से छोटे व्यक्ति के पास भी क्यो न हो, उसे लेने मे कभी लज्जा का अनुभव नही होना चाहिए।

गुरु का सम्मान

कहा जाता है कि राजा श्रेणिक के राज्य मे आमो का एक बगीचा था।

उसके आम अत्यन्त मधुर और सुस्वादु होते थे। उसी राज्य मे एक भगी भी रहा करता था। किसी समय उसकी भगिन गर्भवती हुई और उसकी आम खाने की तीव्र इच्छा हुई तब भगिनने अपने पति से अपने दोहद को पूर्ण करने की जिद ठान ली।

आम लाकर पत्नी को खिलाना कोई बडा कठिन कार्य नही था। किन्तु उन दिनो आम का मौसम नही था और आम बाजार मे कही मिल नही सकते थे। केवल राजा श्रेणिक की वह अमराई ही ऐसी थी, जिसमे सदा आम फलता था और बारहो महीने प्राप्त हो सकता था। भगिन को इस बात का पता था अत. उसने राजा की अमराई से आम लाने का आग्रह किया।

भगी बेचारा गरीब और निम्न श्रेणी का व्यक्ति था अत. पत्नी को डांटता हुआ बोला—"तू भी कैसी बात करती है? वह बाग राजा का है मेरे बाप का नही। जिस बगीचे में पक्षी पर भी नही मार सकते वहां जाकर मैं आम ला सकता हू क्या? तू तो तो मेरी गर्दन उडवाने की बात कह रही है।"

यह सुनकर भगिन ने कहा—"यह ठीक है कि अमराई मे कडा पहरा रहता है। किन्तु तुम तो ऐसी विद्या जानते हो कि बगीचे के बाहर से ही अपने तीर के द्वारा आम तोड कर अपने हाथ मे ले सकते हो। वह विद्या आखिर कब काम आएगी?"

बात भगी की समझ में आ गई और उसने अपनी विद्या का प्रयोग करना तय कर लिया। वह आमो के बगीचे की ओर गया, अपनी उस विद्या अथवा कला के द्वारा आम तोड कर ले आया।

राजा के बगीचे का आम साधारण नही था। अपूर्व माधुर्य से परिपूर्ण था। जब भगिन ने उसे खाया तो फिर एक दिन खाने से ही वह तृप्त नही हो सकी और प्रतिदिन आम लाने के लिए पति को भेजने लगी। त्रिया-हठ से हारकर भगी ने भी सोचा कि अपनी विद्या के द्वारा जब मैं सहज ही आम ला सकता हूँ तो घर मे नित्य कलह क्यो होने दूँ। और ऐसा विचार कर वह नित्य ही आम लाने लगा।

इधर आमो की चोरी का पता बगीचे के रखवाले को लग गया। क्योंकि अद्‌भुत किस्म के वे दुर्लभ आम गिने-चुने थे। पहले तो वह राजा के भय से बोला नही कि महाराज ठीक रखवाली न कर पाने के अपराध मे उसे कडी सजा देंगे। उसने दिन-रात बडी सतर्कता से पहरा देना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु फिर भी उसे चोर का पता नही चला और आम कम होते चले गए।

अन्त मे उसने दरबार मे गुहार की और महाराज ने ऐसे चोर का पता लगाने के लिये बगीचे मे चारो ओर पहरेदारो का जाल बिछा दिया। बडी कठिनाई से आखिर चोर पकड लिया गया और उसे राजा के सम्मुख उपस्थित किया।

महाराजा श्रेणिक को अपने बगीचे के दुर्लभ आमो को चुराने वाले पर अत्यन्त क्रोध था अत उन्होंने उसे मृत्यु दण्ड की आज्ञा दे दी।

बेचारा भगी बडा घबराया किन्तु आखिर वह भी एक बडी विद्या का धनी था अत उसने कुछ क्षण विचार कर कहा—'हुजूर ! मैंने सचमुच ही बडा भारी अपराध किया है अत मै इसी दण्ड के काबिल हूँ। पर मेरा आपसे एक नम्र निवेदन है।"

श्रेणिक ने इशारे से उसे बोलने का आदेश दिया। इस पर भगी बोला—"महाराज ! मैं मर जाऊँगा इसका मुझे दु ख नही है पर दु ख इस बात का है कि मेरी अपूर्व विद्या मेरे साथ ही चली जाएगी। अत अगर आप उसे ग्रहण कर ले तो मै सतोष से मर सकूँगा।'

भगी की बात सुनकर राजा श्रेणिक विचार करने लगे—"बात तो इसकी सही है। आखिर मुझे भी क्यो न यह बात सूझी। यह तो बडा उत्तम होगा कि इस भगी की विद्या मै ग्रहण कर लू । जो कि सहज ही सीखने को मिल रही है।"

"तुम्हारी बात सच है। मुझे अभी ही यह सुन्दर विद्या सिखा दो।"

भगी तैयार हो गया और उसने महाराज को विद्या सिखाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु बडे आश्चर्य की बात यह हुई कि भगी के समझाने पर भी उनकी समझ मे कुछ नही आया।

यह देखकर राजा बडे झु झलाये और बोले—

"तुम मुझे ठीक तरह से सिखा नही रहे हो।"

भगी हाथ जोडकर बोला—"अन्नदाता ! मै तो आपको सही बता रहा हूँ पर जाने क्यो आपकी समझ मे नही आ रहा है।

उस दरबार मे राजा श्रेणिक के मत्री अभयकुमार भी उपस्थित थे। राजा और भगी का प्रश्नोत्तर सुनकर उनके कान खडे हो गये और कुछ पल विचारकर वे राजा से बोले—'हुजूर ! अपराध क्षमा हो, पर आपके सीखने मे भूल हो रही है।"

"कैसी भूल ?" राजा ने चौंककर अभयकुमार से पूछा।

"महाराज ! आप विद्या वाले हैं और यह भगी सिखाने वाला। कोई भी ज्ञान तव तक हासिल नहीं हो सकता जव तक कि सिखाने वाले गुरु से सीखने वाला शिष्य ऊँचे आसन पर वठे।"

राजा श्रेणिक की समझ मे यह वात आ गई और वे सिंहासन से उतर पडे। उन्होने भगी से कहा कि वह सिंहासन पर वैठे और तव अपनी विद्या सिखाये।

वेचारा भगी फिर मुसीवत में पड गया और थरथर कांपते हुए सोचने लगा—"वगीचे के आम चुराने पर तो मृत्युदड मिला हुआ है। सिंहासन पर वैठने का और क्या परिणाम होगा ? कही सारे खानदान को ही घानी मे न पेल दिया जाय ?" पर वह राजाज्ञा का उल्लघन भी कैसे करता, अत सिकुड-सिमट कर सिंहासन पर वैठा और जल्दी-जल्दी अपनी विद्या के गुर वताने लगा।

इस वार राजा को शीघ्र ही सव समझ मे आने लगा और वह अल्प-काल मे ही विद्या सीख गया। पर उसके पश्चात् जव राजा के सैनिक उसे कैदखाने की ओर ले जाने लगे तो राजा ने कहा—

"अव यह मेरे गुरू हैं और मैं अपने गुरू को किस प्रकार मरवा सकता हूँ ? इन्हे ससम्मान मुक्त करके घर पहुँचा आओ।"

तो वधुओ, मैं आपको यह वता रहा था कि ज्ञान-प्राप्ति के समय किसी भी प्रकार के वडप्पन का भाव ज्ञानाभिलाषी के हृदय मे नही आना चाहिये। अगर ऐसा भाव मन मे आ गया तो वह सम्यक्ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता।

यह उदाहरण मैंने कवि के इस कथन को लेकर दिया है कि वह रत्नत्रय का क्रय और विक्रय करना चाहता है। ऐसी स्थिति मे अगर वह अपनी धर्म की दुकान का अहकार करेगा तो न तो वह ठीक तरह से ज्ञान का विक्रय ही कर पाएगा और अह के कारण क्रय तो करेगा ही कैसे ? अहकार को त्यागने पर और भगी को गुरु मानकर अपने सिंहासन पर आसीन करके राजा श्रेणिक उसकी विद्या का क्रय कर सके थे।

कवि की भावना यही है कि सम्यक्दर्शन, ज्ञान एव चारित्र रूपी इन रत्नो को, अगर मेरे पास कम हैं तो दूसरो से लूँगा और दूसरो के पास मुझ से भी कम होंगे तो उन्हे दूँगा। यह लेने और देने की भावना जीव की तीसरी भावना है। आगे वह कहता है—

व्यापार में सत्य सरलता हो, यह मेरी अपनी आदत हो।
धार्मिक व्यापारी होऊंगा, मैं वही धन्य दिन मानूंगा ॥

हम देखते हैं कि जिस व्यापारी की दुकान पर वस्तुओ का एक ही मूल्य होता है, अर्थात् वह गरीब या अमीर को देखकर कीमत मे घटा-बढी नही करता, उसकी दुकान प्रतिष्ठित मानी जाती है और उसकी साख बढ जाती है।

इसी प्रकार धर्म-रूपी दुकान खोलने वाला व्यक्ति भी अपने अन्त करण मे यही कामना रखता है कि मुझ मे सद्बुद्धि रहे तथा सरलता एव सत्य मेरे जीवन मे बने रहे। सासारिक व्यापारी अगर किसी के साथ बेईमानी करता है तथा झूठ बोलकर उसे ठगता है तो पुन उसकी दुकान पर कोई जाना नही चाहता। इसी प्रकार अगर व्यक्ति धर्म का ढोंग रचकर औरो पर झूठा प्रभाव जमाना चाहता है तथा गलत बातें बताकर उसे धर्म से गुमराह करने का प्रयत्न करता है तो समझ आते ही वह व्यक्ति उस पाखडी के पास फटकना भी नही चाहता। व्यापार मे जिस प्रकार अनीति और टेढापन नही चलता, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा और उसके लेन-देन मे भी झूठ और माया का स्थान नही होता।

अब आगे क्या कहा जाता है यह सुनिये—

जमा खर्च करने के समय मे, हिसाब प्रतिदिन करता हूँ ।
पुण्य-पाप हिसाब टटोलूँगा, मैं वही धन्य दिन मानूँगा ॥

भौतिक वस्तुओ का व्यापार करने वाले व्यक्ति अपनी बहियो मे एक-एक पाई का जमा खर्च लिखते हैं तथा प्रतिदिन उस हिसाब को मिलाते हैं कि कितना खर्च हुआ और कितनी आमदनी आज हुई ? अगर आमदनी से ज्यादा खर्च हो जाता है तो वह उसके लिये खेद करता हुआ अगले दिन से खर्च को कम, घटाने का निश्चय करता है।

किन्तु क्या धर्माराधन करने वाला और मुक्ति की इच्छा रखने वाला व्यक्ति ऐसा करता है ? नही, ऐसी बातो का लेखा-जोखा हर व्यक्ति नही रखता और पाप-पुण्य का हिसाब करना आवश्यक नही समझता। पर जो सच्चा साधक होता है और अपने सम्पूर्ण अन्त करण से ससार का सदा के लिये त्याग करने की कामना रखता है वह अपनी धर्म-रूपी दुकान का हिसाब भी बराबर रखता है। वह प्रतिदिन सायकाल मे अपने पाप और पुण्य का लेखा जोखा करता है कि उसके द्वारा कितना पाप आज हुआ। अपने शुभ-कर्मो के लिये वह घमड नही करता वह तो यह विचार करता है कि आज मैंने कितना क्रोध, कितना कपट और कितना ईर्ष्या द्वेष औरो के साथ किया। अपने इन दोषो के लिये वह पश्चात्ताप करता है तथा भविष्य मे उन्हे कम करने का विचार पक्का करता है। साथ ही यह भी सोचता है कि मेरा वही दिन धन्य होगा, जबकि इन दूषित विचारो को मेरा मन पूर्णरूप से त्याग देगा।

यह व्यापारी को चौथी भावना बताई गई है और अब पाँचवी भावना पर हम आते हैं—

व्यावहारिक वस्तु दलाली है, इसमे सत्य का परिपालन हो।
शुभ धर्म-दलाली करूंगा जब, मैं वही धन्य दिन मानूँगा ॥

आज के युग मे दलालो की कमी नही है। हर वस्तु की दलाली की जाती है। जमीन, मकान, ऊन, अनाज आदि जो भी कुछ मनुष्य बेचना चाहता है उसे दलाल लोग खरीदने वालों से बात-चीत करके कुछ लाभ स्वय उठाते हुए बेचने और खरीदने वालो मे सम्बन्ध जोड देते हैं।

यही तरीका धर्म के व्यापार में भी काम आता है। सत-मुनिराज एक प्रकार से दलाल ही हैं जो भगवान के वचनो को आप तक पहुचाते हैं और आपका सम्बन्ध धर्म से तथा ईश्वर से जोडने का प्रयत्न करते हैं। जिन-प्ररूपित व्रत, पचक्खान, त्याग, नियम आदि का महत्व आप लोगो को सत ही समझाते हैं और उन आत्म-कल्याणकारी तत्त्वो का अनुमोदन कर दलाली का लाभ निस्वार्थ भाव से प्राप्त करते हैं।

दलाली का विचार करते हुए कवि कह रहा है कि व्यावहारिक वस्तुओ की दलाली मे अगर सत्यता होती है तो लोग दलाल का विश्वास करते हैं। इसी प्रकार मैं भी अपनी धर्म दलाली मे सत्य को प्रतिष्ठित कर सकूँगा तथा लोग मेरा विश्वास करेंगे, उसी दिन को मैं अपने जीवन का महत्वपूर्ण दिवस समझूँगा।

धर्म दलाली का महत्व कम नही है, यह भी महान् लाभ का कारण बनता है। महाराज श्रेणिक और श्रीकृष्ण के लिये बताया गया है कि उन्होने कभी एक नमोकारसी भी नही की और कोई बडा त्याग भी नही किया। किन्तु धर्म-दलाली उन्होने हार्दिक भावना से खूब की तथा मुमुक्षु प्राणियो को तन, मन और धन से सहयोग दिया। केवल इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने तीर्थंकर-पद की प्राप्ति कर ली। इसीलिये कवि सच्चे हृदय से, और सत्यतापूर्वक धर्म-दलाली करने की पाँचवीं भावना भाता है।

अन्त मे वह कहता है—

सद्गुरु रत्नरूपी वचनो को धारण कर वर्तन मे लावो।
आनन्दमय शिव सुख पाऊंगा, मैं वही धन्य दिन मानूँगा ॥

सद्गुरुओ मे भी जो रत्न-रूप महान् गुरु हैं उनके वचनो को हृदय मे धारण करके आचरण को सर्वथा दोप-मुक्त करके शाश्वत सुख से परिपूर्ण मोक्ष-पद की प्राप्ति करूँगा, वही दिन अपने लिये धन्य मानूँगा।

दिखावा नहीं चलेगा ?

बधुओ, आप यह कभी न भूलें कि भले ही महान् से महान् और विद्वान् सतो के प्रवचन आप सुनें और जीवन भर भी उन्हें नियमपूर्वक प्रतिदिन सुनते रहे । पर अगर उन उपदेशों को आपने अपने आचरण और व्यवहार मे नही उतरा तो उनका कोई लाभ आपको हासिल न हो सकेगा । चिकने घडे पर से जिस प्रकार पानी वह जाता है, उसी प्रकार सुना हुआ ढेरो उपदेश आपके एक कान से आकर दूसरे कान से निकल जाएगा ।

आप लोग यह सोचते हैं कि हम प्रतिदिन व्याख्यान मे आते हैं, अत लोग तो आपकी तारीफ करते हैं, महाराज भी सराहना करते होगे । यह विचार कर आप सतुष्ट हो जाते हैं तथा अपने आपको धन्य समझ कर घर लौट जाते हैं । किन्तु भाइयो ! हमने भी कच्ची गोलियाँ नही खेली हैं कि काच को रत्न समझ लें और दिखावे को सत्य मानकर उसकी सराहना करने लग जायँ । हम तो आपको बार-बार और स्पष्ट रूप से भी यही कहते आ रहे हैं कि भले ही आप कम सुनो पर उसे ग्रहण करो और आचरण मे उतारो । अन्यथा केवल सुनने की परिपाटी का पालन कर लेने से आपको रचमात्र भी लाभ नही हो सकेगा और आप जीवन-भर जहाँ से तहाँ रह-कर अन्त मे पश्चात्ताप करेंगे ।

इस विषय को फारसी भाषा मे बडे सुन्दर ढग से कहा गया है—

"दो कस मुर्दन, वो हसरत गुर्वन, ये के आ कि आयोख्त वो अमल न करद दीगरां कि किश्त न खुर्द ।"

अर्थात्—दो प्रकार के आदमी जब मरते हैं तो हृदय मे हसरतें लेकर और पश्चात्ताप करते हुए मरते हैं । एक प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो पढ़ तो खूब लेते हैं किन्तु उसे आचरण मे नही ला पाते, और दूसरी प्रकार के वे, जो जमीन मे बीज तो बोते हैं पर फसल का फायदा नहीं उठा पाते ।

मेरे कहने का भी अभिप्राय यही है कि आपको आत्मोन्नति के लिये सभी साधन प्राप्त हुए हैं । उत्तम धर्म, जाति, कुल और सत-समागम मिला है नित्य आप मुनियो के द्वारा जिन-वचनो को सुनते भी हैं, किन्तु इतना सब होने पर भी अगर आप अपने जीवन को दोष-मुक्त नहीं कर पाते, इसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ त्याग-नियमो मे नहीं बाँध पाते तो फिर इन सब उत्तम सयोगो की प्राप्ति से क्या फायदा हुआ ? कुछ भी नहीं । मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपको इन सब

साधनो से लाभ उठाने की विशेष आकाक्षा ही नहीं है तथा जन्म-मरण के इन भयानक कष्टो से मुक्त होने के लिये छटपटाहट या तीव्र अकुलाहट नही है। जिस व्यक्ति की आत्मा मे ससार-मुक्त होने की बलवती कामना होती है, उसे कितनी अधीरता, व्यग्रता और अपने दोषो के लिये दु.ख होता है यह एक सुन्दर पद से आप जान सकेंगे।

पद के रचयिता की भावनाओं मे कितनी अकुलाहट है और किस प्रकार उसके मानस मे मथन होता है यह उसी के शब्दो मे सुनिये कि वह क्या कहता है? वह कहता है—

> अब मैं कौन उपाय करूँ।
> जिहि विधि मन को सशय चूकै, भवनिधि पार परूँ।
> जनम पाय कुछ भलो न कीन्हो, तातें अधिक डरूँ॥
> मन वच क्रम हरि गुन नहिं गाए, यह जिय सोच धरूँ।
> गुरु मति सुनि कछु ज्ञान न उपज्यो, पशु जिम सोच मरूँ।
> कहु नानक प्रभु विरद पिछानू, तब मैं पतित तरूँ।
> अब मैं कौन उपाय करू?

बधुओ! यह पद्य सुनकर आप समझे होगे कि ससार के दुखो से मुक्ति प्राप्त करने की चाह रखने वाले मे कितनी व्यग्रता होती है?

वह घबराया हुआ कहता है—"अब मैं क्या करूँ? कौन सा उपाय खोजूँ जिससे मन के सम्पूर्ण सशय मिट जायें और मेरे मन मे ऐसी दृढता आ जाय कि मैं ससार-सागर को पार करने मे समर्थ हो सकूँ।"

वह कह रहा है—"यह उत्तम और सामर्थ्य पूर्ण मानव-जन्म पाकर भी मैंने किसी का भला नही किया और न ही शुभ कर्मों का उपार्जन ही किया है। इसीलिये मैं बहुत डर रहा हूँ। सोचता हूँ कि मन, वचन और कर्म इन तीनो मे से किसी के द्वारा भी मैंने भगवान की पूजा, उपासना और भक्ति नही की और न ही सच्चे दिल से उनको स्मरण ही किया है, अत यही सोच मुझे खाये जा रहा है कि अब मेरा क्या होगा?"

भक्त आगे भी विचार रहा है—"मैंने गुरुओ के द्वारा खूब धर्मोपदेश सुना। सत-महात्माओ की सगति भी की। किन्तु मेरे अन्तर मे तो सम्यक् ज्ञान की एक किरण भी प्रकाशित नहीं हो पाई। निरा पशु ही मैं रहा हूँ। ऐसी हालत मे हे प्रभो! अब मेरा कल्याण कैसे होगा? अब तो आपकी ही कृपा हो तो मैं आपको

पहचान सकूँ और अत्यन्त पापी व अधम होने पर भी भव-सागर को पार कर सकूँ।"

वस्तुत ऐसी भावनाएँ होने पर ही प्राणी कर्मों से मुक्त हो सकता है। ईश्वर को पाने के लिए अथवा इस ससार से मुक्त होने के लिए जब तक साधक ऐसी असह्य व्याकुलता महसूस नही करता तब तक वह आत्म-शुद्धि नही कर सकता और उसके न होने पर ससार-मुक्त कैसे हुआ जा सकता है।

कहते हैं कि एक भक्त को किसी महात्मा के पास रहते हुए कई वर्ष हो गये पर उसे लगा कि इतने दिन के पश्चात् भी मुझे भगवान के दर्शन को नही हुए?

मन मे यह विचार आते ही वह महात्माजी क्यो तग करने लगा कि इतने वर्षों तक आपकी सगति मे रहने पर भी मुझे आपने भगवान के दर्शन अभी तक नही करवाये, ऐसा क्यो?

महात्मा जी ने एक दो बार तो उसे समझाया कि आत्मा जब तक शुद्ध न हो जाय, भगवान के दर्शन दुर्लभ हैं। पर जब शिष्य नही माना और उन्हें रोज परेशान करने लगा तो एक दिन जब वे और उनका वह शिष्य गगा में स्नान कर रहे थे तो उन्होंने भक्त को अपने हाथो से पानी मे जोर से दबाया।

शिष्य पानी में डूबा हुआ था और गुरुजी उसे दबाये हुए थे अत वह बुरी तरह छटपटा रहा था। किन्तु कुछ मिनिटों मे ही गुरु ने अपने हाथ उस पर से हटा लिये और उसे पानी मे से निकल जाने दिया।

पानी से बाहर आकर शिष्य बहुत दुखी होकर बोला—"भगवन! आपने ऐसा क्यो किया? मेरे प्राण उस समय पानी मे से निकलने के लिये कितने छटपटा रहे थे?"

गुरुजी हँस पडे और बोले—"वत्स! मैं तो तुम्हारे रोज के प्रश्न का उत्तर दे रहा था। तुम प्रतिदिन मुझे पूछा करते थे कि मुझे ईश्वर के दर्शन कब होंगे?"

"हाँ, तो मेरे प्रश्न का उत्तर कैसे दिया आपने?"

"मैंने तुम्हें यह बताया था कि तुम पानी मे से निकलने के लिए जिस प्रकार छटपटा रहे थे, उसी प्रकार इस ससार-रूपी कीचड मे से निकलने के लिये भी छटपटाओगे, तभी तुम्हे ईश्वर के दर्शन होंगे।"

गुरुजी की बात शिष्य की समझ मे आ गई और वह शर्मिन्दा होता हुआ चुप हो गया।

तो बन्धुओ, आज की बातों का साराश आप समझ गए होंगे कि मुक्ति के अभिलापी को केवल चाहने मात्र से ही मुक्ति नही मिल जाती । इसके लिये उसे वडे पापड वेलने पडते हैं । उपसर्ग और परिषह सहने पडते हैं तथा वडी दृढता पूर्वक सवर के मार्ग पर चलना होता है । परिषहों को सहना केवल संतों के लिए ही नही है, अपितु श्रावकों के लिए भी यथाशक्य आवश्यक है । प्रत्येक व्यक्ति जव धर्म के महत्त्व को समझ लेगा तथा अभी वताई हुई पाँचों भावनाओं को मूर्त रूप में लाने का प्रयत्न सभी परिषहो को सहन करते हुए भी करेगा तभी वह इस लोक और परलोक में सुखी वनेगा और वही दिन उसका धन्य माना जाएगा ।

●

२१ | उष्णता को शीतलता से जीतो !

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

सवर के भेदो मे से हम बाईस परिषहो का वर्णन कर रहे हैं, जिनमें से क्षुधा-परिषह, पिपासा-परिषह एव शीत-परिषह के विषय मे बताया जा चुका है। आज चौथे परिषह के विषय में कहा जाएगा। चौथा उष्ण-परिषह है। इसके विषय मे कहा गया है—

उसिण परियावेण, परिदाहेण तज्जिए।
घिसु वा परियावेण, सायं नो परिदेवए।

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, २-८।

गाथा का अर्थ है—गरमी के परिताप से सभी प्रकार के दाह से पीडित हुआ अथवा ग्रीष्म ऋतु आदि के कष्ट से खेद को प्राप्त करता हुआ साधु साता के लिए आर्तध्यान न करे।

शीत के समान ही उष्ण ऋतु भी अपना प्रभाव डालती है तथा कडी सर्दी मे जिस प्रकार शरीर को कष्ट महसूस होता है, उसी प्रकार गरमी मे भी देह को कष्ट का अनुभव होता है।

आप लोग तो ग्रीष्म से बचाव के लिए अनेक उपाय काम मे लेते हैं अत इसका पूरा कष्ट कभी अनुभव नही कर पाते। कडी धूप मे आप प्रथम तो घर से बाहर निकलते नहीं, और निकलते हैं तो जूते, छाते और ऊपर से सवारी मे बैठकर इधर से उधर जाते हैं। घर पर रहते हैं तो हर समय पखे तथा कूलर चालू रखते हैं और उस पर भी गर्मी महसूस होती है तो पूरा कमरा ही 'एयर कडीशन्ड' करा

लेते हैं। साथ में दिन भर ठण्डाई, शरवत, बर्फ का जल आदि पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं ताकि गरमी का कम से कम कष्ट महसूस हो।

किन्तु साधु शरीर को सुख पहुँचाने वाले इन सब साधनो का त्याग करते हैं। वे भिक्षाचरी एव जल आदि लाने के लिए समय पर निकलते हैं और एक गाँव से दूसरे गांव के लिए भी विचरण करते हैं। किन्तु न वे पैर में कुछ पहनते हैं और न ही मस्तक को धूप से बचाने के लिए छाते ही लगाते हैं। इसी प्रकार वायुकाय के जीवो की हिंसा से बचने के लिये पखे नही चलाते और न किसी भी प्रकार से हवा लेते हैं।

भगवान का आदेश ही यह है कि साधु भयकर से भयकर गर्मी का अनुभव होने पर भी घबराये नही और यह विचार ही न करे कि इस ताप से मुझे कब शाति मिलेगी। वह अन्य परिषहो के समान ही उष्ण-परिषह को भी पूर्ण शाति तथा समभाव से सहन करे। कष्ट पहुचाने वाली कैसी भी स्थिति क्यो न आए, वह उससे मुकावला करने के लिए तैयार रहे।

संत तुकाराम जी कहते हैं—

"आलिया योगासी असावे सावर,
देवावरी भार टाकूनिया।"

कोई भी सकट या कष्ट अगर हम पर आता है तो उसे हम शाति और सतोप पूर्वक सहने का प्रयत्न करे। क्योकि वह तो आने वाला ही है। विपत्ति तो मनुष्य के पास विना वुलाये आती है और अपनी कसौटी पर कसकर वता देती है कि कौन खरा है और कौन खोटा ?

लोकमान्य तिलक ने एक स्थान पर लिखा है—

"कष्ट और विपत्ति मनुष्य को शिक्षा देने वाले श्रेष्ठ गुण हैं, जो मनुष्य साहस के साथ उन्हें सहन करते हैं वे अपने जीवन मे विजयी होते हैं।

एक पाश्चात्य दार्शनिक 'क्वार्ल्स ने भी लिखा है—

"He has that no cross will have on crown"

—जिसने विपत्ति नही झेली उसे राजमुकुट नहीं मिलता।

राजमुकुट से अभिप्राय उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति होना ही है। अगर हम इतिहास उठाकर देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि ससार मे जितने भी महापुरुप और महान आत्माएँ अवतरित हुई हैं वे सव भयानक कष्टो को सहकर ही अपना आत्म-कल्याण कर सकी हैं और सदा के लिए अमर वनी हैं।

तीर्थंकर भगवान महावीर के कानो मे कीले ठोके गये । पार्श्वनाथ स्वामी को कमठ के जीव द्वारा नाना उपसर्ग सहन करने पडे । ईसामसीह को सूली पर चढाया गया और आज के युग मे भी गाँधीजी को गोली खानी पडी । क्या ऐसे कष्टो और उपसर्गों को सामने देखकर उन्होने आर्तध्यान किया था ? क्या उन्होने हाय-हाय करके उन्हे झेला था ? नही, अगर ऐसा होता तो हम उनका स्मरण आज इस प्रकार नहीं करते ।

हम देखते हैं कि इस ससार मे लाखो व्यक्ति भयकर सर्दी, गर्मी सहन करते हैं । भूख-प्यास से तडप-तडपकर मर भी जाते हैं । किन्तु उन्हे कौन याद करता है ? कोई नही, क्योकि वे उन कष्टो को अभावो के कारण सहन करते हैं तथा दिन-रात भगवान को कोसते हुए घोर आर्तध्यान करते हैं । उनके जीवन मे शाति या सतोष का कभी आविर्भाव नही होता । परिणाम यह होता है कि उस अभाव को त्याग नहीं कहा जाता और उसका कोई लाभ नहीं होता क्योकि विपत्ति की भावनाएँ शुद्ध और शाति पूर्ण नही रहती ।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति ससार के सुखो से उदासीन रहता है तथा शरीर को केवल सयम-साधना के लिये चलाने लायक खुराक देता है उससे अधिक उसकी परवाह नही करता । वही भव्य पुरुष त्याग के फल को हासिल करता है, साधु भी शारीरिक सुखो का त्याग करके केवल उसे चलाने के लायक अन्न देता है, बाकी उसको अनुभव होने वाले किसी भी परिषह को कष्ट नही मानता तथा पूर्ण शाति एव सतोष-पूर्वक सयम-साधना करते हुए जीवन-यापन करता है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे ही आगे कहा गया है—

उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाण नो वि पत्थए ।
गाय नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पय ।,

अध्ययन २, गा ६

अर्थात्—बुद्धिमान साधु उष्णता के परिताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, और शरीर को जल के छींटे से भी न देवे तथा अपने आपको पखा भी न करे ।

इस प्रकार बताया गया है कि जो बुद्धिमान साधु होता है वह भगवान की आज्ञा का पर्णतया पालन करता है तथा गर्मी के भीषण ताप से पीडित होने पर भी उस पीडा को पीडा नही मानता । वह असह्य उष्णता महसूस होने पर भी शीतल जल से स्नान करने की आकाक्षा नही करता । तथा जल से भिगोकर पखे आदि से हवा करने का स्वप्न मे भी विचार नहीं करता ।

आपको ज्ञात होगा कि स्नान दो प्रकार का माना गया है। एक देश-स्नान और दूसरा सर्व-स्नान। केवल हाथ, पैर, मुँह आदि धोना भी स्नान कहलाता है पर उसे देशस्नान कहते हैं। और सम्पूर्ण शरीर को जल से धोना सर्व-स्नान कहलाता है। साधु के लिए शोभा-निमित्त यह दोनो प्रकार के स्नान वर्जित हैं। साथ ही शरीर पर जल के छीटे देना अथवा पंखे से हवा करना भी निषिद्ध है। उसे जिन-वचनो के द्वारा यही आदेश है कि वह ग्रीष्म के समस्त परिषहो को पूर्ण शांतिपूर्वक सहन करे। इससे कष्टो का अनुभव भी कम होता है तथा कर्मो की निर्जरा होती है।

साराश कहने का यही है कि साधु भगवान की आज्ञा के अनुसार परिषहो को शाति पूर्वक सहन करते हुए सयम-साधना करे तथा अपने कर्तव्यो का दृढता से पालन करेगा तो उसकी बुद्धि का और ज्ञान का विकास होगा। ज्ञान के अभाव मे वह अपनी सगति मे आने वाले जिज्ञासु व्यक्तियो की शकाओ का समाधान नही कर पाएगा तथा उन्हे सन्तुष्ट करके धर्म के मार्ग की ओर नही बढा सकेगा। जन-साधारण को भगवान के सुझाए हुए मार्ग का दिग्दर्शन कराना सत का ही काम है। सत ही व्यक्ति को ईश्वर से जोडने वाली बीच की कडी या माध्यम हैं। अत उन्हें गूढ ज्ञान हासिल करना आवश्यक ही नही वरन अनिवार्य है। सतो के समीप आने वाले व्यक्ति सभी एक सरीखे नही होते। कुछ तो सचमुच ही जिज्ञासु होते हैं और कुछ जैसे साधु की परीक्षा करने के लिए ही जो मन मे आए वही प्रश्न पूछ डालते हैं। कोई आकर सीधा ही प्रश्न करता है—"महाराज ! ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?"

अब अगर साधु ज्ञानी नही है तो इसका क्या उत्तर देगा ? वह कुछ नही बता सकेगा। किन्तु ज्ञानी होगा तो वह प्रश्नकर्ता का समाधान सहज ही कर सकेगा।

प्रसग आया है अत सत तुकाराम जी के कुछ शब्दो को आपके सामने रखता हूँ। उन्होंने कहा है -

> "रे आधी साधी सहाते ब्रह्म कसें मग पाही।
> जिको सुखासन, भाषण थोड़े,
> अन्नहि परिनित घेई। रे आधी............।
> काम क्रोधावारी, तारी कुलाते"

कहते हैं कि ब्रह्म की जानकारी इस प्रकार सहज ही नहीं हो सकती। उसके लिये पहले काम, क्रोध, मद, मत्सर, दम्भ तथा मोह आदि को नष्ट करो तब फिर ब्रह्म अथवा आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना।

कवि कहता है—हे भाई ! पहले सुखलिप्सा अर्थात् सुख की लालसा का त्याग करो। जब तक अपने शरीर को सुख पहुँचाने के यत्न मे रहोगे तथा क्षुधा, पिपासा, शीत एव उष्णता आदि के परिषहो को सहन करने मे कायरता रखोगे तब तक तुम्हारे जीवन मे दृढ़ता कैसे आएगी और आत्म-शक्ति का विकास किस प्रकार हो सकेगा ? अत सुख की आकाक्षा त्यागो, अल्प भाषण करो तथा परिमित अन्न का सेवन करो। भूख से अधिक खाने तथा तमोगुण की वृद्धि करने वाले पदार्थों का सेवन करने से भोग-लिप्सा बढ़ती है।

कामविजय कैसे ?

हमारे शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये नौ बाडें लगाई हैं। उनमे से एक यह भी है कि मर्यादा से बाहर रत्तीमात्र भी आहार न किया जाय। किसान अपनी फसल की रक्षा के लिये एक बाड लगता है ताकि जानवर एव चोर आदि अन्दर प्रवेश करके क्षति न करें। किन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये एक नही, वरन् नौ बाडें लगाई गई हैं। इससे साबित होता है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कितना महत्वपूर्ण है एव सदाचार रूपी रत्न की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे लिखा है—

> यदासीदज्ञान स्मरतिमिरसस्कारजनित,
> तदा दृष्ट नारीमयमिदमशेष जगदपि।
> इदानीमस्माक पटुतरविवेकाञ्जन जुषा,
> समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवन ब्रह्मेति मनुते ॥

अर्थात्—जब तक हम मे कामदेव से पैदा हुआ अज्ञान-अन्धकार विद्यमान था, तब तक हमे सारा जगत स्त्री-रूप ही दिखाई देता था। किन्तु अब हमने विवेक-रूपी अजन आँज लिया है, इससे हमारी दृष्टि समान हो गई है और हमे तीनो भुवन ब्रह्म-रूप दिखाई देते हैं।

आशय यही है कि जब तक व्यक्ति काम के नशे मे चूर रहता है, तब तक उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान नही होता। भोगविलास के अतिरिक्त उसे अन्य कोई सुख नही जान पडता। किन्तु जब उसकी अन्तरात्मा मे विवेक जाग जाता है तब उसे भोग-विलास भयकारक लगने लगते हैं तथा उसके मानस मे ऐसा समभाव आ जाता है कि उसे प्रत्येक प्राणी मे ब्रह्म ही नजर आता है। वह सोचता है– आत्मा न स्त्री है और न पुरुष। वह सबमे समान है केवल चोले का ही भेद है।

वस्तुत सच्चे साधु और फकीर सम्पूर्ण ससार मे जितने भी प्राणी हैं, उन

आपको ज्ञात होगा कि स्नान दो प्रकार का माना गया है। एक देश-स्नान और दूसरा सर्व-स्नान। केवल हाथ, पैर, मुँह आदि धोना भी स्नान कहलाता है पर उसे देशस्नान कहते हैं। और सम्पूर्ण शरीर को जल से धोना सर्व-स्नान कहलाता है। साधु के लिए शोभा-निमित्त यह दोनो प्रकार के स्नान वर्जित हैं। साथ ही शरीर पर जल के छींटे देना अथवा पंखे से हवा करना भी निषिद्ध है। उसे जिन-वचनो के द्वारा यही आदेश है कि वह ग्रीष्म के समस्त परिषहो को पूर्ण शातिपूर्वक सहन करे। इससे कष्टो का अनुभव भी कम होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है।

साराश कहने का यही है कि साधु भगवान की आज्ञा के अनुसार परिषहो को शाति पूर्वक सहन करते हुए सयम-साधना करे तथा अपने कर्तव्यो का दृढता से पालन करेगा तो उसकी बुद्धि का और ज्ञान का विकास होगा। ज्ञान के अभाव मे वह अपनी सगति में आने वाले जिज्ञासु व्यक्तियो की शकाओ का समाधान नहीं कर पाएगा तथा उन्हे सन्तुष्ट करके धर्म के मार्ग की ओर नही बढा सकेगा। जन-साधारण को भगवान के सुझाए हुए मार्ग का दिग्दर्शन कराना सत का ही काम है। सत ही व्यक्ति को ईश्वर से जोडने वाली बीच की कडी या माध्यम हैं। अत उन्हे गूढ ज्ञान हासिल करना आवश्यक ही नही वरन अनिवार्य है। सतो के समीप आने वाले व्यक्ति सभी एक सरीखे नही होते। कुछ तो सचमुच ही जिज्ञासु होते हैं और कुछ जैसे साधु की परीक्षा करने के लिए ही जो मन मे आए वही प्रश्न पूछ डालते हैं। कोई आकर सीधा ही प्रश्न करता है—"महाराज ! ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?"

अब अगर साधु ज्ञानी नही है तो इसका क्या उत्तर देगा ? वह कुछ नहीं बता सकेगा। किन्तु ज्ञानी होगा तो वह प्रश्नकर्ता का समाधान सहज ही कर सकेगा।

प्रसंग आया है अत सत तुकाराम जी के कुछ शब्दो को आपके सामने रखता हूँ। उन्होंने कहा है :

> "रे आधी साधी सहाते ब्रह्म कसें मग पाही।
> जिकी सुखासन, भाषण थोड़े,
> मग्नहि परिनित धेई। रे आधी · · · ···।
> काम क्रोधावारी, तारी कुलाते"

कहते हैं कि ब्रह्म की जानकारी इस प्रकार सहज ही नहीं हो सकती। उसके लिये पहले काम, क्रोध, मद, मत्सर, दम्भ तथा मोह आदि को नष्ट करो तब फिर ब्रह्म अथवा आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना।

कवि कहता है—हे भाई ! पहले सुखलिप्सा अर्थात् सुख की लालसा का त्याग करो। जब तक अपने शरीर को सुख पहुँचाने के यत्न मे रहोगे तथा क्षुधा, पिपासा, शीत एव उष्णता आदि के परिषहो को सहन करने मे कायरता रखोगे तब तक तुम्हारे जीवन मे दृढ़ता कैसे आएगी और आत्म-शक्ति का विकास किस प्रकार हो सकेगा ? अत सुख की आकाक्षा त्यागो, अल्प भाषण करो तथा परिमित अन्न का सेवन करो। भूख से अधिक खाने तथा तमोगुण की वृद्धि करने वाले पदार्थों का सेवन करने से भोग-लिप्सा बढती है।

कामविजय कैसे ?

हमारे शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये नौ बाडे लगाई हैं। उनमे से एक यह भी है कि मर्यादा से बाहर रत्तीमात्र भी आहार न किया जाय। किसान अपनी फसल की रक्षा के लिये एक बाड लगता है ताकि जानवर एव चोर आदि अन्दर प्रवेश करके क्षति न करें। किन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये एक नही, वरन् नौ बाडें लगाई गई हैं। इससे साबित होता है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कितना महत्वपूर्ण है एवं सदाचार रूपी रत्न की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे लिखा है—

> यदासीदज्ञान स्मरतिमिरसस्कारजनित,
> तदा दृष्ट नारीमयमिदमशेष जगदपि।
> इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जन जुषा,
> समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवन ब्रह्मेति मनुते ॥

अर्थात्—जब तक हम मे कामदेव से पैदा हुआ अज्ञान-अन्धकार विद्यमान था, तब तक हमे सारा जगत स्त्री-रूप ही दिखाई देता था। किन्तु अब हमने विवेक-रूपी अजन आँज लिया है, इससे हमारी दृष्टि समान हो गई है और हमें तीनो भुवन ब्रह्म-रूप दिखाई देते हैं।

आशय यही है कि जब तक व्यक्ति काम के नशे मे चूर रहता है, तब तक उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान नहीं होता। भोगविलास के अतिरिक्त उसे अन्य कोई सुख नही जान पडता। किन्तु जब उसकी अन्तरात्मा मे विवेक जाग जाता है तब उसे भोग-विलास भयकारक लगने लगते हैं तथा उसके मानस मे ऐसा समभाव आ जाता है कि उसे प्रत्येक प्राणी मे ब्रह्म ही नजर आता है। वह सोचता है– आत्मा न स्त्री है और न पुरुष। वह सबमे समान है केवल चोले का ही भेद है।

वस्तुत सच्चे साधु और फकीर सम्पूर्ण ससार मे जितने भी प्राणी हैं, उन

सवमे परमात्मा को देखते हैं। इस विषय को स्पष्ट करने वाला एक छोटा सा उदाहरण है—

विष्णुमय जगत

एक वैष्णव सत सदा ज्ञानोन्मत्त रहते थे तथा उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी बनी रहती थी। वे कभी किसी से विशेष बात-चीत नही करते थे और न ही किसी से उसकी अपेक्षा ही करते थे। जब धुन मे आ जाते तो गाँव मे से भिक्षा ले आते, और नही तो कई दिन योंही गुजार देते थे।

एक दिन वे गाँव मे गए और वहाँ से भिक्षा मे उन्हे रोटी मिली। अपने स्थान पर आकर जब वे रोटी खाने लगे तो एक कुत्ता भी उनके साथ ही खाने लगा। यह देखकर कई व्यक्ति वहाँ आकर इकट्ठे हो गये और महात्माजी को कुत्ते के साथ रोटी खाते देखकर हँसने लगे। कोई-कोई तो उन्हे पागल कहने से भी नही चूके।

जब महात्मा का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्होने लोगो से कहा—'तुम लोग हँसे किसलिये रहे हो ? देखो—

> विष्णु परिस्थितो विष्णु विष्णु खादति विष्णवे ।
> कथ हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमय जगत् ॥

अर्थात्—विष्णु के पास विष्णु है। विष्णु विष्णु को खिलाता है। अरे विष्णु तू क्यो हँसता है ? सारा जगत ही तो विष्णुमय है।

तो बधुओ, मैं आपको सत तुकाराम के शब्दो मे यह बता रहा था कि ब्रह्म का स्वरूप जानने की इच्छा रखने वाले को पहले काम-भोगो की इच्छा को जीतना चाहिये। विवेक के द्वारा जब यह जीत ली जाती है तो व्यक्ति को जगत के सम्पूर्ण प्राणियो मे परमात्मा का अश नजर आने लगता है।

आप श्रावक हैं, और गृहस्थ हैं अत शायद कह बैठें कि ब्रह्मचर्य का पालन तो साधु ही कर सकते हैं, पर ऐसी बात नही है। श्रावक के लिये भी तो अणुव्रतो का विधान है और उसमे एक है 'स्वदारासतोष' इसका पालन करते हुए आप अपनी पत्नी के अलावा ससार की समस्त नारियो को माता और बहन के समान समझें तो भी काफी है। इतना करने पर भी आप एकदेश सयम का पालन कर सकेंगे और आपकी आत्मा उज्ज्वल बनेगी।

आत्मा का शत्रु क्रोध

सत तुकाराम जी ने काम के पश्चात् क्रोध को त्यागने का आदेश भी दिया है। क्योंकि काम के समान ही क्रोध भी आत्मा का शत्रु है।

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर कहा है—

> नास्ति कामसमा व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ।
> नास्ति क्रोधसमोवह्निर्नास्ति ज्ञानात्पर सुखम् ॥

यानी—काम के समान कोई व्याधि नही है । मोह के समान कोई शत्रु नही है । क्रोध के समान कोई अग्नि नही है और ज्ञान से बढकर कोई सुख नही है ।

श्लोक मे क्रोध को विनाशकारी आग बताया गया है । इस आग मे आत्मा के समस्त सद्गुण जलकर भस्म हो जाते हैं । क्रोध के आवेश मे मनुष्य अपने आपको भूल जाता है और वह नही जान पाता कि उसके मुख से कैसे शब्द निकल रहे हैं । क्रोध रूपी यह आग कटुवचनो के द्वारा औरो को तो घायल करती है, स्वय क्रोधी व्यक्ति के हृदय को भी दग्ध किये बिना नहीं रहती ।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणो के आधार पर वैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध से मनुष्य का स्वभाव चिडचिडा हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप उसके शरीर मे रूक्षता आ जाती है । क्रोध करते समय मुँह सूखता है तथा कण्ठ मे रहने वाली ग्रन्थियाँ जो कि लार पैदा करती हैं और प्राणप्रद रस बनाती हैं, वे अपना काम बन्द कर देती हैं । फल यह होता है कि लार के द्वारा भोजन मे मिल जाने वाले पाचक रस का अभाव हो जाता है और उसके अभाव से भोजन बराबर नही पचता तथा पेट खराब हो जाता है । कभी-कभी तो चर्म-रोग भी पेट की खराबी या कब्ज के कारण पैदा हो जाते है । इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति अनेक तरह के रोगो को स्वय आमन्त्रण देता है । साराश यही है कि क्रोधी व्यक्ति अपनी जलाई हुई आग से स्वय भी धीरे-धीरे भस्म होने लगता है । उसका शरीर कृश होता हुआ मृत्यु के सन्निकट जल्दी पहुँचता है ।

इस प्रकार क्रोध शारीरिक दृष्टि से तो हानिकर है ही, वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी हानिकर है । हमारे शास्त्र क्रोध को समस्त पापो का मूल मानते हैं । इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को पापो से बचने के लिए क्रोध का त्याग करना आवश्यक है । जो व्यक्ति क्रोध नही करता वह देवता की कोटि मे आ जाता है । उसे अगर हम अजातशत्रु कहें तब भी कोई बडी बात नही है । कारण यही है कि क्रोध न करने वाले का कोई भी शत्रु नही होता । उसके सारे शत्रु-मित्र बन जाते हैं ।

अक्रोधी व्यक्ति को सबसे बडा लाभ तो यह होता है कि उसकी आत्मा सरल, स्नेहपूर्ण एव पर-उपकारी बन जाती है । एक क्रोधी व्यक्ति जहाँ दूसरे के हृदय को तोड डालता है, वहाँ क्रोध न करने वाला व्यक्ति औरो के सकट, विपत्ति या अन्य दुखो से टूटे हुए दिलो को सान्त्वना का मरहम रखकर जोड़ देता है । उसके ऐसे कार्य ही आत्म-शुद्धि मे सहायक बनते हैं ।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

'कोहविजएणं खंति जणयई।'

क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है।

जो भव्य प्राणी क्रोध को जीतकर क्षमाभाव अपना लेता है वह अपना भला तो करता ही है, साथ ही अपने सम्पर्क मे आने वाले को भी सन्मार्ग पर चला सकता है। एक उदाहरण है—

कमलम या छुरी ?

एक वकील साहब घर से रवाना होकर कचहरी जा रहे थे। उनकी बगल मे कागजातो का वस्ता दवा हुआ था।

सयोगवश उनके वस्ते मे से उनका पैन निकलकर बाहर गिर गया। एक राहगीर ने उसे उठाया और कुछ क्षण विचार कर वकील साहब के साथ-साथ चलते हुए वोला—"वकील साहब! आपके वस्ते मे से यह आपकी छुरी निकलकर गिर गई है।"

राहगीर की वात सुनते ही वकील साहव क्रोध से आगवबूला हो उठे और कर्कश स्वर से कह उठे—

"अवे, अन्धा है क्या ? यह पैन है या छुरी ? पैन को छुरी वता रहा है ?"

वकील की कटूक्ति सुनकर भी वह व्यक्ति नाराज नहीं हुआ, उलटे नम्रता-पूर्वक वोला—"साहब, है तो यह पैन ही, पर इसी के द्वारा न जाने कितने व्यक्तियो के गले कटे होगे। इसलिए क्या छुरी नही कहा जा सकता ?"

उस व्यक्ति की वात सुनकर वकील साहब वडे शर्मिन्दा हुए और उन्होंने मन ही मन निर्णय किया कि कभी झूठा मुकदमा लेकर निरपराध व्यक्तियो का गला नहीं काटूँगा।

यह उदाहरण वताता है कि पैन उठाने वाले राहगीर ने पैन को छुरी वताने पर वकील के द्वारा वुरा-भला कहा जाने और गालियाँ खाने की भी सभावना की थी। किन्तु इन सवको समभाव या क्षमाभाव पूर्वक सहन करने के लिये वह पहले ही तैयार हो गया था। यही कारण था कि वकील को अपने जीवन का निकृष्ट पहलू समझा सकने मे समर्थ वना और उन्हें नैतिक जीवन विताने के लिये वडे सुन्दर ढग से सुझाव दिया।

तो वधुओ ! सत तुकाराम जी का यही कथन है कि काम और क्रोधादि विकारो को अपने विवेक और ज्ञानपूर्वक जीत लेने पर ही व्यक्ति अपनी आत्मा के

स्वरूप को समझ सकता है तथा उसे कर्म-बधनो से छुटकारा दिलाने के लिये अपनी आत्मा की अनन्त शक्तियो को काम मे ले सकता है।

हमारा विषय परिषहो पर चल रहा है और उसमे से ग्रीष्म परिषह को आज लिया है। इस परिषह को सहन करने के लिये भी बडी दृढता तथा समाधि-भाव की आवश्यकता है। अगर मन मे समभाव व शाति रहेगी तभी साधक भयकर गर्मी के कष्टो को बिना आर्त-ध्यान किये सहन कर सकेगा। यह परिषह तभी सहन किया जा सकता है जबकि शरीर को सुख पहुँचाने की आकांक्षा का त्याग कर दिया जाय। जब तक शरीर की ओर से साधक का अथवा साधु का मन परे नही रहेगा, तब तक उससे होने वाले कष्टो को वह भूल नही सकेगा। इसलिये आवश्यक है कि साधु व श्रावक सभी मन को दृढ रखते हुए उष्ण परिषह को सहन करें तथा अपनी साधना मे इसे बाधक न बनने दें। यही सवर का मार्ग है और निर्जरा का हेतु बनता है।

जो भव्य पुरुष ऐसा करेंगे वे अपनी आत्मा की अनन्त शक्तियो को जगाकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने मे समर्थ बन सकेंगे तथा परलोक मे सुखी बनेंगे।

●●

२२ | क्षण-विध्वंसिनी काया !

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल मैंने वाईस परिपहो में से चौथे 'उष्ण-परिषह' के विषय मे वताया था। आज पाँचवें पर आना है। पाँचवें परिषह का नाम है 'दशमशक-परिषह'।

इस विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

> पुट्ठो य दसमसएहिं, समरेव महामुणी ।
> नागो सगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥
>
> —अध्ययन २, गाथा १०

अर्थात्—दशमशक आदि जतुओ के स्पर्श होने पर भी महामुनि समभाव से रहे और जिम प्रकार हाथी सग्राम में आगे होकर शत्रुओ को जीतता है उसी प्रकार, साधु भी परिपहो का मुकावला करके उन पर विजय प्राप्त करे।

यह तो सभी जानते हैं कि ग्रीष्मऋतु के पश्चात् वर्षाऋतु आती है और उसका आगमन होने पर डास, मच्छर आदि अनेकानेक जीवो की उत्पत्ति हो जाती है। ये जीव भी मनुष्यो को वहुत परेशान करते हैं। कही-कही तो मच्छर इतनी अधिक तादाद मे होते हैं कि घरो मे उठना, वैठना, सोना सभी वडा कठिन हो जाता है। मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले मे इतने वडे-वडे और असख्य मच्छर होते हैं कि मनुष्य दिन को भी चैन नही ले पाता और रात्रि को तो मच्छरदानी लगाये विना सो ही नही सकता।

किन्तु ऐसी स्थिति मे भी साधु अनिद्रा और दश की तकलीफ को सहन करता हुआ पूर्ण शाति और स्थिरता से अपनी साधना को आगे वढाता चला जाता है।

भगवान का भी साधु के लिए यही आदेश है कि सदा आत्म-चिंतन एव तत्व-चिंतन मे लीन रहने वाला महामुनि डास, मच्छर आदि के दश से विचलित न हो तथा अपनी सयम-साधना मे दत्तचित्त बना रहे। जिस प्रकार हाथी समर-भूमि मे तीर-तलवार आदि किसी भी शस्त्र के आघात की परवाह न करता हुआ आगे बढता जाता है तथा शत्रु पर विजय प्राप्त करके ही छोडता है, इसी प्रकार साधु भी साधना के क्षेत्र मे डास-मच्छर आदि जीवो के उपद्रव और दश की परवाह न करते हुए आगे बढता जाए और कर्म-रूपी जन्म-जन्म के शत्रुओ को परास्त करे।

मारवाडी भाषा मे बनाए गए भजन की एक पक्ति इस प्रकार है—

"कायर ने चढ़े धूजणी, सूरा करे रे सग्राम,
ना ठहरे जावे गीदडा।"

कहते है कि युद्ध के अवसर पर कायर व्यक्ति का कलेजा कांपने लगता है और उसका सम्पूर्ण शरीर थर-थर धूजने लग जाता है। उसकी हिम्मत नही पडती कि वह शत्रु का मुकाबला करे।

किन्तु इसके विपरीत जो शूरवीर होता है वह कफन कधे पर लिए जाता है तथा हृदय में किंचित मात्र भी भय न रखता हुआ अपनी सम्पूर्ण शक्ति से वैरी का मुकाबला करता है। इसका फल यही होता है कि वह निश्चय ही अपने दुश्मन को परास्त कर विजयी बनता है। पर यह होता तभी है जब कि शरीर का ममत्व न रखा जाय तथा जीवन रहेगा या नही इसकी चिन्ता सर्वथा छोड दी जाय। ऐसा शूरवीर ही कर सकते हैं। आचार्य चाणक्य ने कहा भी है—

तृण ब्रह्मविदा स्वर्गः तृण शूरस्य जीवितम्।
जिताक्षस्य तृण नारी नि स्पृहस्य तृण जगत्॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के लिए स्वर्ग तृण के समान है, शूरवीर के लिए जीवन तृण है, जितेन्द्रिय को स्त्री तृण है और निस्पृही के लिए जगत तृणवत् है।

इस श्लोक मे भी बताया गया है कि शूरवीर के लिए जीवन तृण के समान नगण्य होता है। हम इतिहास मे पढते हैं कि लाखो शूरवीरो ने अपने देश के लिए अपने जीवन की आहुति दे दी। वर्तमान समय मे भी जब देश परतत्र था सरदार भगतसिंह जैसे अनेको देशभक्तो ने हँसते-हँसते अपने जीवन का बलिदान देकर भारत को स्वतत्र किया।

इसी प्रकार धर्म का इतिहास भी कहता है कि धर्म पर अनेकानेक व्यक्ति हँसते हुए न्योछावर हुए हैं। धर्म के मार्ग पर बढना और उसमे आने वाले उपसर्गों और परिषहो से जूझना सच्चे साधक के लक्षण हैं। जो मुमुक्षु इन कसौटियो पर

खरा उतर जाता है, वही अपनी आत्मा का कल्याण करता है। कमजोर दिलवाले तथा परिषहों से घबरा जाने वाले व्यक्ति कभी भी अपने मार्ग पर नहीं बढ पाते और अपने उद्देश्य मे सफल नहीं होते।

भजन की पक्ति मे कहा गया है— ना ठहरे जावे गीदडा।' यानी गीदड के समान डरपोक व्यक्ति न तो कर्म-क्षेत्र मे टिक पाता है और न ही धर्म क्षेत्र में। वह तनिक सी कठिनाई सामने आते ही यहाँ से पलायन कर जाता है।

वैष्णव साहित्य मे एक लघुकथा आती है कि काश्यप नामक एक महान तपस्वी थे। एक बार वे एक जगह से दूसरी जगह जा रहे थे कि मार्ग मे किसी धनी व्यक्ति की सवारी आती हुई दिखाई दी। उसे देखकर काश्यप ऋषि मार्ग मे एक ओर हो गये किन्तु फिर भी उन्हे टक्कर लगी और वे गिर पडे। सवारी चली गई।

इस घटना से उन्हें बडा क्रोध आया और उन्होंने सोचा—"इस जगत मे धन ही सबसे बडी चीज है और इसीलिये धनवान व्यक्ति अपने आपको सबसे ऊँचा समझते हैं। मेरे पास धन नही था अत मुझे सडक पर गिरा दिया और किसी ने यह भी नहीं पूछा कि कहाँ चोट लगी है।" ऐसा विचार करते हुए काश्यप ने ठान लिया कि अब मैं भी धन इकट्ठा करूँगा। तपस्या करने से कोई लाभ नही है, लाभ धनवान बनने में है।

महातपस्वी काश्यप के ऐसे विचारो को इन्द्र ने जान लिया और उसे बडा दु.ख हुआ कि वे मार्ग में गिरा दिये जाने के अपमान और शारीरिक कष्ट से घबरा कर अपनी तपस्या से विचलित हो उठे हैं। उन्हे पुन. मार्ग पर लाने के विचार से इन्द्र ने गीदड का रूप बनाया और जहाँ काश्यप ऋषि बैठे थे, वही उनके पैरों के पास आकर बैठ गया और बोला—

"ऋषिवर! आज आप किस चिन्तन मे लीन हैं?"

"मैं धन कमाने का उपाय सोच रहा हूँ कि किस प्रकार प्रचुर धनार्जन करूँ ताकि ससार के इन सभी धनी व्यक्तियों से ऊँचा कहला सकूँ।"

गीदड रूप धारी इन्द्र यह बात सुनकर हँस पड़े और बोले—'तपस्वीराज! आपको यह क्या हो गया है? क्या कोई बुद्धिमान पुरुष हीरे को छोडकर काच को ग्रहण करता है? इस ससार मे धन तो सदा ही दु ख का कारण बनता है अत इसको ग्रहण करने की इच्छा महा-मूर्खता है। इसे तो त्याग करना ही विवेकी पुरुष का लक्षण है। क्योंकि—

"आये दु.ख व्यये दु.ख, धिगर्था' कष्टसश्रया: ।"

यानी-धन कमाने के समय मे भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पडते हैं और धन के खर्च होने पर भी अनेक प्रकार के दु ख अनुभव करने पडते हैं। इससे यह साबित होता है कि दु ख और पीडाओ के आश्रय-स्थल रूप इस धन को अनन्त बार धिक्कार है।

आगे गीदड ने कहा—"इसके अलावा काश्यप ऋषिराज ! यह मानव जन्म आपको चौरासी लाख योनियों मे भटकने के बाद न जाने किन पुण्यो के बल पर मिला है और अगर आपने इसे धन के लोभ में आकर निरर्थक कर दिया तो फिर न जाने कौन सी तिर्यंच योनि मे ही आपको जाना पडे। मुझे ही देखिये, मेरे हाथ नहीं हैं अत मैं हाथो के लिए तरसता हूँ, कोई मुझ पर वार करे तो मैं उसका बदला नही ले सकता। कितना दुखी हूँ मैं ? क्या आप भी इस मानव देह को छोडकर ऐसा कोई दुखदायी शरीर पाना पसद करेंगे ?"

गीदड की ये बातें सुनकर काश्यप ऋषि की आँखें खुल गई और वे अत्यन्त लज्जित हुए। उसी क्षण उन्होंने धन इकट्ठा करने का विचार त्याग दिया और अपने हीन विचारों के लिये पश्चात्ताप करते हुए पुन अपनी साधना एव तपस्या मे लीन होने का निश्चय कर लिया। किन्तु वे समझ गए कि यह गीदड साधारण गीदड नही है अपितु इन्द्र है। यह अनुभव करते ही उन्होंने गीदड से कहा—"इन्द्रदेव ! मैं आपको पहचान गया हूँ अत अपना छद्म-वेश त्याग दीजिये !" उसी क्षण गीदड का रूप त्यागकर इन्द्र अपने असली रूप मे आ गये और काश्यप ने उनसे कहा—"मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने ठीक वक्त पर मुझे पतन की ओर जाने से बचाया है। वास्तव मे ही मैं जरा से परिषह से घबराकर अपने इस दुर्लभ जीवन को नष्ट किये दे रहा था।"

काश्यप तपस्वी की बात सुनकर इन्द्र मुस्करा दिये और अपना प्रयत्न सफल जानकर अपने स्थान को चल दिये।

वस्तुत मनुष्य जन्म अमूल्य है और बार-बार नही मिलता। कवि वाजिन्दजी ने मानव को उद्‌बोधन देते हुए कहा है—

बार बार नर देह कहो कित पाइये ?
गोविंद के गुणगान कहो कब गाइये ?
मत चूके अवसान अबै तन मां धरे,
पाणी पहले पाल अग्याती बांध रे !

अर्थ सरल ही है कि—"यह नर देह पुन पुनः मिलनी कठिन है और अगर अभी वृथा चली गई तो फिर ईश्वरभक्ति किस जन्म मे हो सकेगी ? इसलिए हे जीव ! यह अवसर मत खो तथा फिर चौरासी का चक्कर न चल जाये, इसलिये पहले ही उसे रोकने का प्रबन्ध कर ले। जो बुद्धिमान् व्यक्ति होता है, वह पानी का प्रवाह आने से पहले ही बांध बना लेता है, उसी प्रकार तू भी अगले लोक मे कष्टो को भोगने का समय आए इससे पहले ही कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को हलकी बना ले। और तब निर्भय होकर यहाँ से प्रयाण कर।"

बधुओ, यह चेतावनी प्रत्येक मानव के लिये है। क्योकि यह शरीर तो एक दिन सभी का नष्ट होगा अत इसको छोडने से पहले ही आगे के लिए शुभ-कर्मों का सचय कर लेना चाहिए। पर यह तभी हो सकेगा, जबकि इसी को जीवन का उद्देश्य न समझा जाय तथा इसे ही अधिकाधिक सुख पहुचाने का प्रयत्न न किया जाय। बुद्धिमानी इसी मे है कि यह हमे त्यागे, इससे पहले ही हम इसे त्याग दें। इसे त्याग देने का अर्थ आप यह न समझ लें कि आत्म-हत्या कर ली जाय। नही, अर्थ यह है कि इसके प्रति रहे हुए गहरे ममत्व को तथा आसक्ति को त्याग दें।

धर्म पर दृढ रहने वाले और अपनी साधना को अखडित रखने वाले साधक तो प्राणो की परवाह भी नही करते हैं तो फिर शरीर को कष्ट पहुचाने वाले परिषह क्या चीज हैं ? साधक यही विचार करे तथा जैसा कि अभी बताया गया है—डास, मच्छर आदि के उपद्रव और उनके दश से तनिक भी घबराये बिना अपनी सयम साधना निर्बाध गति से चलाता रहे।

सस्कृत साहित्य मे एक मनोरजक श्लोक आता है, जिसमे मच्छर का स्वभाव बताते हुए दुष्ट व्यक्तियो की उससे तुलना की गई है। श्लोक इस प्रकार है—

"प्राक् पादयो पतित खादति पृष्ठमासम्,
कर्णे कलम् किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्र निरीक्ष्य सहसा प्रविशत्यशक,
सर्वम् खलस्य चरितम् मशक करोति ॥

कहते हैं कि पहले मच्छर पैर पर गिरता है, उसके पश्चात् पीठ पर का मास खाता है। फिर अगर वह देखता है कि इन्होने सहन कर लिया है तो कान के पास आकर मधुर गु जार करता है तथा अवसर पाते ही छिद्र देखकर कान, नाक अथवा मुँह मे प्रवेश कर जाता है।

इनी प्रकार दुर्जन भी अपना कार्य करते हैं। वे पहले अपने व्यवहार को बडा नम्र बनाते हैं जैसे चरण ही चूमते हो। उसके बाद उस व्यक्ति की पीठ के पीछे निंदा

करते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष मे उसके कानो मे बडे प्रिय और मधुर वाक्य कहते हैं ताकि वह प्रसन्न हो जाय। मीठी वाणी के वशीभूत होकर जब व्यक्ति उस दुर्जन से अपनत्व स्थापित कर लेता है तो फिर वह व्यक्ति की कमजोरी का लाभ उठाकर उसके अन्तर में प्रवेश कर जाता है और सभी रहस्यो को जानकर अनुचित लाभ उठाने लगता है।

तो ऐसा होता है दुर्जन और मच्छर का स्वभाव। किन्तु ऐसे अवसरो पर भी शूरवीर को कभी धैर्य नही खोना चाहिए। कोई दुष्ट व्यक्ति हमारे साथ कितनी भी दुष्टता क्यों न करे, हमे उसे परिषह समझकर सहना चाहिये तथा उसके प्रति मन मे रचमात्र भी क्रोध या द्वेष का भाव नही आने देना चाहिये।

पजाब के कवि न्यामतसिंह कहते हैं—

> तज-राग द्वेष 'न्यामत' सब पौद्गलिक हैं,
> सुख में खुशियाँ, रज मे रोना न चाहिये।
> रोना न चाहिये तुम्हें रोना न चाहिये,
> इस मोह नींद मे तुम्हे सोना न चाहिये॥

कवि कहता है—मनुष्य को कर्मों का कर्जदार बनाने के दो ही मूल कारण हैं—राग और द्वेष। इसलिये हे आत्मन्! अगर तू अपना कल्याण चाहता है तो राग और द्वेष के अन्दर मत फँस। ये दोनो ही आत्मा के सबसे बडे शत्रु हैं किन्तु अनादिकाल से सबध रहने के कारण वह इनसे पुन पुन आकर्षित हो जाती है।

इस ससार मे जितने भी पदार्थ हैं सब पौद्‌लिक हैं। इनका स्वभाव ही जीर्ण होकर नष्ट होने का है। ऐसी स्थिति मे इनके सयोग से खुशी और वियोग से दुख का अनुभव करना बुद्धिमानी नही है। आज साधारण व्यक्ति थोडे से सुख के साधनों को प्राप्त करके घमड से फूल जाता है और अगर उनका अभाव हुआ तो रोने बैठ जाता है। वह यह नही सोचता कि आखिर इनके मिलने और न मिलने से आत्मा की क्या हानि और क्या लाभ है?

सस्कृत का एक श्लोक है—

> "सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो रणे च धीरत्वम्।
> त भवनत्रयतिलकम् जनयति जननी सुतम् विरलम्॥

श्लोक बडा सुन्दर है। इसमे कहा गया है—सम्पत्ति प्राप्त होने पर जो हर्षित नहीं होता, विपत्ति आने पर दुखी नहीं होता तथा रणागण मे भी असीम धैर्य रखता हुआ भयभीत नही होता है, ऐसा तीनो लोको के तिलक के समान पुत्ररत्न को विरली माता ही पैदा करती है।

तिलक के समान से तात्पर्य माथे पर सुशोभित होने वाले से है। और माथे पर वही शोभा पाता है जो सर्वोत्तम या सद्गुणो से युक्त होता है। श्लोक मे वताई तीनो वातें सुनने मे साधारण लगती हैं किन्तु उन्हें अमल मे लाना वडा महत्वपूर्ण होता है तथा जो इन्हे अमल मे लाता है वह महापुरुप अथवा असाधारण पुरुप कहलाता है।

वास्तव मे ही राग को छोडना कितना कठिन है ? आप लोग अपने धन, मकान, दुकान आदि ऐश्वर्य को क्या सहज ही त्याग सकते हैं ? नही, उलटे अपनी चतुराई से इन्हे चौगुना करने की फिराक मे रहते हैं। जिसमे भी महाजनों की अक्लमन्दी का तो पूछना ही क्या है। अन्य समस्त जातियो से आप लोग वहुत ज्यादा होशियार होते हैं। आपकी होशियारी का एक उदाहरण आपके सामने ही रखता हूँ।

महाजन की करामात

एक महाजन वडा होशियार और चालाक था। उसका लाखो का कारोवार था और दिन-रात वढता ही जाता था।

कहा जाता है कि एक वार लक्ष्मी और दरिद्रता मे झगडा हो गया। दोनों कहती थी मैं वलवान् हूँ। लक्ष्मी का तर्क था कि वह लोगो को ससार के समस्त सुख प्रदान करती है और उसकी मान-प्रतिष्ठा आकाश तक पहुँचा देती है।

इसके विपरीत दरिद्रता का कहना यह था कि वह प्रथम तो विद्वान पुरुपो के पास रहती है, दूसरे लोगो को पुरुपार्थी वनती है। धनाभाव होने पर ही व्यक्ति श्रम करता है तथा अपनी शक्तियो को काम मे लाता है।

इस प्रकार दोनो देवियाँ काफी समय तक एक दूसरे को वुरा कहती रहीं और जव झगडा मिट नही सका वरन वढता गया तो किसी और से इसका निपटारा कराने के लिये चल दी।

सयोगवश वे दोनो उस वुद्धिमान महाजन के पास ही पहुँच गईं। अपने-अपने पक्ष मे तर्क देते हुए उन्होंने पूछा—"तुम वताओ कि हम दोनो मे से वडी और अच्छी कौन है ?"

महाजन वडी दुविधा मे पड गया और सोचने लगा—"अगर मैं लक्ष्मी को अच्छी कहूँगा तो दरिद्रता घर में घुस जाएगी और दरिद्रता को अच्छी कहूँगा तो लक्ष्मी नाराज होकर चली जाएगी।"

इस प्रकार सेठ कुछ देर तक विचार करता रहा और फिर अपनी चतुराई

को काम मे लेते हुए लक्ष्मी से बोला — "तुम थोडी दूर जाकर खडी रहो ।" फिर दरिद्रता से कहा--' मेरे पास ठहरो ।"

दोनो अपने-अपने स्थान पर खडी हो गई । इसके बाद महाजन ने लक्ष्मी से कहा—"तुम जरा इधर आओ ।" साथ ही दरिद्रता से बोला—'तुम उधर जाओ ।"

सेठ की बात सुनकर लक्ष्मी सेठ की ओर आई तथा दरिद्रता सेठ से दूर चली । इस पर सेठ बोला—"अहा ! लक्ष्मी आती अच्छी लगती है और दरिद्रता जाती हुई वडी सुन्दर दिखाई देती है ।"

इस प्रकार लक्ष्मी सेठ के पास आ गई और दरिद्रता उससे दूर चली गई ।

वधुओ, यह है आप लोगो की करामात । लक्ष्मी को बुलाने और दरिद्रता को भगाने मे तो आप बहुत चतुर हैं । किन्तु आपकी चतुराई केवल यही काम आएगी । क्योंकि कर्म ऐसे वेवकूफ नही हैं जो आपके कहने से दूर चले जाएँगे । वे तो जीव को तीनो लोको मे, कही भी चाहे छिप जाय, ढूँढ लेंगे । इसलिए हमे यह प्रयत्न करना है कि वे कम से कम हमारे साथ बधें ।

और इसका केवल यही उपाय है कि हम राग तथा द्वेष को ही निर्मूल करें। जव तक हमारा राग सासारिक वस्तुओ पर रहेगा तव तक लोभ और तृष्णा हमारा पीछा नही छोडेगे । साथ ही द्वेष जव तक हमारी आत्मा मे विद्यमान रहेगा, तव तक हमे कष्ट पहुँचाने वाले जीवो के प्रति हमारा क्षमा भाव नही रह सकेगा और हममे परिषह सहने की शक्ति नही आ पाएगी ।

इसलिये मेरा यही कहना है कि हमे शरीर के प्रति राग-भाव छोडना चाहिये और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले डास-मच्छर आदि जीवो के प्रति क्रोध या द्वेष नही आने देना चाहिये । जव हम ऐसा करेंगे तभी हममे पाँचवें 'दशमशक परिषह' को सहने की शक्ति आ सकेगी । चाहे साधु हो या श्रावक दोनो को ही परिषहो से जूझने की शूरवीरता रखनी चाहिए । तभी वह अपने आत्म कल्याण के उद्देश्य मे सफल हो सकेगा । धर्म-साधना का क्षेत्र समरभूमि के समान है और उपसर्ग तथा परिषह शत्रु । प्रत्येक साधक को अपने इन शत्रुओ से निर्भय होकर मुकावला करना चाहिए तथा मृत्यु का भी भय न रखते हुए निरतर वढते जाना चाहिये ।

२३ शत्रु से भी मित्रता रखो !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने बाईस परिषहो मे से पाँचवें परिषह 'दशमशक परिषह' के विषय मे कुछ विचार व्यक्त किये थे। इस विषय मे एक गाथा कल कही गई थी। आज उसी सम्बन्ध मे दूसरी गाथा 'श्री उत्तराध्ययन' के दूसरे अध्ययन की कही जा रही है। गाथा इस प्रकार है—

न सतसे न वारेज्जा, मण पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुजते मससोणिय॥

अर्थात्—साधु मच्छर, मक्खी तथा डास आदि विषैले जीवो को रुधिर एव मास खाने पर भी अपने शरीर से न हटावे। उनके काटने पर भी उन्हे किसी प्रकार का त्रास न पहुँचावे, उनके प्राणो का नाश न करे तथा उन पर किंचित् भी रोष न करते हुए उनके इस व्यवहार को उपेक्षावृत्ति से देखे।

इस गाथा मे भगवान ने फरमाया है कि साधु परिषहो को समतापूर्वक सहन करते हुए डास, मच्छर एव मक्खी आदि जहरीले जन्तुओ को भी अपने शरीर पर से हटाए नही और उनका प्राण-नाश न करे। अपितु उन्हे अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करने दे तथा स्वय उनके दश द्वारा होने वाले कष्टो को पूर्ण समता एव वीरतापूर्वक सहने करे। ऐसा वीरोचित आचरण करने से साधु के हृदय मे शरीर के प्रति रहे हुए राग एव उसे कष्ट पहुँचाने वाले जीवो के प्रति उत्पन्न होने वाले द्वेष के भावों मे कमी होगी। राग एव द्वेष आत्मा को निविड कर्म-बधनो से जकडने वाले है—

"रागद्वेषविलग्ननरस्य कर्मबधो भवत्येवम्।"

—राग-द्वेष से युक्त प्राणी के कर्मों का बधन अहर्निशि होता रहता है।

इसीलिये साधक को राग-द्वेष दूर करने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिये—"ये निरीह जीवजन्तु जो मेरे शरीर को कष्ट पहुँचा रहे हैं इसे सहन करने मे ही मेरी आत्मा का कल्याण है । क्योकि यह शरीर जिसे ये खा रहे हैं, वह मैं नही हूँ । मैं तो केवल आत्मा हूँ जिसे खाने की इनमे तो क्या वनराज सिह तक मे शक्ति नही है । अर्थात्—मेरी आत्मा को कोई नही खा सकता और किसी भी प्रकार की हानि नही पहुचा सकता । इसके अलावा अगर मैं शरीर पर से इन्हे हटाऊँगा तो इनके आहार-ग्रहण मे अन्तराय पडेगा और इन्हे मारने से मुझे हिसा के पाप का भागी वनना पडेगा । अत इन्हे जो अच्छा लगे वही ये करें मुझे इन्हे वाधा देकर क्या लेना है ?"

इस प्रकार के वीरोचित भाव रखने से साधक के हृदय मे राग-द्वेष की कमी होगी तथा उसमे समता एव शाति की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगेगी । उस सम-भाव की गगा मे उसकी आन्तरिक कालिमा घुल जाएगी और शुद्ध सात्विक भाव निखर आएँगे । जव अन्त करण मे सात्विक भावो का उदय होगा तो क्षमा-भाव जड पकड लेगा और उस साधक को मरणातक कष्ट देने वाले के प्रति भी क्रोध नही आएगा ।

शास्त्रो मे अनेक इस वात को स्पष्ट करने वाले ज्वलत उदाहरण प्राप्त होते हैं । गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अगारे रखे गये, स्कधक मुनि के शरीर की चमडी उतारी गई और मेतार्य मुनि पर प्राण-सकट आया । किन्तु इन सभी ने किंचित्-मात्र भी रोष, दु ख अथवा द्वेष मन मे लाये विना इन मरणातक कष्टो को सहन किया ।

ऐसी उत्कृष्ट क्षमा ही कर्मों का सम्पूर्ण नाश करने मे हेतु वनती है । जो सच्चा साधु और सच्चा साधक होता है वह तो अपने को कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्ति पर क्रोध न करके उलटे क्षमा और दया का भाव रखते हैं । कष्ट पहुचाने वाले के प्रति भी दया रखने वाले एक सत का उदाहरण आपके सामने रखता हूँ ।

मैं अपना व्रत नहीं तोडूँगा !

एक वैष्णव सत नदी के किनारे स्नानार्थ पहुँचे । जैन मुनि तो कच्चे या सचित्त जल का स्पर्श भी नही करते । किन्तु वैष्णव साधु कच्चे जल से परहेज नहीं करते, अत वे गगा आदि नदियो मे स्नान करते हैं ।

तो वे साधु जव नदी के समीप पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उसके जल मे एक जहरीला और वडा विच्छू वह रहा है । साधु को उस पर दया आई और उन्होंने

विचारा कि यह विच्छू अगर जल मे से नही निकाला गया तो निश्चय ही मर जाएगा। उसके प्राण कठ तक आ चुके थे और वह बुरी तरह प्राणरक्षा के लिये छटपटा रहा था।

उसकी ऐसी दशा देखकर सत से नही रहा गया और वे नदी मे घुसकर अपने हाथ में विच्छू को उठाने लगे। यद्यपि विच्छू मृत्यु के भय से घवरा रहा था किन्तु सत के हथेली मे लेते ही अपने क्रूर स्वभाव के कारण उसने साधु के हाथ में डक मार दिया। हाथ मे डक लगते ही सत का हाथ तनिक हिल गया और विच्छू पुन नदी मे जा गिरा। पर वह मर जाएगा यह सोचकर सत ने उसे फिर उठाना चाहा, पर वह विच्छू ही तो ठहरा, उसने फिर डक मार दिया। इस प्रकार सत उसे वार-वार हाथ से निकालने का प्रयत्न करते और विच्छू हर वार उन्हे डक मारता। वह भी धीरे से नही किन्तु पानी मे वहने के क्रोध मे आकर वडे जोर से डक चुभाता था।

यह देखकर किनारे पर खडे हुए एक दूसरे स्नानार्थी ने सत से कहा—"महात्माजी आप यह क्या नादानी कर रहे हैं? विच्छू वार-वार आपको काटता है पर आप फिर भी उसे वार-वार उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं?"

साधु ने उस स्नानार्थी की वात सुनी पर उसकी परवाह न करते हुए वे अपने प्रयत्न में लगे रहे। साथ ही सकौतुक विच्छू को सम्वोधित करते हुए वोले—

नदी धार मे वहता जाता, तू ईश्वर का था प्यारा,
विलख रहा था प्राण कठ थे कल-वल से भी था हारा।
स्नान छोडकर मैंने तुझको पकड़ किनारे पर डाला,
पर मुझको ही तूने मारा डंक, नहीं हित को पाला।
फिर से लहरों मे तू वहने लगा दया मुझको आई,
फिर पकडा तुझको पर तूने डंक दिया मुझको भाई।

सत हँसते हुए कहते हैं—"अरे भाई! तू नदी मे वह रहा था और तेरे प्राण जाने की नौवत आ गई थी। यह देखकर मैंने तुझे वचाना चाहा पर किनारा आते-आते तूने मुझे ही डक मार दिया और फिर पानी मे जा गिरा। मैंने फिर तुझे निकाल कर वाहर लाना चाहा पर तूने पुन मेरे हाथ मे काट खाया।"

आगे सत कह रहे हैं—

जहर चढा तेरा मेरे तन फिर वहता तुझको पाया,
वार-वार तू वहा नदी से पकड-पकड तुझको लाया।
खल स्वभाव को तजा न तूने अपने हितकारी के साथ,
फिर मैं कैसे तज सकता हूँ सत्य, साधुता अपने हाथ।

तू काटे जा किन्तु साधुता कभी नहीं मैं छोड़ूंगा,
तेरी रक्षा से ऐ प्यारे कभी नहीं मुंह मोड़ूंगा।
तेरे हित के लिए प्राण भी मै अपने दे डालूंगा,
पाले जा तू मैं भी अपने प्यारे प्रण को पालूंगा।

क्या कह रहे है संत ? वे बिच्छू से कहते हैं –"तू बार-बार पानी मे गिर जाता है पर मैं तुझे बार-बार निकालने का प्रयत्न कर रहा हूँ। वह प्रयत्न तू ही सफल नही होने दे रहा है क्यो कि तू मुझ बार-बार डंक मार देता है। परिणाम-स्वरूप तेरा जहर मेरे शरीर मे चढ रहा है पर मैं क्या कहूं ? यही कहूँगा कि तू अपने हितकारी को भी कष्ट पहुचाने वाले अपने स्वभाव को नही छोडता तो मैं अपने साधु के योग्य जो कर्तव्य है उसे कैसे छोड़ूँ ? तेरा स्वभाव दुःख पहुँचाने का है और मेरा दुःख मिटाने का। अत तू भले ही अपने स्वभाव को मत छोड, मैं तो तुझे बचाऊँगा ही। तू मुझे चाहे जितनी बार काट, किन्तु मैं तेरी रक्षा से कभी मुंह नही मोड़ूंगा। तेरी रक्षा करने मे चाहे मेरे प्राण भी निकल जांय तो भी पीछे नही हटूंगा। अधिक क्या कहूँ ? तू अपनी आदत के अनुसार कार्य किये जा। इधर मैं भी अपने व्रत का पालन करता रहूँगा, इसे तोड़ूंगा नही।'

इस छोटे से उदाहरण से व्यक्ति को यही शिक्षा मिलती है कि वह अपने को कष्ट पहुचाने वाले और यहाँ तक कि प्राण लेने वाले प्राणी के प्रति भी पूर्ण क्षमा का एव दया का भाव रखे। सच्चे संत तो विश्ववर्ती समस्त प्राणियो को अपना मित्र एव हितैषी समझते हैं। बिच्छू को डंक मारने पर भी बार-बार पानी मे से निकालने वाले संत उसे अपना दुश्मन नही समझ रहे थे, वरन अपने कर्मों की निर्जरा कराने वाला मानकर अपना हितैषी ही मानते थे।

जो व्यक्ति ऐसा नही मानता है वह चाहे श्रावक हो या साधु, अपने कर्तव्यों का पालन नही कर सकता। उसे अपने कष्ट पहुचाने वाले के प्रति रोष उत्पन्न होता है और जब हृदय मे रोष या क्रोध का आविर्भाव हो जाता है तो वह मनुष्य अपने अकल्याण करने वाले के दोष गिनने और ढूंढने लगता है।

वैसे इस संसार मे दोषदर्शी या छिद्रान्वेषी व्यक्तियो की कमी नहीं है। कदम-कदम पर आपको ऐसे व्यक्ति मिल जाएंगे जो बिना वजह ही औरो की निंदा, बुराई एव अहित करने के प्रयत्न मे रहते हैं। और तो और वे साधुओं के यहाँ भी उनकी संगति के इच्छुक बनकर या उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा लेकर नहीं आते। अपितु वे साधुओ के व्यवहार, आचरण एव क्रिया आदि मे कमी ढूंढने तथा उनकी ढिलाई देखने आते हैं।

ऐसे व्यक्तियो की भर्त्सना करते हुए शेखसादी कहते हैं—

> शुनीदम कि मरदाने राहे खुदा,
> दिले दुश्मना हम न करदन्दे तग।
> तुरा के मुयस्सर शब्द ई मुकाम,
> कि बा दोस्तानत खिलाफस्तो जग ॥

अर्थात् मुझे मालूम है कि सच्चे सन्त अपने शत्रुओ के हृदय को भी दुखित नही करते। तू उनके उस उच्च स्थल पर कैसे पहुँच सकता है और उस उच्चतर भूमिका को कैसे प्राप्त कर सकता है, जिसका कि अपने मित्रो के प्रति भी शत्रुभाव बना हुआ है।

वस्तुत ऐसे आस्तीन के सांपो की भी दुनिया मे कमी नही है जो अपने हित-कारी एव शुभचिन्तको की पीठ मे छुरा भोकने के लिये तैयार रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि बुराई का नतीजा कभी अच्छाई के रूप मे नही मिलता। कभी शीघ्र और कभी देर से भी बुराई का फल बुराई के रूप मे अवश्य मिलना है। अगर इस जन्म मे बच भी गए पूर्व पुण्यो के कारण, तो अगले जन्मो मे भी उस अनुचित और क्रूर कर्म का फल मिले बिना नही रहता।

जले बीज से फसल पैदा नहीं होती

एक साहूकार बडा धनी था किन्तु फिर भी अधिकाधिक धन जोडने के प्रयत्न मे वह सदा लगा रहता था। उसका काम था लोगो को रुपया उधार देना और दुगुना-चौगुना ब्याज लेकर उन्हे कभी भी ऋणमुक्त न करना। इतना ही नही, बेचारे अपढ और गांवो के गरीब व्यक्ति जो पढना और हस्ताक्षर करना नही जानते थे, उनमे वह कर्ज लेने पर अँगूठा लगवा लिया करता और उनकी ली हुई रकम पर आगे बिन्दियाँ लगाकर अथवा अक लिखकर कुछ वर्ष बीतते ही रकम को लम्बी बताकर उनके घर-द्वार भी नीलाम करा लेता था। अनेको व्यक्ति उस साहूकार की इस बेईमानी के कारण मकान व खेत आदि से रहित हो चुके थे। और वे स्वय या उनके बच्चे दर-दर के भिखारी बन गए थे।

साहूकार पर इन सबका कोई असर नही होता था और वह दिन भर इसी प्रकार अनैतिक कार्य किया करता था। पर उनकी एक आदत यह थी कि वह दिन भर लोगो का गला काटने अथवा उनके पेट पर लात मारने का कार्य करने के पश्चात् प्रतिदिन शाम को गाँव के बाहर बने हुए मदिर मे जाकर भगवान

के दर्शन करता और उनसे प्रार्थना करता था—"हे प्रभो ! मुझे मुक्ति प्रदान करना।"

मन्दिर का पुजारी साहूकार को और उसके कार्य को भली-भांति जानता था अत वह उसकी इस प्रार्थना पर मन ही मन हँसता था। उसे गांव के उन व्यक्तियो पर जो कि साहूकार का शिकार बनते थे, बडी दया आती थी, अत उसने एक बार साहूकार को शिक्षा देने का विचार किया।

अपने विचार के परिणाम-स्वरूप उसने एक दिन कुछ भुने हुए चने लिए और मदिर के बाहर बने हुए चबूतरे पर बिखेर दिये। उसके बाद जब साहूकार दूर से मदिर की ओर आता हुआ दिखाई दिया तो उसने उन भुने हुए चनो को पानी से सीचना शुरू कर दिया। साहूकार मदिर तक आ पहुचा और उसकी दृष्टि पुजारी के इस काम पर पडी। अत्यन्त चकित होकर उसने पूछ लिया—

"पुजारी जी ! यह आप क्या कर रहे हैं ?"

"चनो की फसल उगा रहा हूँ सेठ जी।" पुजारी ने कृत्रिम गभीरता पूर्वक सहज भाव से उत्तर दे दिया। पर पुजारी की बात सुनकर सेठ जी जोर से हँस पडे और बोले—

"पुजारी जी, लगता है कि आप आज पागल हो गए हैं। भला पत्थरो से चुने हुए इस फर्श पर आपके ये भाड मे जलकर भुने हुए चने फसल के रूप मे कैसे आएँगे ?"

पुजारी को तो साहूकार का कोई डर था नहीं, अत उसने अब ठीक समय आया जानकर मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—

"सेठजी ! आपकी आत्मा पर भी तो लोभ और तृष्णा के पत्थर चुने हुए हैं और अनीति, बेईमानी तथा धोखेबाजी के भाड मे आपकी प्रार्थना और भक्ति के शब्द जल गए हैं। किन्तु फिर भी आप उनके द्वारा मुक्ति-रूपी फसल उगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। तो, जली हुई प्रार्थना से भी अगर आपको मुक्ति-रूपी फल प्राप्त हो जाएगा तब मेरे इन भुने हुए चनो से फसल क्यो नहीं उगेगी ?"

पुजारी की यह बात सुनकर साहूकार के मस्तिष्क को तीव्र झटका लगा और उसकी आँखे खुल गईं। वह उसी क्षण दौडा हुआ मदिर मे गया और भगवान के चरणो मे लोट-लोटकर अपने समस्त पापो के लिये पश्चात्ताप करने लगा। उसने उसी समय प्रतिज्ञा कर ली कि आइन्दा वह जीवन मे कभी भी बेईमानी और धोखे-

बाजी के कुकृत्य करके दीन-दरिद्रों का गला नही काटेगा तथा साथ ही अपनी वहियो के आधार पर उसने जितना भी लोगो से पैसा लूटा है, वह यथाशक्य लौटाने का प्रयत्न करेगा।

साहूकार ने ऐसा ही किया और इसके अलावा भी अपने धन का बहुत बडा भाग अभावग्रस्त दरिद्र व्यक्तियो मे बाँटकर भगवान की सच्चे दिल से भक्ति करने लगा।

तो बधुओ, ऐसे उदाहरण से हमे शिक्षा लेनी चाहिये कि किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष में हानि पहुँचाना, उसके पेट पर लात मारना या उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पाने के लिये बाध्य करना हिंसा की कोटि मे ही आता है और हिंसा का फल कभी भी शुभ नही हो सकता। हमे सोचना चाहिये कि अपने जिस पेट और शरीर को नाना प्रकार से सुख पहुचाने के लिये हम अनेको प्रकार के पाप मन, वचन और कर्म से करते हैं, वह शरीर तो कभी अचानक ही या वयप्राप्त होकर जीर्ण होते हुए भी हमारी आत्मा का साथ छोड देगा। पर हमारे साथ उसके लिये किये हुए पाप-कर्म अवश्य चलेंगे।

कवि वाजिद का भी यही कथन है—

> सुंदर पाई देह नेह कर राम सों,
> क्या लुब्धा वेकाम धरा धन धाम सो ?
> आतम रग पतग सग नहिं आवसी,
> जमहूं के दरबार मार बहु खावसी ॥

कवि ने मोह माया मे पडे हुए अविवेकी एव अज्ञानी मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है—"अरे आत्मबधु ! यह पांचो इन्द्रियो से परिपूर्ण सुन्दर देह तुझे प्राप्त हुई है तो इससे सु दर कर्म भी कर। व्यर्थ मे ही क्यो तू धन, जमीन एव मकान आदि नश्वर वस्तुओं मे लुब्ध हो रहा है ? हे आत्मन् ! ससार का यह रग पतग के समान है जो कि पानी की बूँद पडते ही उतर जाता है। अत इससे आकर्षित होकर तू कोई भी क्रूर कर्म मत कर अन्यथा यमराज के दरबार मे तुझे बडा कष्ट भुगतना पडेगा।

इसीलिये भगवान ने साधु को आदेश दिया है कि वह शरीर का मोह त्यागते हुए उस पर आने वाले परिषहो के कारण मन मे रोप न आने दे और पूर्ण समभाव पूर्वक कष्ट सहन करे। यद्यपि मक्खी, मच्छर एव डास आदि शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं और उसमे रहे हुए मास एव रुधिर को ग्रहण करने के प्रयत्न मे लगे रहते हैं, किन्तु जो साधु शरीर को अपनी आत्मा से पृथक् मानता है तथा अपने कर्मों की निर्जरा का इच्छुक रहता है, वह इन परिषहो से कभी नहीं घबराता तथा अपनी आत्म-शक्ति के द्वारा पूर्ण शाति एव समाधि भाव रखता हुआ उनका मुकाबला करता है। ऐसा प्राणी ही शनै.-शनै कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

❀

२४ | शरीर को कितने वस्त्र चाहिये ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

हमारे धर्मशास्त्र आत्मा को निज रूप मे रहने की नसीहत देते हैं। अर्थात् साधना के मार्ग पर चल पडने के बाद अगर कोई सकट सामने आए तथा उपसर्ग और परिषहो का सामना करना पडे तो उस समय भी मन की स्थिरता बनाए रखने का आदेश देते हैं। मन को स्थिर रखना सवर तत्त्व का एक विधान है।

अभी हम सवर के सत्तावन भेदों मे से बाईस परिषहो के विषय मे विचार-विमर्श कर रहे हैं। कल पाँचवें परिषह के विषय मे बताया गया था और आज छठे, 'अचैल परिषह' को लेंगे।

अचैल शब्द मे प्रथम 'अ' आता है। इसका अर्थ है नहीं, और आगे आने वाले 'चैल' शब्द का अर्थ है वस्त्र। इस प्रकार अचैल का मतलब वस्त्र का न होना अथवा मर्यादित होना है।

आज के युग मे कपडो या वस्त्रो के लिये क्या कहा जाय ? आप धनीमानी सेठ साहूकारो के बडप्पन और समृद्धि का मापदड भी वस्त्र हो गया है। अपनी ऋद्धि के अनुसार आप अपने और अपने घर की स्त्रियो के लिए रेशम, मखमल और अधिकाधिक जरी आदि से कढे हुए वस्त्र बनवाते हैं। अगर ऐसा न करें तो आपकी पोजीशन मे कमी आती है और धब्बा लगता है। आपके घर की स्त्रियाँ अधिक से अधिक चमकीले और भडकीले वस्त्रो को पहनकर घर से बाहर निकलती हैं तथा यहाँ स्थानक मे आने के लिये तो उनकी सबसे पहली तैयारी उत्तमोत्तम वस्त्रो का चुनना ही होता है।

वे यह भूल जाती हैं कि नारियो के सच्चे भूषण और वस्त्र उनकी लज्जा मधुर स्वभाव एव पातिव्रत्य ही होते हैं।

महात्मा कबीर ने अपने एक दोहे म लिखा है—

पतिवरता फाटा लता, गले कांच की पोत।
सब सखियन मे यो दिपे, ज्यो रवि-ससि की जोत॥

अर्थात्-पतिव्रता स्त्री भले ही फटे हुए वस्त्र पहने और भूषण के नाम पर गले मे काँच की पोत ही डाले, किन्तु फिर भी उसका गौरव और तेज इतना दीप्त रहता है कि अपनी सखियो और अन्य नारियो के बीच मे वह चन्द्र एव सूर्य की ज्योति के समान प्रकाशित होती है।

मेरा आशय कहने का यही है कि आज के युग मे आप वस्त्रो को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ धर्मोपदश सुनने के लिए आते समय भी आप सामायिक के उपकरण, आसन- पूँजनी, माला, मुखवस्त्रिका तथा कोई तात्विक बात लिखने के लिये डायरी आदि लाना भले हा भूल जाय, किन्तु हमे पहनकर क्या जाना है, यह कभी नही भूलते। जबकि वस्त्रो का महत्त्व जीवन मे कुछ भी नही है और चाहे वह बिलकुल घटिया पहना जाय या बढिया उससे आत्मा का कुछ भी बनता बिगडता नही।

हमारी बहनो क पास कपडो से पेटिया भरी होती हैं और चाहे वे पड-पड़े सड जांय, पर फिर भी जिसका कोई वस्त्र नई डिजाइन का देखा, वैसा ही और लेने के लिये सदा तैयार रहती हैं। आप लोगो का भी यही हाल है। आप अपने एक एक सूट मे सैकडो रुपये खर्चा कर देते हैं, जबकि देश के सैकडो ही क्या लाखो दरिद्रो के पास लज्जा ढकने के लायक भी वस्त्र नही होता।

बधुओ, आपको ध्यान रखना चाहिये कि कीमती और अगणित वस्त्रो को पहनने और सग्रह करने से आपका महत्त्व नही बढता। आपका महत्त्व तभी बढेगा जब कि आप स्वय कम से कम और सादे वस्त्र पहनकर अपने विचारो को बहुमूल्य बनाएँगे तथा उत्तम गुणो का सग्रह करेगे।

ससार के सभी महापुरुष धन का सग्रह करके और कीमती कपडे पहनकर महान् नही बने हैं वरन वे इनका त्याग करके और केवल आवश्यकतानुसार इनका उपयोग करके ही अपने को महान् बना सके हैं।

घी का दिया किसलिये ?

अभी मैंने एक स्थान पर पढा था कि महात्मा गांधी ने एक दिन शाम को

२४ | शरीर को कितने वस्त्र चाहिये ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

हमारे धर्मशास्त्र आत्मा को निज रूप मे रहने की नसीहत देते हैं । अर्थात् साधना के मार्ग पर चल पडने के बाद अगर कोई सकट सामने आए तथा उपसग और परिषहो का सामना करना पडे तो उस समय भी मन की स्थिरता बनाए रखने का आदेश देते हैं । मन को स्थिर रखना सवर तत्त्व का एक विधान है ।

अभी हम सवर के सत्तावन भेदो मे से बाईस परिषहो के विषय में विचार-विमर्श कर रहे हैं । कल पांचवें परिषह के विषय मे बताया गया था और आज छठे, 'अचैल परिषह' को लेंगे ।

अचैल शब्द मे प्रथम 'अ' आता है । इसका अर्थ है नही, और आगे आने वाले चैल' शब्द का अर्थ है वस्त्र । इस प्रकार अचैल का मतलब वस्त्र का न होना अथवा मर्यादित होना है ।

आज के युग मे कपडो या वस्त्रो के लिये क्या कहा जाय ? आप धनीमानी सेठ साहूकारो के बडप्पन और समृद्धि का माप-दड भी वस्त्र हो गया है । अपनी ऋद्धि के अनुसार आप अपने और अपने घर की स्त्रियो के लिए रेशम, मखमल और अधिकाधिक जरी आदि से कढे हुए वस्त्र बनवाते हैं । अगर ऐसा न करें तो आपकी पोजीशन मे कमी आती है और धब्बा लगता है । आपके घर की स्त्रियां अधिक से अधिक चमकीले और भडकीले वस्त्रो को पहनकर घर से बाहर निकलती हैं तथा यहाँ स्थानक मे आने के लिये तो उनकी सबसे पहली तैयारी उत्तमोत्तम वस्त्रो का चुनना ही होता है ।

वे यह भूल जाती हैं कि नारियों के सच्चे भूषण और वस्त्र उनकी लज्जा मधुर स्वभाव एव पातिव्रत्य ही होते हैं।

महात्मा कबीर ने अपने एक दोहे म लिखा है—

पतिवरता फाटा लता, गले कांच की पोत।
सब सखियन मे यो दिपे, ज्यो रवि-ससि को जोत॥

अर्थात्-पतिव्रता स्त्री भले ही फटे हुए वस्त्र पहने और भूषण के नाम पर गले मे कांच की पोत ही डाले, किन्तु फिर भी उसका गौरव और तेज इतना दीप्त रहता है कि अपनी सखियो और अन्य नारियो के बीच मे वह चन्द्र एव सूर्य की ज्योति के समान प्रकाशित होती है।

मेरा आशय कहने का यही है कि आज के युग मे आप वस्त्रो को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ धर्मोपदेश सुनने के लिए आते समय भी आप सामायिक के उपकरण, आसन- पूँजनी, माला, मुखवस्त्रिका तथा कोई तात्विक बात लिखने के लिये डायरी आदि लाना भले ही भूल जाय, किन्तु हमे पहनकर क्या जाना है, यह कभी नही भूलते। जबकि वस्त्रो का महत्त्व जीवन मे कुछ भी नही है और चाहे वह बिलकुल घटिया पहना जाय या बढिया उससे आत्मा का कुछ भी बनता बिगडता नही।

हमारी बहनो क पास कपडो से पेटियाँ भरी होती हैं और चाहे वे पढे-पडे सड जांय, पर फिर भी जिसका कोई वस्त्र नई डिजाइन का देखा, वैसा ही और लेने के लिये सदा तैयार रहती हैं। आप लोगो का भी यही हाल है। आप अपने एक एक सूट मे सैंकडो रुपये खर्चा कर देते हैं, जबकि देश के सैंकडो ही क्या लाखो दरिद्रो के पास लज्जा ढकने के लायक भी वस्त्र नही होता।

बधुओ, आपको ध्यान रखना चाहिये कि कीमती और अगणित वस्त्रो को पहनने और सग्रह करने से आपका महत्त्व नही बढता। आपका महत्त्व तभी बढेगा जब कि आप स्वय कम से कम और सादे वस्त्र पहनकर अपने विचारो को बहुमूल्य बनाएँगे तथा उत्तम गुणो का सग्रह करेंगे।

ससार के सभी महापुरुष धन का सग्रह करके और कीमती कपडे पहनकर महान् नही बने हैं वरन वे इनका त्याग करके और केवल आवश्यकतानुसार इनका उपयोग करके ही अपने को महान् बना सके हैं।

घी का दिया किसलिये ?

अभी मैंने एक स्थान पर पढा था कि महात्मा गांधी ने एक दिन शाम को

प्रार्थना समाप्त की और प्रार्थना की समाप्ति पर सब लोग उठकर अपने-अपने घर चले गये।

जब सब लोग उठकर चले गये तब अचानक ही गाँधी जी की दृष्टि घी के एक दिये पर पड़ी जो समीप ही जल रहा था।

उन्होंने चकित होकर पूछा—"यह घी का दिया यहाँ किसने जलाया है ?"

"मैंने जलाया है यह, आपका आज जन्म-दिन था न इसलिये।" कस्तूरबा ने धीरे से उत्तर दिया।

कस्तूरबा की बात सुनकर गाँधी जी तनिक नाखुश होते हुए बोले—"वाह! मेरा जन्मदिन है तो क्या हुआ ? तुमने व्यर्थ इतना घी बरबाद कर दिया। देश के लाखो व्यक्तियो को तो खाने के लिये दो चम्मच तेल भी नहीं जुटता और तुम घी के दिये जलाती हो ? आइन्दा इस प्रकार का व्यर्थ खर्च मत करना।"

कहने का आशय यह है कि महापुरुष अपनी आवश्यकता से अधिक पैसा कभी भी खर्च नही करते क्योंकि वे देश के पैसे को सभी का समझते हैं और उस पर सबका अधिकार मानते हैं। इस प्रकार वस्त्र भी अधिक रखना वे दूसरे व्यक्तियो के शरीर पर से चोरी किया हुआ मानते हैं। वे केवल यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य की महत्ता केवल उसके उत्तम विचारों से बढ़ती है, वस्त्राभूषण पहनने से नहीं।

इसीलिये साधु कम से कम और मर्यादित वस्त्र रखते हैं। अधिक वस्त्र रखना वे परिग्रह मानते हैं। उनके लिये वस्त्र केवल तन ढकने जितना ही आवश्यक होता है। कई सत तो ओढने के लिये केवल एक चादर रखना भी काफी समझते हैं और पहनने के लिये भी एक।

हमारे प्रसिद्धवक्ता श्री चौथमलजी महाराज ने एक भजन अपनी चादर को लेकर बनाया था। वह मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षाप्रद भी है। उसका कुछ अश इस प्रकार है—

> कहूँ हाल मैं इस कपड़े का सुनजो सब नर नार,
> लाया जांच मैं इक गृहस्थ से जगन्नाथी तीन वार।
> माप करी ने सिवी पाट दो चादर करी तैयार—
> अरे हे, ज्ञान विचारो झूठी माया है इस ससार की।

जो पुरुष त्यागी होते हैं, उनका अन्त करण त्याग की ओर लगा रहता है। वे उच्चकोटि के सत और कवि थे अत. अपनी चादर को लेकर ही शिक्षाप्रद

कविता लिखते हुए कहते हैं—'भाइयो और बहनो, मैं अपनी इस चादर का पूरा हाल आज आपको सुना रहा हू आशा है आप सब इसे ध्यान से सुनेंगे। चादर का किस्सा इस प्रकार है कि एक बार मैं एक गृहस्थ से तीन गज जगन्नाथी कपडा लाया।

लाने के बाद नाप करके इसके दो पट मैंने किये और उन्हे सीकर चादर तैयार की। पर बधुओ, इस ससार मे सब कुछ क्षणिक और माया है यह हमे ज्ञान पूर्वक विचार करना चाहिये। अब आगे की बात सुनो—

झलझलाट उज्जवल औ निर्मल ओढी थी जब जान।
लगाय सीना हो गई मैली, अब जीरण पहचान।
इसी न्याय से इस काया पर लेना लाकर ज्ञान,
अरे हे, ज्ञान विचारी, झूठी माया है इस ससार की ॥

कहते हैं—जब यह चादर नई थी, तब इसमे बडी चमक-दमक, स्वच्छता एव निर्मलता थी। प्रारम्भ मे जब मैंने इसे ओढना शुरू किया था, तब यह सभी को बहुत पसद आती थी।

किन्तु ज्यो ही इसमे पसीना लगा और ऊपर से धूलि के कण चिपकने लगे यह मैली और चमक रहित हो गई। और फिर धीरे-धीरे काम मे लेने पर तो अब यह इतनी पुरानी और जीर्ण हो गई है कि पहचान मे भी नही आती। कोई नही सोच सकता कि यह वही जगन्नाथी है।

बस इसीप्रकार यह काया अर्थात् शरीर भी है। शैशव और युवावस्था मे तो इसके सौन्दर्य का पार नही रहता किन्तु धीरे-धीरे यही वृद्धत्व को प्राप्त होकर जीर्ण हो जाता है और एक दिन मिट्टी बनता है। केवल इसके द्वारा किये हुए अकाज ही अशुभ-कर्म बनकर साथ चलते हैं और भयानक कष्टो को भोगने के कारण बनते हैं। कवि वाजिद ने यही विचार कर प्राणी को उद्बोधन दिया है—

केती तेरी जान किता तेरा जीवना !
जैसा स्वप्न विलास, तृषा जल दीवना ।
ऐसे सुख के काज अकाज कमायना,
बार बार जम द्वार मार बहु खावना ॥

कितनी सुन्दर शिक्षा कवि दे रहा है कि—हे प्राणी ! तेरी कितनी सी जान और कितना सा जीवन ? यह सांसारिक सुख स्वप्न-विलास के समान है। अर्थात् स्वप्न मे नाना प्रकार के सुखो का उपभोग प्राणी करे किन्तु स्वप्न टूटते ही ये सब

पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। दूसरे सासारिक सुखो को मृगतृष्णा की उपमा भी दी जा सकती है। हरिण जिस प्रकार बालू रेत के मैदान या रेगिस्तान मे चमकती हुई रेत को पानी समझता हुआ दौडता चला जाता है, पर उसे पानी नही मिलता और वह प्यासा ही रह जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य सासारिक सुखो का उपभोग करता हुआ उन्हें अधिक से अधिक भोगना चाहता है किन्तु सच्चा और स्थायी सुख उसे कभी प्राप्त नही होता।

आगे कवि ने कहा है—

माया बेटी बढँ सूम घर माँय रे,
छिन मे ऊझल जाय के रहती नांय रे।
अपने हाथो हाथ विदा कर दीजिये,
मिनख जमारो पाप पड़यो जस लीजिये ॥

क्या कहा गया है ? यही कि कजस के घर पर लक्ष्मी बढ जाती है पर वह उसका उपयोग क्या करता ? कुछ भी नही, भले ही वह कर्मों के सयोग से लोप हो जाय या चोरी ही क्यो न चली जाय। इसलिये कवि का कथन है कि उसे इकठ्ठा मत करो, वरन् अपने हाथो से परोपकार करके तथा दानादि मे खर्च करके इस जन्म मे यश के भागी बनो तथा परलोक के लिये पुण्य-सचय कर लो। क्योकि धन तो आता है और चला जाता है। आज जो ऐश्वर्य के झूले मे झूलता है कल वह भीख माँगता हुआ भी नजर आ सकता है। यही हाल शरीर का ही है। श्री चौथमल जी महाराज ने अपनी चादर का उदाहरण देकर बताया है कि शरीर को तो एक दिन नष्ट होना ही है फिर इसी को राजाने-सवारने मे तथा कीमती वस्त्रों से आवेष्ठित करने मे लगे रहना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

वस्त्र की आवश्यकता केवल तन ढकने के लिये ही तो होती है, आत्मा की उच्चता इससे नही बढती। फिर पेटिया भर-भर कर रखने से और देश के असख्य लोगो को उघाडा करके स्वय कीमती कपडे पहनने से क्या लाभ है ?

इसलिये अच्छा यही है कि वस्त्रों पर से ममता त्याग कर परिग्रह कम किया जाय। आप श्रावक हैं किन्तु आपके लिये भी तो सीमित परिग्रह रखने का विधान अणुव्रतों मे है। क्या आप अपने व्रतो का पालन करते हुए वस्त्रों की मर्यादा रखते हैं ? श्रावको के लिये पाँचवें व्रत मे सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, मकान, खेत आदि सभी सासारिक पदार्थों के परिग्रह का आदेश है। अत इस व्रत का पालन करते हुए आप लोगो को परिग्रह कम से कम करना चाहिये।

हम साधुओ के लिये तो केवल शरीर ढकने के लिये आवश्यक हो, उतना ही वस्त्र रखने का आदेश भगवान ने दिया है और वस्त्र के अभाव मे किंचित भी खेद खिन्न न होने तथा कष्ट महसूस न करने के लिये कहा है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

परिजुण्णेहि वत्थेहि होक्खामित्ति अचेलए ।
अदुवा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिंतए ॥

—अध्ययन २ गा. १२

अर्थात्-वस्त्रो के सर्व प्रकार से जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्ररहित हो जाऊँगा, इस प्रकार का अथवा वस्त्रो से युक्त हो जाऊँगा, इस प्रकार का भी साधु कभी चिन्तन न करे।

गाथा मे यही कहा गया है कि साधु को वस्त्रो पर किसी भी प्रकार से ममत्व नही रखना चाहिये। सयम पथ पर चलने वाले साधु के वस्त्र भले ही सर्वथा जीर्ण क्यों न हो जांय, उसे यह विचार कभी नही करना चाहिये कि अब मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा और अब मुझे वस्त्र कैसे प्राप्त होंगे ?

साधु यह भी न सोचे कि मेरे इन फटे हुए वस्त्रो को देखकर कोई न कोई गृहस्थ मुझे नये वस्त्र अवश्य प्रदान करेगा और मैं वस्त्र सहित हो जाऊँगा। इस प्रकार के चिन्तन मे मन मे हर्ष की उत्पत्ति हो ही जाती है और हर्ष के कारण मोहनीय कर्मों का बन्धन होने लगता है। अत साधु के लिये आवश्यक है कि वह वस्त्रो की प्राप्ति से हर्ष और अभाव से शोक का अनुभव न करे तथा सभी दशाओं मे सम-भाव रखे।

साधक को प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिये कि वस्त्रों के द्वारा शरीर की रक्षा होती है और शरीर सयम-साधना मे सहायक बनता है, किन्तु सयम का सच्चा पालन तो आत्मा के सम-भावो पर निर्भर है। अगर आत्मा मे किसी भी प्रकार के मलिन विचार आते रहे तथा अच्छे सयोगो से हर्ष और दुखद सयोगों मे विषाद उत्पन्न होता रहे तो आत्मा मे सम-भाव नहीं रहता तथा वह मलिन होकर कर्मो से जकड जाती है तो वस्त्रो के अभाव मे भी साधु को किसी प्रकार का दु खद भाव नहीं लाना चाहिये और उनके प्राप्त होने पर प्रसन्नता का अनुभव भी नही करना चाहिये।

अगली गाथा मे कहा गया है—

एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एय धम्म हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २-१२

यहाँ यह वताया गया है कि जिनकल्पी अवस्था मे साधु वस्त्र रहित भी किसी समय हो जाता है तथा किसी समय स्थविरकल्पी अवस्था मे वस्त्र युक्त भी होता है। अत इन दोनो अवस्थाओ को अपनाकर इन दोनो ही धर्मों को हितकारक समझकर 'नाणी' ज्ञानी साधक कभी खेद न करे।

बधुओ, आपको यहाँ कुछ ध्यान देकर समझना है कि साधु की दो कोटियाँ मानी गई हैं। उनमे से प्रथम है जिनकल्पी और द्वितीय कहलाती है स्थविरकल्पी।

जिनकल्पी अवस्था मे साधु वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है तथा स्थविर कल्पी अवस्था मे वस्त्र धारण करता है। मुख्य बात यह है कि ये दोनों ही धर्म या आचार शास्त्रविहित हैं तथा दोनो ही अवस्थाओं मे आत्मा की पूर्ण हित साधना हो सकती है। दोनो ही स्थितियों मे साधु अपने सयम का पालन करता हुआ अन्य अनेक प्राणियो को धर्माराधन का सही मार्ग वता सकता है तथा उन्हे धर्म का सच्चा स्वरूप समझा कर आत्मोन्नति की ओर वढा सकता हैं।

इस कथन का आशय यही है कि साधु के वस्त्र सहित या वस्त्र रहित होने से कोई फर्क नही पडता, क्योकि उसकी महत्ता वस्त्रो से नही अपितु गुणो से तथा उत्तम भावनाओ से होती है। साधु के जीवन में भाव-शुद्धि का महत्त्व ही होता है वस्त्रो के होने न होने का नही।

इसीलिये कहा गया है'कि सचेलक अथवा अचेलक, दोनों ही दशाओ को धर्म-हितकारक मानकर साधु अपनी साधना को त्यागमय एव दृढ वनाता चले। वह वस्त्रादि के अभाव मे यह चिन्तन कभी न करे कि मुझे शीत का कष्ट होगा और उस अवस्था मे मैं कहाँ जाऊँगा ? ऐसा चिन्तन करना दीनता और दुर्वलता का द्योतक है अत इनका सर्वथा त्याग करके साधु को शीतादि परिषहो को सहर्ष सहन करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। तभी उसे अचेलपरिषह पर विजय प्राप्त हो सकेगी तथा उसकी आत्मा अमरत्व की ओर अग्रसर होगी।

●●

२५ चिन्ता को चित्त से हटाओ

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओं एव बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन मे बाईस परिषहों के विषय म बताया गया है। जिसमे से कल 'अचेल परिषह' के विषय मे वर्णन किया गया था, और आज 'अरति-परिषह' के बारे में कहा जाएगा। यह सातवाँ परिषह है।

अरति का अर्थ है चिन्ता। इस चिन्ता को यानी अरति-परिषह' को जीतना बड़ा कठिन कार्य है और बिरले महापुरुष ही इस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जब तक मन में चिन्ता बनी रहती है, व्यक्ति से आत्म-सुख के लिये कुछ नहीं किया जा सकता। न वह धर्माराधन मे चित्त को एकाग्र कर सकता है और न ही त्याग तपस्या आदि मे सफल हो सकता है।

इसलिये भगवान महावीर ने फरमाया कि साधु को चिन्ता का सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा किसी भी परिस्थिति मे मन को डांवाडोल होने देना नही चाहिये। अगर मन मे किसी भी प्रकार से आर्त-ध्यान या अरति बनी रहेगी तो साधु अपने साधना-मार्ग पर निश्चित होकर कभी नहीं बढ़ सकेगा।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये गाथा इस प्रकार है —

गामानुगाम रीयत, अणगार अकिंचणं ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसह ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ २ गा० १८

अर्थात् ग्रामानुग्राम मे विचरण करते हुए साधु को यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जाय तो वह उस चिन्ता जन्य परिषह को समता पूर्वक सहन करे।

वस्तुत सच्चा साधु वही है जो 'अनगार' यानी 'आगार' रहित है। जिसके

यहाँ यह बताया गया है कि जिनकल्पी अवस्था में साधु वस्त्र रहित भी किसी समय हो जाता है तथा किसी समय स्थविरकल्पी अवस्था मे वस्त्र युक्त भी होता है। अत इन दोनो अवस्थाओ को अपनाकर इन दोनो ही धर्मों को हितकारक समझकर 'नाणी' ज्ञानी साधक कभी खेद न करे।

बधुओ, आपको यहाँ कुछ ध्यान देकर समझना है कि साधु की दो कोटियाँ मानी गई हैं। उनमे से प्रथम है जिनकल्पी और द्वितीय कहलाती है स्थविरकल्पी।

जिनकल्पी अवस्था मे साधु वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है तथा स्थविर कल्पी अवस्था मे वस्त्र धारण करता है। मुख्य बात यह है कि ये दोनों ही धर्म या आचार शास्त्रविहित हैं तथा दोनो ही अवस्थाओ मे आत्मा की पूर्ण हित साधना हो सकती है। दोनो ही स्थितियो मे साधु अपने सयम का पालन करता हुआ अन्य अनेक प्राणियो को धर्माराधन का सही मार्ग बता सकता है तथा उन्हे धर्म का सच्चा स्वरूप समझा कर आत्मोन्नति की ओर बढा सकता है।

इस कथन का आशय यही है कि साधु के वस्त्र सहित या वस्त्र रहित होने से कोई फर्क नही पडता, क्योकि उसकी महत्ता वस्त्रो से नही अपितु गुणो से तथा उत्तम भावनाओ से होती है। साधु के जीवन मे भाव-शुद्धि का महत्त्व ही होता है वस्त्रो के होने न होने का नही।

इसीलिये कहा गया है कि सचेलक अथवा अचेलक, दोनो ही दशाओ को धर्म-हितकारक मानकर साधु अपनी साधना को त्यागमय एव दृढ बनाता चले। वह वस्त्रादि के अभाव मे यह चिन्तन कभी न करे कि मुझे शीत का कष्ट होगा और उस अवस्था मे मैं कहाँ जाऊँगा? ऐसा चिन्तन करना दीनता और दुर्बलता का द्योतक है अत इनका सर्वथा त्याग करके साधु को शीतादि परिषहो को सहर्ष सहन करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। तभी उसे अचेलपरिषह पर विजय प्राप्त हो सकेगी तथा उसकी आत्मा अमरत्व की ओर अग्रसर होगी।

●●

२५ | चिन्ता को चित्त से हटाओ

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओं एव बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन मे बाईस परिषहो के विषय मे बताया गया है। जिसमे से कल 'अचेल परिषह' के विषय मे वर्णन किया गया था, और आज 'अरति-परिषह' के बारे मे कहा जाएगा। यह सातवाँ परिषह है।

अरति का अर्थ है चिन्ता। इस चिन्ता को यानी अरति-परिषह' को जीतना बडा कठिन कार्य है और विरले महापुरुष ही इस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जब तक मन मे चिन्ता बनी रहती है, व्यक्ति से आत्म-सुख के लिये कुछ नहीं किया जा सकता। न वह धर्माराधन मे चित्त को एकाग्र कर सकता है और न ही त्याग तपस्या आदि मे सफल हो सकता है।

इसलिये भगवान महावीर ने फरमाया कि साधु को चिन्ता का सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा किसी भी परिस्थिति मे मन को डावाडोल होने देना नही चाहिये। अगर मन मे किसी भी प्रकार से आर्त-ध्यान या अरति बनी रहेगी तो साधु अपने साधना-मार्ग पर निश्चित होकर कभी नही बढ सकेगा।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये गाथा इस प्रकार है —

गामानुगाम रीयत, अणगार अकिंचण।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, त तितिक्खे परीसह ॥

— उत्तराध्ययन सूत्र अ २ गा० १४

अर्थात् ग्रामानुग्राम मे विचरण करते हुए साधु को यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जाय तो वह उस चिन्ता रूप परिषह को समता पूर्वक सहन करे।

वस्तुत सच्चा साधु वही है जो 'अनगार' यानी 'आगार' रहित है। जिनके

पास धन, मकान, खेत, बाग-बगीचे आदि कुछ नही हैं, केवल वही हैं जो उसके पास और नाम मात्र का है। इन सबसे रहित होकर ही जो आनन्द और हलकापन महसूस करता है वही सच्चा साधु और फकीर कहलाता भी है।

महात्मा कबीर अपने आपको ऐसा ही फकीर मानते थे, और कहते थे—

मन लागो मेरो यार फकीरी मे।
जो सुख पावो नाम भजन मे सो सुख नाहि अमीरी मे।
भली बुरी सब की सुनि लीजे, कर गुजरान गरीबी मे।।
प्रेम नगर मे रहनि हमारी, भलि बनि आई सबूरी मे।

कबीर जी का कहना था—"अरे दोस्त! मेरा मन तो फकीरी मे लग गया है। इसमे जो आनन्द और उत्साह का अनुभव होता है, वह धनाढ्यता मे कतई नही है। फकीर को चाहिये ही क्या ? बस उसे प्रभु के नाम का स्मरण करना है तथा गरीबी में भी सुख से गुजारा करते हुए लोगो की अच्छी और बुरी बातो को गले से उतारते जाना है।

कवि ने कितनी सुन्दर बात कह दी है कि वही व्यक्ति जो औरो की गालियों और प्रशसा एक ही भाव से सुनता है तथा प्रशसा सुनकर खुश नहीं होता और निंदा सुनकर शोक नही करता, वह सच्चा फकीर कहलाता है। यद्यपि सासारिक प्राणियों के लिये ऐसा कर सकना बडा कठिन है। आप सेठों और साहूकारो को तो अगर कोई एक शब्द भी अप्रिय लगने वाला कह दिया जाय तो आप ऐसे उछल पडते हैं, जैसे सर्प पूँछ पर पैर पड जाने से उछलता है। किन्तु साधु के लिये यह बात नही है, वह कटु-शब्द और गालियो सुन लेना तो क्या, गर्दन काट दिये जाने पर भी कष्ट का अनुभव नही करता। उलटे कर्मों की निर्जरा या सचित कर्मों का भार उतरना मानता है।

आगे कहते हैं—'प्रेम नगर मे रहनि हमारी' अर्थात् सतो की दुनिया उनके इत तत ही सीमित होती है। वे प्रभु से प्रेम करते है और उसी प्रेम व भक्ति की दुनिया मे मस्त रहते हैं। उनका विचार यह होता है कि-'बडा अच्छा हुआ जो हमने ससार मे नाता तोड लिया और सासारिक पदार्थों पर से आसक्ति हटाकर सतोप को धारण कर लिया। इससे हमारा बहुत भला हुआ है, क्योंकि सभी प्रकार की चिंताओ का अन्त हो गया। अगर गृहस्थी के झमेले में रहते तो नित्य नई चिन्ताएँ परेशान करती रहती।'

आगे कहा है—

> हाथ मे कु डी बगला मे सोटा, चारो दिसि जागीरी मे ।
> आखिर यह तन खाक मिलेगा, कहा फिरत मगरूरी मे ।
> कहे कबीर सुनो भई साधो, साहिब मिले सबूरी मे ॥

कबीर जी बडी मजेदार बात कह रहे कि—'साहब, हमारे तो हाथ मे कु डा और बगल मे सोटा (लडकी) होनी चाहिये । फिर तो सारा ससार ही हमारी जागीरी मे आ जाता है । हम अपने आपको इस जहान का मालिक समझने लगते हैं । इस विषय को स्पष्ट करने वाला एक उदाहरण है—

चारो दिसि जागीरी मे

किसी राजा के गुरु का देहावसान हो गया अत राजा ने दूसरे गुरु की खोज करनी प्रारभ कर दी । उस खोज के प्रयत्न मे उन्होने अपने सम्पूर्ण राज्य मे मुनादी करवादी कि "जो भी विद्वान और त्यागी पडित अपने आपको राज गुरु पद के योग्य मानते हैं, वे अमुक दिन राज्य दरबार मे पधारें ।"

मुनादी के परिणाम स्वरूप निश्चित दिन पर अनेक ब्राह्मण पडित बडे ठाट-बाट से राज्य दरबार मे आए । राजा ने सभी का आदर सत्कार किया और उसके पश्चात् कहा—"मुझे आप लोगो मे से एक को राज-गुरु के पद पर प्रतिष्ठित करना है किन्तु उसके लिये केवल एक परीक्षा है, वह यह कि शहर के बाहर बडा विस्तृत और गीलो लम्बा चौडा मैदान है, वहाँ पर आप लोगो मे से जो भी विद्वान अधिक जमीन घेरकर सुन्दर आश्रम बना लेगा वही मेरा राजगुरु होगा ।" राजा ने आश्रम बनाने के लिये कुछ महीनो की अवधि भी निर्धारित कर दी ।

राजा की बात सुनते ही सभी पडित वहाँ से तुरन्त रवाना हो गये ताकि वे शीघ्रातिशीघ्र दिन-रात परिश्रम करके अधिक से अधिक जमीन घेर सके और आश्रम बना सके । पर उन सबके चले जाने के बाद राजा ने देखा कि एक फक्कड साधु जो केवल लगोटी ही लगाए हुए है, वही खडा है ।

राजा को कौतूहल हुआ उसके न जाने का और उसने साधु से पूछा—"बाबाजी, आप किसलिये यहाँ आए हैं ?

"वाह ! आपने ही तो राज-गुरु-पद के उम्मीदवारो को यहाँ बुलाया था ।" फकीर ने सहज भाव से उत्तर दे दिया ।

राजा मुस्कराते पर पुन बोले—"महाराज ! आपकी बात सत्य है पर मैंने

राज गुरु बनने वालो के लिये एक शर्त रखी है, वह आपने भी सुनी होगी। फिर आप उसे पूरी करने मे विलव क्यो कर रहे हैं ?

"जल्दी क्या है, वह भी पूरी हो जायगी।"

राजा को फकीर की बात सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ और उन्होने प्रश्न किया—"आप रहते कहाँ हैं ?"

"उधर मैदान मे ही मेरी झोंपडी है जहाँ पंडित लोग ज्यादा से ज्याद जमीन घेरकर आश्रम बनाएँगे।

यह कहकर फकीर धीरे-धीरे वहाँ से चल दिया।

जिसदिन राजा की दी हुइ अवधि समाप्त हुई, वे अपने दल-बल सहित निरीक्षण करने निकले कि किस उम्मीदवार ने सबसे विस्तृत और सुन्दर आश्रम बनाया है। उन्होने देखा कि लगभग सारा मैदान बडे-बडे आश्रमो से घिर गया है। और उन्हे बनाने वाले पडित आश्रमों के द्वार पर राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि शायद उनका आश्रम राजा को पसन्द आए और वे राज-गुरु बना दिये जाँय।

इधर राजा उन सभी आश्रमो को ध्यानपूर्वक देखते हुए घूम रहे थे कि उस दिन दरबार से सबसे पीछे जाने वाले फकीर पर अचानक ही उनकी दृष्टि पड गई। उन्होने देखा कि फकीर राख के एक बडे ढेर पर मस्ती से बैठा हुआ कुछ गुनगुना रहा है।

राजा बडे चकित हुए और फकीर के सामने पहुच कर बोले—"महाराज ! यह क्या ? आपने एक छोटा सा आश्रम भी नही बनाया इतने दिनो मे ?"

फकीर हँस पडा और कहने लगा—"राजन ! मैंने तो अपनी बनी हुई झोंपडी को ही फूँक दिया है। उसी के ढेर पर तो बैठा हूँ।"

"झोपडी को फूँक दिया ? ऐसा क्यो ? राजा ने आश्चर्य से पूछा।

"इसलिये कि मेरी झोपडी थोडी सी जगह मे थी और आश्रम बनाता तो भी वह जगह सीमित ही रहती। अत. अब झोपडी भी फूँक देने से सारा ससार मेरी जागीरी बन गया है। आप स्वय देख लीजिए कि चारों दिशाओ मे दूर-दूर तक क्या मैंने कोई सीमा बाँधी है ? इसलिये मेरा आश्रम तो जहाँ तक भी दृष्टि जाये वहाँ तक है।"

राजा फकीर की बात सुनकर स्तब्ध रह गए। उन्हें उस त्यागी और सम्पूर्ण संसार को अपना समझने वाले पर बडी श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसी क्षण उन्होंने चारों

दिशाओ को अपनी जागीर समझने वाले साधु को राज-गुरु का पद प्रदान कर देने का ऐलान कर दिया ।

तो बधुओ, कबीर ने भी यही कहा है कि मेरा मन ऐसी फकीरी को पाकर निश्चित हो गया है, जिसमे चारो दिशाओ की जागीरी मिल जाती है । अन्त मे वे ससार के प्राणियो को सीख देते कहते हैं—

"भाई ! ससार के इन नश्वर पदार्थो को इकटठा करके तुम क्या घमड करते हो ? इनका उपभोग करने वाला यह शरीर तो अन्त मे नष्ट होकर राख मे मिल जायगा । इसलिये थोडा चितन करो और यह भली भाँति समझ लो कि अगर परमात्मा को प्राप्त करना है तो सासारिक वस्तुओ पर से पूर्णतया आसक्ति त्याग दो और सतोष धारण करो । जब तुम्हे प्रत्येक प्रकार के अभाव मे भी सतोष रहेगा और तनिक भी चिन्ता किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये न रह जाएगी, तब ही उस परम पिता परमात्मा के नजदीक पहुच सकोगे ।"

हमारा विषय भी आज 'अरति' अर्थात् चिंता रहितता पर ही चल रहा है । भगवान ने भी साधु को आदेश दिया है कि वह गाँव-गाँव विचरण करते हुए किसी भी प्रकार की चिन्ता का हृदय में आविर्भाव न होने दे, और कदाचित कोई चिंता का कारण बन भी जाय तो उसी क्षण उस चिन्ताजनक कष्ट या परिषह पर विजय प्राप्त करे ।

अगली गाथा मे और भी जानने योग्य बात कही है—

अरइ पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणीचरे ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ २. गा. १५

अर्थात्-चिन्ता की ओर पृष्ठभाग करके, हिंसादि दोषो से रहित होकर, आत्मा का रक्षक और धर्म मे रमण करने वाला, आरम्भ से रहित और कषायो से विमुख होकर विवेकी मुनि सयम-मार्ग पर विचरे ।

आप सब भली भाँति जानते हैं कि चिन्ता मनुष्य को किस प्रकार विकल बना देती है और किये जाने वाले कार्यो को समीचीन रूप से सफल नहीं होने देती तो जब सासारिक कार्यों मे भी वह विघ्न डालती है तो फिर परलोक का साधन करने वाले धर्म की आराधना कब करने देगी ? अर्थात् नहीं करने देगी । इसलिये कहा है कि साधना के मार्ग पर बढने वाले साधु को चिन्ता की ओर से मुँह मोड लेना चाहिये तथा उसकी ओर पीठ करके हिंसा आदि पाँच प्रकार के सावद्य कार्यों का भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये भी धर्माराधन मे बाधक होते हैं । इस

सावद्य व्यापारो का जो साधु सर्वथा त्याग कर देता है, वही अपनी आत्मा को पतन से बचाने मे समर्थ हो सकता है। आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले आरम्भ-समारम्भ ही हैं अत इनसे बचने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इसके अलावा आत्मा को पतित करने वाले क्रोधादिक कषाय हैं। इनके वशीभूत होने वाला प्राणी कभी ही अपनी साधना में अग्रसर नही हो सकता। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारो कषाय एक-दूसरे का साथ देने वाले हैं। जहाँ इनमे से एक आया वहाँ क्रमशः चारो ही आ जाते है! परिणाम यह होता है कि व्यक्ति इन सब के फेर मे पडकर निविड कर्मों का बन्ध करता है, और चोरासी का चक्कर काटता रहता है। लोभ को तो सब पापो का मूल ही माना गया है। इसके कारण मनुष्य आसक्ति और ममता का बहाना लेकर पाप-मार्ग पर बढता है।

ससार के महापुरुष प्राणियो को सदा सावधान करते हैं और इनसे बचने की शिक्षा देते हैं। कवि सुन्दरदास जी ने भी अज्ञानी मानव को धिक्कारते हुए कहा है—

> वार वार कह्यो तोहि, सावधान क्यूं न होइ,
> ममता की ओट सिर काहे को धरत हैं ?
> मेरो धन मेरो धाम मेरे सुत मेरी वाम,
> मेरे पसु मेरे ग्राम भूल्यो ही फिरत है ॥
> तू तो भयो बावरो विकाय गई बुद्धि तेरी,
> ऐसो अधकूप गेह तामे तू परत है।
> सुन्दर कहत तोहि नेक हु न आवे लाज,
> काज को विगार के अकाज क्यो करत है ॥

कवि ने मानव की भर्त्सना करते हुए उसे कहा है—'अरे अज्ञानी जीव! मैंने तुझे नाना प्रकार से वार-बार समझाया है किन्तु अभी तक भी तू सावधान नहीं हुआ। मेरी पुन-पुन दी हुई चेतावनी को भूलकर ममता की ओट क्यो ले रहा है? तू दिन-रात बस, मेरा धन, मेरा मकान, मेरे पुत्र, मेरी पत्नी और मेरी जमीन-जायदाद है यह मानता हुआ भान भूले हुए हैं और गर्व से मतवाला बना घूम रहा है। पर क्या ये सब यथार्थ मे तेरे हैं? नही।"

'मुझे तो ऐसा लगता है कि तेरी मति-भ्रष्ट हो गई है और बुद्धि कौडियो के मोल बिक चुकी है। तभी तो मेरा-मेरा करता हुआ तू पतन के गहरे कुए मे गिरा जा रहा है।"

"अरे मूर्ख ! क्या तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आती जो कि इस अमूल्य मानव जीवन से धर्माराधन करके कर्म-नष्ट करने के बदले उलटे पापों की पोट सिर पर रख रहा है ? मैं कहता हूँ कि पूर्व जन्मों के असख्य पुण्यो के बल पर देवताओ को भी ललचाने वाला यह मनुष्य-जन्म तुझे प्राप्त हो गया है और आत्मोन्नति के सब साधन भी तुझे सुलभ हैं, फिर इन सबके द्वारा हो सकने वाले उत्तम कार्यो को बिगाडकर तू अकार्य क्यो करता है ?"

वस्तुत कवि का कथन यथार्थ है। मनुष्य लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर ही नाना कुकर्म करता है तथा आसक्ति के फेर मे पडकर विरक्ति और त्याग के महत्व को भूल जाता है। इस ससार मे तो ऐसे-ऐसे त्यागी महा-मानव हुए है कि वे धन, धरा और धाम ही क्या अपने भोजन को भी औरों को खिलाकर स्वय भूखे रहे हैं।

त्याग का महत्व

आपने राजा रन्तिदेव के बारे मे शायद कभी सुना होगा। वे अत्यन्त प्रजा-वत्सल थे। उनकी मान्यता थी कि जब तक प्रजा का पेट न भरे राजा को भरपेट खाने का अधिकार नही है।

दुर्भाग्यवश एक बार उनके राज्य मे बडा भयानक अकाल पडा। जब लोगो के पास खाने को कुछ न रहा तो उन्होंने अपने राज्यकोष और अन्नागार मे जो कुछ भी था, सब अपनी प्रजा मे बाँट दिया।

पर जब राज्य कोष और राज्य का अन्न-भडार खाली हो गया तो राजा को खाने के लिये भी कुछ न बचा। इस पर राजा को अपनी रानी एवम् पुत्र सहित राजधानी छोडनी पडी। क्योंकि राजमहल के ऊँचे-ऊँचे कगूरो को देखने से पेट नही भरता।

रन्तिदेव ने राजमहल छोड दिया किन्तु उन्हे खाने के लिए एक दाना भी अडतालीस दिन तक नही मिला। अकाल के कारण कुए और तालाब भी सूख गए थे।

भाग्य से उनचासवें दिन किसी व्यक्ति ने राजा को पहचान लिया और उसके पास कुछ भोजन सामग्री थी अत उसने थोडा सा घी, खीर, हलुवा और जल राजा के पास भेज दिया। राजा और रानी को प्रसन्नता हुई कि आज खाने को कुछ मिला। अपने दोनों बच्चो सहित वे लोग भोजन करने बैठ ही रहे थे कि एक ब्राह्मण अतिथि बनकर वहाँ आ गया।

राजा अतिथि को देखकर अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने सोचा कि सौभाग्य से आज इस विपत्ति के समय मे भी हम अतिथि को खिलाये बिना खाने के दोष से बच जाएँगे। ऐसा विचारते हुए उन्होंने अतिथि को सहर्ष भोजन कराकर विदा किया। किन्तु इतने मे ही एक शूद्र आ पहुचा। राजा ने उसे भी प्रेम से खाना खिलाया और उसके पश्चात् स्वय खाने की तैयारी की।

किन्तु अभी वे एक ग्रास भी नही खा सके थे कि एक भील अपने दो कुत्तो के साथ उधर आया और दूर से ही राजा को पुकारता हुआ बोला—

"महाराज ! मैं और मेरे कुत्ते भूखो मर रहे हैं। कृपा करके हमे भी कुछ खाने को दीजिये।"

रन्तिदेव ने जब आँख उठाकर उस भील और उसके कुत्तो को भूख से तड-पते देखा तो बचा हुआ सब खाना बडे प्रेम से उन्हे दे दिया। फलस्वरूप भील और दोनों कुत्ते तृप्त होकर चले गये।

अब रन्तिदेव के पास अन्न का एक कण भी नही बचा था। केवल कुछ पानी था। उसी से उन्होने अपना कठ गीला करने के विचार से पात्र हाथ मे लिया। किन्तु उसी समय एक करुण आवाज उनके कानो मे टकराई—

"मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी चाहिये।"

राजा ने देखा एक चाडाल वहाँ खडा था और पानी माँग रहा था। चाडाल को देखकर राजा के चेहरे पर पुन हर्ष बिखर गया और उन्होने अपना पानी का पात्र उसकी ओर बढ़ाया। पर यह क्या ? पलक झपकते ही उन्हें दिखाई दिया कि जिन्हे जल की आवश्यकता ही नही है वे ही विभिन्न वेषो मे अतिथि बनकर आने वाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव और धर्मराज अपने रूपो मे प्रत्यक्ष उनके सामने खडे हैं। राजा रन्तिदेव हर्ष-विह्वल होकर उनके चरणो मे लोट गये।

बधुओ, वैष्णव धर्मग्रन्थो की यह एक कथा है। पर इससे हमे त्याग की महत्ता का अनुमान होता है। आवश्यकता से अधिक होने वाला धन-वैभव तो फिर भी व्यक्ति त्याग सकता है किन्तु जिस सामने आए हुए अन्न और जल के अभाव मे जीवन जा रहा हो उसे भी सहर्ष औरो को प्रदान कर देने वाले महा-मानव विरले ही होते हैं। किन्तु ऐसे त्याग का फल ही महत्त्वपूर्ण होता है।

राजा रन्तिदेव ने यह परवाह नही की कि अडतालीस दिन से वे, उनकी पत्नी और बच्चे भूखे हैं, यह भी चिन्ता नही की कि इस उनचासवें दिन मिला हुआ

यह अन्न-जल औरो को दे देने पर हमे भूखों मरना पडेगा। इस प्रकार चिन्ता का त्याग करने पर ही उन्हे भगवान के दर्शन हुए और यही हमारे शास्त्र कहते हैं कि 'अरति परिपह' को जीतने से साधक आत्मा के अधिक निकट पहुँचता है। दूसरे शब्दो मे आत्म रूप का दर्शन कर सकता है।

इसलिये आवश्यक है कि साधु चिन्ता का सर्वथा त्याग करे और श्रावक भी यथाशक्य ससार के समस्त पदार्थों और सासारिक सबधियो की ओर से अहर्निश बनी रहने वाली चिन्ताओ से अपने आपको अधिकाधिक मुक्त करे। यही 'अरति-परिपह' पर विजय प्राप्त करना होगा तथा आत्मोत्थान मे सहायक बनेगा।

२६ प्रबल प्रलोभन

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

भगवान महावीर ने सवर के सत्तावन भेद बताए हैं, उनमे से पन्द्रह भेदों का वर्णन किया जा चुका है। कल के प्रवचन मे कहा गया था कि साधना करते हुए कभी-कभी प्रासगिक चिंता हो जाती है, किन्तु मुनि उसे भी अपने हृदय मे स्थान न दे तथा अपनी आत्मा का समस्त विकारों और कषायो से रक्षण करता हुआ पाप क्रियाओ से निवृत्त होकर धर्म-रूपी उद्यान मे विचरण करे जहाँ आरभ समारभ नहीं है और अशाति का कोई कारण नही है।

आज संवर के सोलहवें भेद यानी आठवें परिषह का विवेचन किया जाएगा। इस परिषह का नाम 'स्त्री परिषह' है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि साधना मे लगे हुए पुरुष के लिए स्त्री जाति से बचना चाहिये और साधना-रत स्त्री जाति को पुरुषो से दूर रहना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में 'स्त्री-परिषह' के विषय मे गाथा कही गई है—

सङ्गो एस मणुस्साण, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकड तस्स सामण्ण ॥

—अध्ययन २० गा० १६

अर्थात्—लोक मे पुरुषों का स्त्रियो के साथ जो ससर्ग है उस स्त्री ससर्ग को जिस सयमी पुरुष ने ज्ञानपूर्वक परित्याग कर दिया है उसकी साधुता सफल है।

इस संसार मे चारो ओर प्रलोभन की असंख्य वस्तुएँ बिखरी हुई हैं। इनसे आकर्षित होकर व्यक्ति नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं और भाँति-भाँति की विडम्बनाओ में फँस जाते हैं। धन एकत्रित करने के लिये लोग नाना प्रकार की बेईमानियाँ करते हैं और परिवार की ममता के वश होकर भी अनेक प्रकार के कुकर्म कर डालते हैं। कभी-कभी तो हम यहाँ तक सुनते हैं और अखबारो मे भी पढते हैं कि सन्तान के जीवित न रहने पर लोग औरो के बच्चो को चुराकर किसी देवी-देवता के समक्ष बलिदान कर देते हैं। नर-बलि के समान भयंकर पाप और क्या हो सकता है ?

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति धन, परिवार तथा यश-कीर्ति के प्रलोभन मे आकर नाना प्रकार के अकार्य करता है। किन्तु इन सबसे बडा और जबदस्त प्रलोभन संसार मे एक और है। वह है—काम विकार। काम का प्रलोभन इतना प्रबल है कि उससे व्यक्ति का बचना बडा कठिन होता है। साथ ही यह विकार इतना व्यापक भी है कि जगत के सम्पूर्ण जीव इसके चंगुल मे पडे रहते है, और इसके फेर मे आकर अपनी बुद्धि, विवेक एवं ज्ञान, सभी को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं।

एक छप्पय छंद मे कहा गया है—

> भीख-अन्न इक बार लौन बिन खाय रहत है।
> फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष की छाँह गहत है॥
> घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।
> राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत॥
>
> इहि भाँति रहत चाहत न कछु, तऊ विषय बाधा करत।
> हरि हाय तेरी सरन, आय पर्यो इनसे डरत॥

कहते हैं कि भिक्षुक दिन मे एक बार ही भीख माँगकर अन्न लाता है और वह भी रूखा सूखा नमक रहित, उसे ही खाकर रह जाता है। उसे नरम शैय्या और रूई के मोटे-मोटे गद्दे या रजाई ओढने बिछाने को नसीब नहीं होते। माँग-मूँगकर लाई हुई फटी गुदडी ओढकर किसी वृक्ष-तले सोता और बैठता है तथा गुदडी भी न मिले तो पेड़ो के पत्ते या घास आदि बिछाकर पडा रहता है।

उसका कोई स्वजन, सबंधी मित्र या अपना कहने वाला भी नहीं होता, परिवार के नाम पर केवल उसका शरीर ही अपना होता है और उसी के भार को वह किसी तरह ढोता रहता है। किन्तु कवि कहता है कि ऐसे व्यक्ति को भी काम

विपयो की इच्छा नही छोडती । अत हे प्रभो ! इन भोगेच्छाओ से डरता हुआ मैं आपकी शरण मे आया हूँ ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति दूध घी, मिष्टान्न तथा विकारो को वढाने वाले अन्य पौष्टिक पदार्थ नही खाते तथा घास फूस पर सोकर रातें गुजारते हैं, उन्हे भी जब काम-विकार नही छोडते तो फिर ऐश्वर्य व सुख के प्रचुर साधनो के बीच मे रहने वालो की तो बात ही क्या है ?

तपस्वी विश्वामित्र जो वर्षों तपस्या करते रहे थे, अप्सरा मेनका के रूप पर मुग्ध होकर विपयो के शिकार बन गये । पेडो के पत्ते और जल पर जीवन टिकाने वाले पराशर ऋषि, जिन्होने दिन को रात और नदी को रेत मे परिणत कर दिया था वे भी काम को वश मे नही कर सके । इतना ही नही, बडे बडे देवता भी काम को वश मे नही कर सके और स्वय उनसे हार गये ।

आत्म-पुराण मे लिखा है—

कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरि. ।
कामेन विजितः शम्भु , शक्रः कामेन निर्जित ॥

यानी कामदेव ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र को भी जीत लिया । इसीलिए सभी धर्म ग्रन्थ उन साधको को जो ससार से मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं, स्त्रियो के ससर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री का दर्शन करना भी मुमुक्षु के लिये उचित नही है । कहा है—

समाषयेत् स्त्रिय नैव पूर्वदृष्टाश्च न स्मरेत् ।
कथा च वर्जयेत्तासां, नो पश्येल्लिखितामपि ॥

श्लोक मे कहा गया है—न तो स्त्री के साथ बात करनी चाहिये, न पहले देखी स्त्री को याद करना चाहिये और न ही उसकी चर्चा करनी चाहिये । यहाँ तक कि उसका तो चित्र भी कभी नही देखना चाहिये ।

कहा जाता है कि एक तपस्वी जीवन भर तपस्या करते-करते वृद्ध हो गया । वह पूर्ण जितेन्द्रिय माना जाता था, और एक मदिर मे अकेला ही रहता था ।

सयोगवश एक बार एक सुन्दर युवती उधर से गुजरी । तपस्वी की दृष्टि उस पर पड गई और वह मोहित होकर उसके पीछे चल दिया । स्त्री अपने घर पहुँची तब भी दरवाजे पर खडा हुआ तपस्वीं उससे अपनी इच्छापूर्ति के लिये प्रार्थना करने लगा ।

चाहा। ज्योंही उसने जोर से दरवाजा बन्द करने का प्रयत्न किया, तपस्वी ने अन्दर घुसने के लिये अपना सिर अन्दर कर लिया। परिणाम यह हुआ कि मोटे और भारी किवाडो के बीच मे आकर ऋषि का सिर फट गया और उसी क्षण तपस्वी की मृत्यु हो गई। ऐसे-ऐसे उदाहरणो से ज्ञात होता है कि जीवन भर तपस्या करने वाले वृद्ध और जितेन्द्रिय पुरुष भी जब स्त्रियो को देखकर विकार-ग्रस्त हो जाते हैं तब औरो का तो कहना ही क्या है!

आपदाओ का मूल

सयमी साधक स्त्री को अनेक आपदाओ का मूल मानते हैं। प्राचीन इतिहास को देखने पर पता चलता है कि स्त्रियो के कारण अनेक अनर्थ घटते रहे हैं।

स्त्री के कारण ही महाभारत हुआ। राजा बालि भी स्त्री के कारण मारा गया। रावण का सर्वनाश हुआ और नहुप को स्वर्ग से गिरना पडा। शिशुपाल का सिर स्त्री के कारण ही काटा गया और नूरजहाँ के कारण शेरे-अफगान को मरना पडा।

स्पष्ट है कि स्त्री अनेक अनर्थों का कारण बनती है इसलिये भगवान साधक को उनके ससर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं। इस विषय मे दूसरी गाथा इस प्रकार है—

एवमादाय मेहावी, पङ्कभूयाओ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहम्मेज्जा चरेज्जऽत्तगवेसए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ २ गा. १७

अर्थात् मेधावी पुरुष स्त्रियो को कीचड के समान मानकर उनके द्वारा अपने आपको हनन न करे, अपितु आत्मगवेषी बनकर दृढतापूर्वक अपने सयम-मार्ग मे ही विचरण करे।

दृढतापूर्वक साधना पथ पर चलने के लिये साधु को स्त्रियो से दूर रहना तथा साध्वियो को पुरुषो के ससर्ग से बचना चाहिये। क्योंकि ससर्ग मे रहने से विचारो के विकृत होने का भय रहता है। भगवान ने साधु-साध्वियो के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन का आदेश दिया है और इसके लिये नौ उपाय भी बताए हैं। इन उपायो को शास्त्र की भाषा मे 'बाड' कहा गया है। बाड कहते हैं, रोकने वाले को। लोग अपने बाग-बगीचो और खेतो के चारो ओर बाडे लगाते हैं ताकि कोई पशु या चोर व्यक्ति उनके अन्दर घुसकर पेड-पौधो और फसलो को हानि न पहुँचा सके। काँटो की बाड होने से ऐसे प्राणी अन्दर आने से रोक दिये जाते हैं।

विपयो की इन्छा नही छोडती । अत· हे प्रभो । इन भोगेच्छाओ से डरता हुआ मैं आपकी शरण मे आया हूँ ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति दूध घी, मिष्टान्न तथा विकारो को वढाने वाले अन्य पौष्टिक पदार्थ नही खाते तथा घास फूस पर सोकर रातें गुजारते हैं, उन्हे भी जव काम-विकार नही छोडते तो फिर ऐश्वर्य व सुख के प्रचुर साधनो के वीच मे रहने वालो की तो वात ही क्या है ?

तपस्वी विश्वामित्र जो वर्षों तपस्या करते रहे थे, अप्सरा मेनका के रूप पर मुग्ध होकर विपयों के शिकार वन गये । पेडो के पत्ते और जल पर जीवन टिकाने वाले पराशर ऋषि, जिन्होने दिन को रात और नदी को रेत मे परिणत कर दिया था वे भी काम को वश मे नही कर सके । इतना ही नही, वडे वडे देवता भी काम को वश मे नही कर सके और स्वय उनसे हार गये ।

आत्म-पुराण मे लिखा है—

कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरि ।
कामेन विजितः शम्भु, शक्र. कामेन निर्जित ॥

यानी कामदेव ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र को भी जीत लिया । इसी-लिए सभी धर्म ग्रन्थ उन साधको को जो ससार से मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं, स्त्रियो के ससर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री का दर्शन करना भी मुमुक्षु के लिये उचित नही है । कहा है—

समाषयेत् स्त्रिय नैव पूर्वदृष्टाश्च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां, नो पश्येल्लिखितामपि ॥

श्लोक मे कहा गया है—न तो स्त्री के साथ वात करनी चाहिये, न पहले देखी स्त्री को याद करना चाहिये और न ही उसकी चर्चा करनी चाहिये । यहाँ तक कि उसका तो चित्र भी कमी नहीं देखना चाहिये ।

कहा जाता है कि एक तपस्वी जीवन भर तपस्या करते-करते वृद्ध हो गया । वह पूर्ण जितेन्द्रिय माना जाता था, और एक मदिर मे अकेला ही रहता था ।

सयोगवश एक वार एक सुन्दर युवती उधर से गुजरी । तपस्वी की दृष्टि उस पर पड़ गई और वह मोहित होकर उसके पीछे चल दिया । स्त्री अपने घर पहुँची तव भी दरवाजे पर खडा हुआ तपस्वी उससे अपनी इच्छापूर्ति के लिये प्रार्थना करने लगा ।

स्त्री को तपस्वी पर वडा क्रोध आया और उसने दरवाजा बन्द करना

चाहा। ज्योही उसने जोर से दरवाजा बन्द करने का प्रयत्न किया, तपस्वी ने अन्दर घुसने के लिये अपना सिर अन्दर कर लिया। परिणाम यह हुआ कि मोटे और भारी किवाडो के बीच मे आकर ऋषि का सिर फट गया और उसी क्षण तपस्वी की मृत्यु हो गई। ऐसे-ऐसे उदाहरणो से ज्ञात होता है कि जीवन भर तपस्या करने वाले वृद्ध और जितेन्द्रिय पुरुष भी जब स्त्रियो को देखकर विकार-ग्रस्त हो जाते हैं तब औरो का तो कहना ही क्या है !

आपदाओं का मूल

सयमी साधक स्त्री को अनेक आपदाओ का मूल मानते हैं। प्राचीन इतिहास को देखने पर पता चलता है कि स्त्रियो के कारण अनेक अनर्थ घटते रहे हैं।

स्त्री के कारण ही महाभारत हुआ। राजा बालि भी स्त्री के कारण मारा गया। रावण का सर्वनाश हुआ और नहुष को स्वर्ग से गिरना पडा। शिशुपाल का सिर स्त्री के कारण ही काटा गया और नूरजहाँ के कारण शेरे-अफगान को मरना पडा।

स्पष्ट है कि स्त्री अनेक अनर्थों का कारण बनती है इसलिये भगवान साधक को उनके ससर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं। इस विषय मे दूसरी गाथा इस प्रकार है—

> एवमादाय मेहावी, पङ्कभूयाओ इत्थिओ।
> नो ताहि विणिहन्नेज्जा चरेज्जऽत्तगवेसए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र. अ २ गा. १७

अर्थात् मेधावी पुरुष स्त्रियो को कीचड के समान मानकर उनके द्वारा अपने आपको हनन न करे, अपितु आत्मगवेषी बनकर दृढतापूर्वक अपने सयम-मार्ग मे ही विचरण करे।

दृढतापूर्वक साधना पथ पर चलने के लिये साधु को स्त्रियो से दूर रहना तथा साध्वियो को पुरुषो के ससर्ग से बचना चाहिये। क्योंकि ससर्ग मे रहने से विचारो के विकृत होने का भय रहता है। भगवान ने साधु-साध्वियो के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन का आदेश दिया है और इसके लिये नौ उपाय भी बताए हैं। इन उपायो को शास्त्र की भाषा मे 'बाड' कहा गया है। बाड कहते हैं, रोकने वाले को। लोग अपने बाग-बगीचो और खेतो के चारो ओर बाड़े लगाते हैं ताकि कोई पशु या चोर व्यक्ति उनके अन्दर घुसकर पेड-पौधों और फलो को हानि न पहुचा सके। काँटो की बाड होने से ऐसे प्राणी अन्दर आने से रोक दिय जाते हैं।

ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है और इसलिये उसकी रक्षा के निमित्त नौ बाडें मानी गई हैं, जिनका पालन करने से शीलव्रत की सुरक्षा हो सकती है। आप सोचेंगे, शील की रक्षा के लिये नौ बाडो की क्या आवश्यकता है ? क्या एक दो से उसकी रक्षा नही हो सकती ?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि इस ससार में जो वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान मानी जाती है, उसकी सुरक्षा के लिये उतना ही अधिक प्रयत्न किया जाता है।

आप लोग अपने घर मे वस्त्र या बर्तन-भाडे बाहर का एक ताला लगाकर भी छोड देते हैं, किन्तु सोने, चादी, हीरे, पन्नो के आभूषणो को इस प्रकार नही रखते। उन्हे तो हवेली के सब कमरो से अन्दर वाले कमरे मे या और भी नीचे तहखाने मे तथा ऊपर से तिजोरी मे बन्द करके रखते हैं। अब बताइये ? आपके बहुमूल्य रत्नों को कितने कमरे पार करके और फिर तिजोरी खोलकर निकाला जायगा। क्या कभी तिजोरी को आप अपने घर के बाहर वाले बरामदे मे रखते हैं ? नही, क्यो नही रखते ? एक बडा मजबूत ताला तो उसमे लगा हुआ ही होता है। वह एक ताला क्या आभूषणो की रक्षा के लिये काफी नही होता ? फिर क्यो एक के बाद एक इस प्रकार कई कमरो के अन्दर उसे ले जाकर रखते हैं ? इसलिये ही तो कि उसमे बहुमूल्य वस्तुएँ रहती हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य को भी सर्वाधिक मूल्यवान माना गया है अत उसके लिये नौ बाडें अथवा उसकी रक्षा के लिये नौ उपाय बताए गए हैं। उन्हे भी मैं सक्षिप्त मे आपको बताये दे रहा हूँ।

(१) पहला उपाय या पहली बाड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक के लिये यह हैं कि जहाँ पर स्त्री अकेली रहती हो, नपुसक रहता हो या पशु बाँधे जाते हो वहाँ पर साधु कभी न ठहरे। इनके समीप रहने से चित्त मे चचलता बढती है, और विकार जागृत होते हैं। कहा भी है —

> विलीयते घृत यद्वदग्ने ससर्गतस्तथा ।
> नारी ससर्गत पुसो, धैर्य नश्यति सर्वथा ॥

जिस प्रकार अग्नि के सपर्क से घी पिघल जाता है, उसी प्रकार स्त्री के सपर्क से पुरुष का धैर्य नष्ट हो जाता है।

(२) दूसरी बाड यह है कि साधु स्त्री सबधी कथा-वार्ता न करे। नारी सम्बन्धी कथाएं पढने मे और उनसे सम्बन्धित वार्तालाप करने से भी चित्त अस्थिर हो जाता है। हम देखते हैं कि जहाँ चार व्यक्ति किसी विषय को लेकर बातें प्रारम्भ

करते हैं तो बाल की खाल निकाल डालते हैं। इसी प्रकार जब स्त्रियो से सम्बन्धित वार्तालाप प्रारम्भ होगा तो भारत की तो क्या अन्य देशो की स्त्रियो के भी रूप-रग, कद, वेष-भूषा, चाल-चलन तथा खान-पान आदि सभी के बारे मे बातें चल पड़ेंगी। स्पष्ट है कि साधक को उससे क्या लेना है ? वह नारियो से सम्बन्धित बातें पढने और बोलने के प्रपच मे पडे ही क्यो ?

(३) अब तीसरी बाड बताई है कि स्त्री,पुरुष के आसन पर और पुरुष स्त्री, के आसन पर न बैठे। इसके अलावा जहाँ स्त्रियाँ बैठी हो वहाँ साधु दो घटो से पहले न बैठे और जहाँ पुरुष बैठे हो वहाँ साध्वियां दो घटे से पहले न बैठें।

(४) चौथी बात यह है कि साधक कभी स्त्री के अगोपागो को निरखे नही। वह कभी यह विचार न करे कि अमुक स्त्री का मुँह, हाथ या पैर आदि अग सुन्दर और सुडौल हैं। यहाँ तक कि स्त्री के चित्र को भी वह इस दृष्टि से न देखे।

महात्मा कबीर ने कहा भी है—

नारी निरख न देखिये, निरखि न कीजे दौर ।
देखत ही तें विष चढ़े, मन आवे कछु और ॥
सब सोने की सुन्दरी, आवे बास-सुवास ।
जो जननी हो आपनी, तो हु न बैठे पास ॥

कबीर जी का कहना है कि नारी का सपर्क महान् पापो का भागी बनाता है अत मुक्ति के अभिलाषी को चाहिये कि वह नारी की ओर दृष्टिपात न करे। क्योकि उसे देखने पर भी मन मे विषय-विकारो का जागृत होना सम्भव है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि साधको को अपनी माता के समीप भी नही बैठना चाहिये। माँ के समीप बैठने पर और उसके शरीर को देखने पर उन्हे अन्य नारी के ससर्ग की इच्छा हो सकती है।

(५) अब पाँचवी बाड के विषय मे बताते हैं। इस विषय मे साधु को चेतावनी दी गई है कि वह ऐसे स्थान पर न रहे जहाँ रोशनदान तथा खिडकी आदि वाली दीवार हो या दीवार के स्थान पर घास-फूस या चटाई की आड की गई हो और उसके दूसरी तरफ कोई परिवार रहता हो।

ऐसी दीवार या आड का निषेध इसलिये किया गया है कि उसके दूसरी तरफ सासारिक बातें होगी और उनकी आवाज साधक के कानो तक पहुँचेगी। दुनियादारी की और विकार बढाने वाली बातें अगर साधु सुनेगा तो उसकी साधना मे बाधा आएगी और मन विकारग्रस्त हो जाएगा।

(६) छठी वाड साधु के लिये यह बताई गई है कि वह पूर्वकृत काम-भोगो का स्मरण न करे। आप जानते हैं कि सभी सत वाल ब्रह्मचारी नही होते। अनेक साधु साल दो साल, पाच-दस साल या इससे भी अधिक वर्ष तक गृहस्थ रहकर फिर साधु वनते हैं। उनके लिये ही कहा है कि वे पूर्व मे भोगे हुए ऐशोआराम का चिन्तन-स्मरण न करें। पत्नी के सहवास के प्रसगो को भी याद न करें। क्योकि भोगो का स्मरण करने से भी मन उन्हे पुनः भोगने की इच्छा कर सकता है।

(७) अव सातवी वाड आती है। इसे समझाने के लिये कहते हैं—साधु सरस आहार न करे। प्रतिदिन सरस आहार करने से विकारो को प्रोत्साहन मिलता है। आपने सुना ही होगा—

जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन ।
जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी ॥

इस लोकोक्ति मे मे हमे यही जान लेना है कि मनुष्य जैसा भोजन करेगा, वैसा ही उसका मन वन जाएगा। अनेक व्यक्ति मास, मदिरा तथा अण्डे आदि खाते हैं। ऐसे तामसिक भोजन को ग्रहण करने वाले कभी भी अपने विचार शुद्ध नही रख सकते तथा उनके जीवन मे कभी आत्म-कल्याण की भावनाएँ और ससार से विरक्त होने की इच्छाएँ जागृत नही होती। अत साधु को तो रूखा-सूखा और सात्विक आहार ही करना चाहिये। ऐसे आहार से विकारो को प्रोत्साहन नही मिलेगा तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा होगी।

(८) अव आठवी वाड के विषय मे जानना है। अभी-अभी मैंने वताया है कि जो साधु सातवी वाड का ध्यान रखता हुआ सरस आहार नही करता उसे यह भी जानना चाहिये कि रूखा-सूखा और नीरस आहार भी ठूँस-ठूँस कर भूख से ज्यादा नही खाना चाहिये।

कम खाने से प्रथम तो स्वास्थ्य ठीक रहता है, पेट खराव नही होता और दूसरे आलस्य शरीर को निष्क्रिय नही बनाता। आप सभी को अनुभव होगा कि जव भी खाना भूख से अधिक खाया जाता है तो फिर आलस्य आता है और सो जाने की इच्छा होती है। घटो आप सोये भी रहते हैं। किंतु साधु अगर प्रमाद मे पडकर घटो सोया पडा रहे तो उसकी साधना मे वाधा आएगी या नहीं? अवश्य आएगी। इसलिये उसे कभी अधिक आहार नही लेना चाहिये, साथ ही यथाशक्य एकासन, उपवास, आयविल आदि करने चाहिये जिससे इन्द्रिय निग्रह हो सके।

हकीम लुकमान कह गए हैं—

कम खाओ, गम खाओ और नम जाओ।

तीनो बातें गागर मे सागर के समान हैं। अगर व्यक्ति इन्हें ग्रहण करले तो उसे ससार मे कोई कष्ट ही महसूस न हो।

शरीर को स्वस्थ और मन को शात रखने के लिये व्यक्ति को कम खाना चाहिये। और जब कलह की सभावना दिखे तथा सामने वाला व्यक्ति अत्यधिक आवेश मे आजाय तो उसे भान भूला हुआ मानकर स्वय ही गम खा लेना चाहिये अर्थात् शात और चुप हो जाना चाहिये, इससे कभी झगडा बढेगा नहीं। आखिर एक ही व्यक्ति कब तक बोलता रहेगा ? तीसरी बात है नम जाना चाहिये। यह भी यथार्थ है। सदा अहकार से गर्दन उठाए घूमने पर लोग अच्छा नही कहेंगे। थोडा सा धन इकट्ठा करके भी लोग गर्व से फूल जाते हैं। इससे उनकी कोई तारीफ नही करता। धनाढ्य व्यक्तियो को तो और भी सरल एव नम्रता का व्यवहार सबसे करना चाहिये। आप जानते ही हैं कि आम पकने पर आम्र वृक्ष कितना झुक जाता है। यह उसकी नम्रता है। इसी प्रकार अगर धनी व्यक्ति धन के नशे मे चूर न होकर यह समझ ले कि यह धन तो आज है कल नही, तो उसे गर्व करने की जरूरत ही न रहे। इसके अलावा वह यह भी जान ले कि अगर यह धन बना भी रहा तो क्या ? एक दिन इसे छोड कर मुझे जाना पडेगा।

कवि वाजिद ने भी कहा है—

> मदिर माल विलास खजाना मेडियाँ।
> राज भोग सुख साज औ चचल चेडिया॥
> रहता पास खवास हमेशा हुजूर मे।
> ऐसे लाख असख्य गये मिल धूर में॥

तो बधुओ, कवि कहता है कि जिनके पास बडे-बडे महल, खजाने और मेडियाँ थी तथा विशाल राज्य-भोग और सैकडो चचल चेडिया यानी दासिया सेवा-टहल करने के लिये रहती थी। इतना ही नही हर वक्त एक खवास ही उनके समीप हाथ-पैर आदि दबाने के लिये रहा करता था, ऐसे-ऐसे असख्य व्यक्ति भी जब धूल मे मिल गए तो हमारे पास घमण्ड करने के लिये है ही क्या ? अत चाहे पास में कितना ही ऐश्वर्य क्यो न हो जाय व्यक्ति को सदा नम्र बना रहना चाहिये। ऐसा करने पर ही वह जगत मे यश प्राप्त करता है।

(९) अब अतिम या नवीं बाड आती है। इसमे कहा गया है कि अगर साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना है तो वह शरीर की शोभा बढाने का प्रयत्न न करे। हमारे बुजुग सतों का तो यह कथन रहा है कि अगर चोलपट्टा नया हो तो चादर पुरानी ओढो। दोनो चीजें नई होना साधुता के लिये ठीक नही है। इसी

प्रकार कपडे धोना ही नही, यह बात नही है किन्तु एकदम झकाझक ही सदा रहे यह भावना भी नही होनी चाहिये।

तो ये नौ बाडें या नौ बातें साधु को सदा ध्यान मे रखनी चाहिये, जिससे प्रथम तो उसके आचरण मे कही दोष न लगे और दूसरे मन विषय-वासनाओ की ओर न जाय। जो साधु इनका भली-भांति ध्यान रखता है वह अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है। स्त्री परिषह साधारण नहीं है, इसे जीतने के लिये साधक को पूर्ण दृढतापूर्वक अपने साधना-मार्ग पर बढना चाहिये।

विपय-भोगों से प्राप्त होने वाला सुख कैसा है, इस विषय मे कहा गया है—

> भ्रम के वश मे फस कूकर ज्यो,
> रस के हित अस्थि चबावत है।
> निज शोणित चाखत मोद भरो
> पर नेक विवेक न लावत है॥
>
> नरहू वनिता तन सेवन ते,
> तनिको न कबहु सुख पावत है।
> निज देह परिश्रम के मिसते,
> सुख की शठ भावना भावत है॥

पद्य मे बताया गया है कि अज्ञान वश कुत्ता हड्डी को मुंह मे डालकर चबाता है। हड्डी उसके तालु मे चुभ जाती है और वहाँ से खून निकलने लगता है। उस अपने ही खून को भ्रम के कारण कुत्ता हड्डी मे से निकला हुआ खून समझता है और उसे बहुत स्वादिष्ट मानता हुआ पीता जाता है। उसे यह भान भी नही होता कि मैं जिस खून को पी रहा हूँ वह हड्डी मे से निकला हुआ नहीं है, वरन मेरा ही है और इस प्रकार मेरा ही नुकसान हो रहा है।

ठीक इसी प्रकार कामग्रस्त और स्त्री का सेवन करने वाले व्यक्ति की भी दशा होती है। वह भी नारी के ससर्ग से यह मानता है कि मैं सुख की प्राप्ति कर रहा हूँ। किन्तु विवेक के अभाव मे वह यह नही सोचता कि जिसे मैं सुख मान रहा हूँ, वह मेरे ही शरीर को शक्तिहीन करने जा रहा है।

मेरे कहने का आशय यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक है। हम साधुओ के लिये तो अब्रह्मचर्य का सर्वथा निषेध है ही, किंतु

आप श्रावको के लिये भी स्वदार-सतोष की मर्यादा है। और उसमे भी अधिक से अधिक दिन एव मुख्य तिथियो को तो नियम रखना ही चाहिये।

अनेक श्रावक आज ही ऐसे हैं जो सपत्नीक होते हुए भी तीस, पैंतीस और चालीस की उम्र से पहले ही पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम ले चुके हैं। मैं उन्हे धन्यवाद का पात्र मानता हू कि घर मे पत्नी के साथ रहते हुए भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

तो हमारा आज का विषय 'स्त्री परिषह' पर चला है और इसमे बताया है कि साधु स्त्री के ससर्ग से हमेशा दूर रहे और अभी बताए हुए नौ उपायों को सदा ध्यान मे रखता हुआ अपने मन को कभी भी विकारग्रस्त न होने दे। ऐसा करने पर ही वह पूर्ण शाति एव सयम पूर्वक सवर के मार्ग पर चल सकता है तथा अपने आत्म-कल्याण के उद्देश्य को सफल बना सकता है।

●

२७ तीन लोक की सम्पदा रही शील में आन

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने बाईस परिषहो मे से आठवें परिषह 'स्त्री परिषह' के विषय मे विचार-विमर्श किया था। इस विषय मे बताया गया था कि साधु को स्त्री जाति से बचना चाहिए। जहाँ तक भी सभव हो उसे स्त्रियो के सम्पर्क, उनके दर्शन, उनसे वार्तालाप और उनके सम्बन्ध में पठन-पाठन सभी से परे रहना चाहिये। तभी वह दृढतापूर्वक अपने साधना-मार्ग पर बढ सकेगा और विषय-विकार उसके मन मे उत्पन्न होकर बाधक नहीं बनेंगे।

आप भी ध्यान दें।

ये सब बातें साधु के लिये और साधना करने वाली सम्पूर्ण पुरुष जाति के लिये भी हैं। आप लोग यह न समझ लें कि साधु को ही इनका पालन करना आवश्यक है। आप श्रावक हैं, जैन हैं और इस ससार की असारता को समझते हैं। आप संतो के द्वारा यह भी सुनते आ रहे हैं कि प्रत्येक जीव कर्मों से बधा हुआ इस ससार मे भ्रमण कर रहा है और उसका कल्याण ससार से मुक्त होने मे ही है। इस प्रकार हमारी और आपकी, सभी आत्माएँ इस ससार मे अनन्त काल से जन्म और मरण के दुख भोगती चली आ रही हैं तथा इन्हें कर्मों से मुक्त करके अनन्त सुख की प्राप्ति कराना हमारा और आपका भी कर्तव्य तथा मुख्य उद्देश्य है।

इस प्रकार आप भी इसी मार्ग के पथिक हैं जिस पर हम चल रहे हैं। यह ठीक है कि आपकी गति धीमी है और मन से इस मार्ग की सराहना करते हुए भी

अपने व्यवहारो और क्रियाओ से इस पर बराबर चल नही पा रहे हैं। किन्तु आप कब तक लापरवाही करेंगे ? जबकि आप भी अपनी आत्मा को इस ससार से छुटकारा दिलाना चाहते हैं तो निश्चय ही आपको साधना का मार्ग अपनाना होगा और इस पर चलना पड़ेगा।

इसलिये धर्माराधन, साधना और परिषह विजय, इन सभी को साधुओ का कार्य कहकर आप बच नही सकते। भले ही साधुओ के समान अभी आप दृढ न रह सकें आरम्भ-समारम्भ का पूर्णतया त्याग न कर सकें तथा सक्षेप मे कहा जाय तो पाँचो महाव्रतो का पालन न कर सकें तो भी श्रावक के पालन करने योग्य एकदेशीय अर्थात् थोडे अशों में तो आपको भी व्रतो का पालन करना ही चाहिये। और इसीलिए आपको एकदेश मर्यादा की दृष्टि से स्वस्त्री-सतोष एव परस्त्री के त्याग का पालन करना चाहिये।

कोई शका करेगा कि इसके लिये व्रत क्यो ? उत्तर यही है कि व्रतो को ग्रहण करने से मन मे दृढता आती है और जीवन श्रेष्ठ बनता है। अगर व्यक्ति किसी एक नियम को ग्रहण कर लेता है तो वह धीरे-धीरे अन्य व्रतो को भी ग्रहण करता हुआ अपने आप पर नियत्रण रखने मे समर्थ बनता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई, अस्सिलोए परत्थ य॥

—अध्ययन १, गा० १५

अर्थात् अपने-आप पर नियन्त्रण रखना चाहिये। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुत कठिन है किन्तु ऐसा करने वाला ही इस लोक और परलोक मे सुखी बनता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि शाश्वत सुख की आकाक्षा रखने वाले को अपने आप पर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा और अपने आप पर नियन्त्रण तभी हो सकेगा जबकि मनुष्य व्रतो को ग्रहण करता जाएगा तथा त्याग की ओर अधिक से अधिक बढेगा।

तो अभी हमारा विपय 'स्त्री परिपह' पर कल से चल रहा है। इस सबध मे मुझे यह और कहना है कि जिस प्रकार साधु को स्त्री जाति से परे रहना चाहिये, उसी प्रकार साध्वी को भी पुरुप जाति से सम्पर्क नही रखना चाहिये तथा इसी परिषह को अपने लिये 'पुरुप परिपह' मानना चाहिये।

दोनों समान हैं

अनेक व्यक्तियो का और महापुरुषो का कथन है कि स्त्री पुरुष को विगाड देती है, अथवा पतन की ओर ले जाती है। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है—

> कामिनि काली नागिनी, तीनो लोक मंझारि।
> नाम-सनेही ऊबरे, विषिया खाये झारि॥

अर्थात्—तीनो लोको मे देखा जाय तो नारी काली नागिन के सदृश है। इसके दश से केवल भगवान का नाम जपने वाले ही बचे हैं, विषय-भोगियो को तो वह एकदम से खा गई। किसी को भी उसने नहीं छोडा है।

पर बधुओ, नारी जाति के प्रति ऐसी हीन भावना रखना निश्चित रूप से गलत है और भ्रम-मात्र है। यद्यपि ऐसी ही बातें राजा भर्तृहरि और सत तुलसीदास आदि ने भी लिखी हैं, किन्तु इनमे मुख्य रूप से उनका पुरुषो के प्रति पक्षपात है और इन बातो को कोई गभीर विचारक अपने गले से नही उतार सकता।

जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं—काम-विकार या उसका प्रलोभन ससार के अन्य समस्त प्रलोभनो से प्रबल है, यह सत्य है। किन्तु इसमे दोष उस विकार का है न कि सम्पूर्ण रूप से स्त्री जाति का, अगर भोगेच्छा प्राणियो को पतन की ओर अग्रसर करती है तो उसमे पुरुष व स्त्री दोनो ही समान रूप से भागीदार होते हैं।

अन्यथा हम तो देखते हैं कि दुर्व्यसनो को पुरुष जितने शीघ्र और अधिक सख्या मे अपनाते हैं, स्त्रियाँ उन्हे ग्रहण नही करती। बाल-विधवा होकर नारी अपना सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए बिता देती है, पर पुरुष ऐसा नही कर पाते। वे स्त्री के मरते ही दूसरी, तीसरी और बुढापे तक चौथी शादी करने में नही हिचकिचाते। क्या इससे स्पष्ट नही होता कि पुरुष का मन विकारी ज्यादा है या स्त्री का ?

हमारा इतिहास तो बताता है कि अनेको सती नारियाँ पुरुषो को भी ठिकाने पर लाई हैं। सती राजीमती की कथा आप जानते ही है कि जब उसका देवर मुनि रथनेमि राजुल से आकर्षित हुआ और उसने अपना प्रणय निवेदन किया तो किस प्रकार राजीमती उसे पुन मार्ग पर लाई ? चन्दनबाला की माता रानी धारिणी अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जिह्वा खींचकर इस लोक से ही प्रस्थान कर गई। इसी प्रकार सती सुभद्रा, सीता, चदनबाला आदि अनेको सतियाँ इस धरती पर हुई हैं और आज भी हैं। कहने का साराश यही है कि नारी-जाति की निंदा करना अनुचित

है। नारियो के बल पर ही आज धर्म टिका हुआ है और उन्होंने ससार को अनेको अमूल्य रत्न दिये हैं।

गांधी जी की माता ने उनमे ऐसे सस्कार डाले थे कि आज ससार के समस्त देश उन्हें आदर और सम्मान देते हैं। क्योकि अहिंसा के बल पर ही उन्होने भारत को आजाद करा दिया था और अहिंसा, सत्य एव सयम का महत्व उन्होने अपने जीवन मे उतारा था। जीजाबाई ने शिवाजी मे शूरवीरता इस प्रकार कूट-कूटकर भर दी थी कि उन्होने मुगलो को नाको चने चबवा दिये। इसीप्रकार अनेको उदाहरण हैं किन्तु उन्हे कहने का अधिक समय नही है।

कहना यही है कि नारी अपने आपमें एक पवित्र ज्योति है जो अपने पति को, पुत्र को व परिवार के सभी प्राणियो को मार्ग-दर्शन कर सकती है।

एक पाश्चात्य विद्वान 'लावेल' ने कहा है—

'Earth's noblest thing a woman perfected'

—साध्वी स्त्री ससार की सर्वोत्तम वस्तु है।

आचार्य मनु तो यहाँ तक कहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमन्ते तत्र देवता।'

—जिस घर मे स्त्रियो की पूजा होती है उस घर मे देवता अवश्यमेव रमण करते है।

वस्तुत जिस घर मे सद्गुण सम्पन्न नारी सुखपूर्वक निवास करती है वहाँ लक्ष्मी रहती है तथा सदैव शाति का वातावरण रहता है।

अब नहीं जाऊँगी

कहते हैं कि एक सेठ को एक दिन स्वप्न मे लक्ष्मी ने आकर कहा—"मैं कल से तुम्हारा घर छोड रही हूँ, इसका क्या प्रभाव तुम्हारे परिवार पर पडेगा यह कल इसी समय रात्रि को मुझे बताना।"

बेचारे सेठजी घबरा गये और जब वे सुबह उठे तो अत्यन्त चिन्तित और गमगीन थे। न उन्होंने प्रात काल नाश्ता किया और न ही भरपेट भोजन कर सके।

यह देखकर उनकी पत्नी, चारों पुत्र और पुत्रवधुएँ, सभी बडे हैरान हुए। वे सोचने लगे—सेठजी की उदासी का ऐसा कौन सा कारण हो सकता है! सभी कुछ तो यथावत है, व्यापार आदि के घाटे की भी सूचना नही है। फिर आखिर बात क्या है?

सेठ के वडे पुत्र ने आखिर उनसे पूछा—"पिताजी ! आज आप इतने उदास और परेशान क्यो हैं ? लगता है एक रात्रि मे ही आप बदल गए हैं ? क्या स्वास्थ्य सवधी कोई तकलीफ है आपको ?"

सेठजी यद्यपि किसी से कुछ कहना नही चाहते थे। क्योकि लक्ष्मी के लोप होने जैसी दुखद सूचना देकर परिवार के व्यक्तियो को अभी ही चिन्ता मे डालना वे ठीक नही समझते थे। दूसरे वे सोचते थे कि अपार धन होने के कारण सभी को सुख-पूर्वक रहने के साधन मिले हुए हैं, और किसी प्रकार की कमी न होने से ही सारा परिवार ठीक रह रहा है, पर लक्ष्मी के जाने की सूचना पाते ही या जाते ही घर मे सब एक-दूसरे से कलह करेंगे और सम्भव है सभी पुत्र अपनी-अपनी पत्नियो को लेकर अलग हो जायें।

यही सब विचार उन्हे परेशान कर रहे थे और उनके कारण वे मानसिक अशान्ति का शिकार बने हुए थे। किन्तु जब पुत्र ने पूछ ही लिया तो वे अपने आपको रोक न सके और लक्ष्मी की वात को उन्होंने ज्यो का त्यो अपने पुत्रो, पुत्र-वधुओ और पत्नी के समक्ष कह दिया।

सेठ जी की वात सुनकर एक बार तो वे सब काठ के समान स्तब्ध रह गये और कुछ उत्तर नही दे पाये, किन्तु जब सेठ जी ने पूछा कि—"आज मैं लक्ष्मी की वात का क्या उत्तर दू यह बताओ ?' तो वे लोग प्रकृतिस्थ हुए और सोचने लगे कि क्या कहा जाय, यानी लक्ष्मी के न होने पर परिवार पर क्या प्रभाव पडेगा, इस विपय मे क्या उत्तर दिया जाय।

आश्चर्य की वात थी कि लक्ष्मी की वात का उत्तर किसी की भी समझ मे नही आया और वे सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। किन्तु सेठजी की सबसे छोटी पुत्रवधु वडी बुद्धिमती थी। उसने अपने ससुर के कहा—"पिताजी ! आप लक्ष्मी से कह दीजियेगा कि तुम्हारे चले जाने पर भी हमारे परिवार पर इसका कोई प्रभाव नही पडेगा। क्योकि धन तो आज होता है और कल नही। इसमे आश्चर्य और दुख की क्या वात है ? दूसरे, आप यह कहियेगा कि मेरे परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे पर जान देते हैं अत. लक्ष्मी के न होने पर भी सब मिल जुलकर परिश्रम करेंगे और सूखी रोटी भी आपस मे बांट कर प्रसन्नता से खाएंगे।

पुत्रवधू की वात सुनकर सेठ जी वडे प्रसन्न हुए और उन्होंने देखा कि अन्य सब व्यक्ति भी असीम हर्ष सहित उसकी वात का समर्थन कर रहे हैं। यह देखकर उनके हृदय पर से बोझ हट गया और वे लक्ष्मी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार हो गये।

ठीक अर्धरात्रि के समय लक्ष्मी पुन, सेठजी के स्वप्न मे आई। उत्तर तो तैयार ही था अत बिना झिझक के उन्होंने वही बात कह दी जो दिन को कहना तय हुआ था।

लक्ष्मी यह सुनकर अवाक रह गई। वह तो सोच रही थी कि सेठ रोएगा, गिडगिडाएगा और परिवार के भूखो मर जाने की आशका व्यक्त करेगा। किन्तु यह सब कुछ नही हुआ, उलटे निश्चितता पूर्वक सेठ जी ने अन्त मे कह दिया—'तुम रहो तो प्रसन्नता की बात है पर नही ही रहना चाहती हो तो ठीक है, जाओ ?''

अन्त मे लक्ष्मी ने कहा—'सेठ जी! मैं तुम्हारे यहाँ से जाना चाहती थी किन्तु तुम्हारे घर के सब व्यक्तियो मे इतना सगठन है, प्रेम है कि मैं अब जा नहीं सकती।''

कहने का अभिप्राय यही है कि सती-साध्वी एव सुलक्षणा नारियाँ ही घर में लक्ष्मी को टिकाती हैं। वे समय-समम पर अपने पति को सच्ची सीख देने से भी नही चूकती।

श्रीपाल और मैनासुन्दरी की कथा मे आता है कि जव श्रीपाल परदेश जाने लगते हैं तो प्रथम तो मैनासुन्दरी साथ चलने की इच्छा व्यक्त करती है, किन्तु श्रीपाल के यह कहने पर कि वहाँ मेरे रहने का भी ठिकाना नहीं होगा तो तुम्हें कहाँ रखूँगा, वह साथ चलने की जिद छोड देती है पर पति को जाते समय यह जरूर कहती है—

वरस सोलह से ऊपर नार से बातें नहीं करना।
जब आँखें चार होती हैं मोहब्बत हो ही जाती है॥

बात मनोरजक ढग से कही गई है पर उसमे 'स्वदारसतोष' के व्रत की याद दिलाते हुए शिक्षा भी दी है कि अपने व्रत को भग मत करना।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने अपने वनगमन के समय भरत को भी यही सीख दी थी—

''परस्त्री मात सम जानी, कभी मोहब्बत मे मत फँसना,
लोभ को त्याग पर-धन में, भग मरजाद मत कीजे,
कहे श्रीराम भरत ताई कि भैया वात सुन लीजे।

रामचन्द्र जी की नसीहत थी कि—'भाई भरत! मैं तो वन-वास करने जा रहा हू पर तुम मेरी दो वातो को कभी मत भूलना। एक तो परस्त्री को सदा माता के समान समझना, दूसरे कभी पराये धन के लिये लोभ मत करना। इस प्रकार अपनी मर्यादा मे रहना, उसे भग मत करना।

एक कवि ने इसी विषय मे और कहा है—

"माता बहिन व कन्या समझू पराई नारी।
समभाव सब को देखू ऐसी प्रभु नजर दो।
भगवन ! दया की दृष्टि अब टुक इधर भी कर दो।

कवि का कहना है—अपनी पत्नी के अलावा ससार की स्त्रियो मे से जो बुजुर्ग हैं उन्हे मैं माता के समान, मेरी समकक्ष उम्र की हैं उन्हे बहन की तरह और छोटी लडकियो को मैं अपनी पुत्री के समान समझ सकू, हे प्रभो ! मेरी दृष्टि ऐसी ही बना दो। आपकी कृपा से यह हो सकेगा अत मेरी ओर अपनी कृपादृष्टि फेरो।

कवि ने जैसी भावना व्यक्त की है, उसके अनुसार दृष्टि हो जाने पर फिर किसी व्यक्ति का मन अन्य स्त्री को देखकर विकारग्रस्त नही होगा।

कहा जाता है कि एक बार जोधपुर के राजा तखतसिह जी ने किसी सत से पूछा—"आप लोगो की सेवा मे यानी आप लोगो के दर्शनार्थ अनेक स्त्रियाँ आती हैं, तो उनके बहुमूल्य वस्त्राभूषणो से सज्जित सौन्दर्य को देखकर आप अपने दिल पर कैसे काबू रख पाते हैं ?"

सत ने कहा—"महाराज ! क्या आपकी बहन जब आपको राखी बाँधती है, उस समय आपके मन मे उसे देखकर विकार उत्पन्न होता है ?"

"नही !" राजा ने उत्तर दिया।

"बस, इसी प्रकार सत सब स्त्रियो को अपनी बहन समझते हैं। इसलिये उन्हें देखकर भी उनके मन मे विकार पैदा नही होता।"

सत की बात सुनकर राजा को निरुत्तर हो जाना पडा। सत्य भी यही है कि विकार भावनाओ से जागता है अत साधक ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि मेरी दृष्टि मे कभी विकार न आए।

संत तुकाराम जी मराठी भाषा मे कहते हैं—

"पापाची वासना नको माझ्या डोला, त्याहूनि आधला बरामीच।"

भक्त कहता है—हे प्रभो, मेरे हृदय मे कभी भी पापपूर्ण भावनाएँ न आएँ। और अगर कभी मेरी दृष्टि मे पाप आने लगे तो मुझे अन्धा ही कर देना।

वास्तव मे ही भोगेच्छाओ पर विजय प्राप्त करना तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त श्रेष्ठ है। शीलव्रत के पालन से मानव की शारीरिक, मानसिक, वाचिक एव आध्यात्मिक उन्नति होती है। भोग वास्तव मे कर्मबन्ध के कारण हैं। भोगो का मूल भोग भोगने की अभिलाषा है। यही से कर्म बँधने प्रारभ हो जाते हैं।

न लोक की सम्पदा रही शील मे आन

भोगो की इच्छा करने पर रागजनित कर्मों का बध होता है। उसके पश्चात् तब वह भोगो के साधन सचित करने के लिये प्रयत्न करता है तो नाना प्रकार के आरभ— समारभ करने पडते हैं, उससे कर्म वधते हैं। इतना करने पर भी अगर भोग-सामग्री प्राप्त न हुई तो पश्चात्ताप, खेद आदि से कर्म वधन होता है और अगर प्राप्त हो गई तब तो फिर कमी ही क्या रह जाती है ? मनुष्य भोगो मे इतना आसक्त हो जाता है कि जीवन के उद्देश्य का उसे स्मरण ही नही आता तथा रात-दिन भोगो मे डूबे रहकर कर्म वाधता रहता है।

किन्तु इसके विपरीत जो शीलधर्म का पालन करता है वह अनेक प्रकार का लाभ उठाते हुए अन्त मे अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

शील की महिमा वताते हुए एक स्थान पर कहा है—

शील प्राणभृता कुलोदयकर शील वपुर्भूषणम् ।
शील शौचकर विपद्भयहर दौर्गत्यदुःखापहम् ॥
शील दुर्भगतादिकन्ददहन चिन्तामणिप्रार्थिते ।
शील स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥
व्याघ्रव्यालजलानलादिशमन

अर्थात्-शील मनुष्यो के कुल की उन्नति करने वाला है क्योकि शीलवान के कुल की कीर्ति बढती है तथा श्री वृद्धि होती है। शील मनुष्य के शरीर का भूषण है क्योंकि उसके पालन से शरीर ओजस्वी, आभायुक्त और सुन्दर वनता है। शील से अन्त करण पवित्र वनता है, इससे विपत्ति और भय का अभाव हो जाता है। शील दुर्गति के दुःखो का निवारण करता है तथा दुर्भाग्य को मूल सहित दूर कर देता है। शील इष्ट की प्राप्ति के लिये चिन्तामणि के समान है क्योकि उसके समस्त मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

शील के प्रखर प्रताप मे व्याघ्र, सर्प, जल और अग्नि आदि की समस्त बाधाएं दूर हो जाती हैं। इसके अलावा इन लौकिक लाभो के अतिरिक्त शील से स्वर्ग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। अगर शील पवित्र है तो उसका धारी व्यक्ति नीच गति मे नही जाता। यदि कर्म बध न हो तो मोक्ष और कर्म बाकी रहने पर स्वर्ग तो प्राप्त होगा ही।

तो बधुओ, शीलव्रत का पालन करना मुमुक्षु के लिये आवश्यक है। और इसके लिये यह भी आवश्यक है कि मुमुक्षु पुरुष जाति मे से हो तो वह स्त्रियों से कम सपर्क रखे और स्त्री जाति मे से हो तो वह पुरुष के ससर्ग में कम आए। यह नियम दोनों के लिये समान है और दोनो के लिए समान रूप से महत्त्व-पूर्ण है।

क्योकि पुरुषो में भी अच्छे और बुरे व्यक्ति होते हैं और स्त्रियो मे भी यही बात लागू होती। दोनो के एक-दूसरे के अधिक सपर्क मे आने से मन में विकार आ सकता है अत पानी आने से पहले ही पाल बाँधे रखना ठीक है। अन्यथा ब्रह्मचर्य व्रत भग होते ही अन्य सभी गुण खतरे में पड़ जाएँगे। कहा भी है—

जम्मि य भग्गमि होइ सहसा सव्व भग्ग ।
जमि य आराहियमि आराहिय वयमिणं सव्व ॥

—प्रश्नव्याकरण २/४

—एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं तथा एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर शील, एव विनय आदि सभी व्रत आराधित हो जाते हैं।

इसलिए साधु-साध्वियो को जहाँ अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, वहाँ श्रावक एव श्राविकाओ को भी एकदेशीय व्रत का दृढता से पालन करना चाहिए। तभी स्त्री परिपह' और पुरुप परिषह पर विजय प्राप्त की जा सकेगी और ऐसा करना आवश्यक ही नही अनिवार्य है। क्योकि आत्माएँ चाहे साधु की हो या श्रावक की, सभी ससार मे भ्रमण कर रही हैं और उन्हें कर्मों से मुक्त होना है। यह तो है नही कि केवल साधुओं को ही मोक्ष मे जाना है और श्रावको को नही। क्या आप लोग मोक्ष प्राप्ति की अभिलापा नही रखते? यह कार्य केवल साधुओ के लिये ही है क्या? नहीं, आप सब भी यही चाहते हैं कि हम ससार से मुक्त हो जाएँ और यह भी जानते हैं कि साधुओं की या साधकों की आत्मा चाहे जितनी शुद्ध हो जायँ और भले ही ससार-मुक्त भी हो जायँ पर उससे आपकी आत्मा का कोई भला नही हो सकता। आपकी आत्मा का भला तो तभी होगा जबकि आप स्वय इसके लिये प्रयत्न करेंगे, स्वय साधना करेंगे और स्वय ही त्याग एव नियमो का पालन करके कर्मों की निर्जरा करेंगे।

जिस प्रकार लखपति के पास बैठ जाने से और उसकी बातें सुन लेने से ही कोई लखपति नही बन सकता। वह लखपति बनता है तो अपने स्वय के श्रम और पुरुपार्थ से, इसी प्रकार सतो की सगति कर लेने से, उनके उपदेशो को सुन लेने से या उनकी सराहना करने से आप अपने आत्मा को निर्मल नहीं बना सकेंगे। आपकी आत्मा तभी निर्मल हो सकेगी, जबकि आप स्वय इसके लिये प्रयत्न करेंगे। और यह तभी होगा जब आप स्वय जिन वचनो के अनुसार तथा सतो के उपदेशों के द्वारा आत्म-मुक्ति के साधनो को समझकर उन्हें जीवनसात् करेंगे।

मोह की प्रबलता

साधना के क्षेत्र में वढने से पहले आपको ससार की अनित्यता को हृदय से महसूस करना चाहिए। जव आप भली-भाति विचार कर लेंगे कि इस जगत का प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, किसी भी दिन छूट सकता है और न छूटे तो हमे स्वय ही एक दिन इसे छोडना है, तो आपको स्वय ही इन सवसे विरक्ति हो जाएगी और इन पर से आपका मोह हट जाएगा। मोह-कर्म यद्यपि सभी कर्मों से बलशाली है, किन्तु ससार से विरक्त हो जाने वाला प्राणी इसे कैदखाना मानकर इससे छूटने के लिये महान् विकलता का अनुभव करता है। तथा इस मोह को धिक्कारते हुए इससे छूटने का प्रयत्न करता है।

श्री भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे लिखा है—

अजानन्माहात्म्य पततु शलभो दीपदहने।
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु पिशितम्॥
विजानन्तोऽप्येतान्वयमिह विपज्जालजटिला-
न्नमुञ्चाम कामानहह गहनो मोह महिमा॥

कहते हैं—अज्ञानवश पतगा दीपक की लौ पर गिरकर स्वय को भस्म कर लेता है, क्योंकि यह उसके परिणाम को नही जानता। इसी तरह मछली कांटे के मास को मुँह मे ग्रहण करके अपने प्राण खोती है क्योंकि वह भी अपने प्राण-नाश के भय को नही समझती। परन्तु हम लोग तो अच्छी तरह जानते हैं कि ससार के विषय-भोग विपत्ति के कारण हैं और उनके प्रति रहा हुआ हमारा मोह हमे अनन्त काल तक इस ससार मे कैद रखने वाला है, तब भी हम इसका त्याग नही करते। मोह की यह महिमा कितनी आश्चर्यजनक है?

इसलिये बधुओ! जव तक हम इस ससार के पदार्थों से मोह करते रहेंगे और इनसे सुख पाने के लिए इनका पीछा करते रहेंगे, तब तक सच्चा सुख मृग-तृष्णा की भाति हमसे दूर होता जाएगा। और जिस दिन हम ससार के इन सुखो से मुँह मोड लेंगे तथा आशा, तृष्णा एव भोगेच्छाओ का त्याग करके आत्मस्वरूप मे रमण करने लगेंगे, उसी दिन सच्ची शाति, सच्चा सतोष एव सच्चा सुख हमारे कदमो पर बिखर जाएगा। किसी ने कहा भी है—

भागती फिरती थी दुनिया, जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की तो बेकरार आने को है॥

साराश यही है कि सुखो की इच्छा रखने से और उन्ही के लिये प्रयत्न मे

लगे रहने से वे हमसे दूर रहते हैं यानी प्राप्त नही होते। किन्तु जब हम उन्हे पाने का यत्न छोड देते है तो वह स्वय ही हमारी आत्मा मे निवास करने लगते हैं।

समय हो गया है बघुओ, अतः अत मे केवल इतना ही कहूंगा कि "हमें ससार के नश्वर सुखो का ध्यान छोड देना चाहिये तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये त्याग-नियम और व्रतों को अपना कर उनका दृढ़ता से पालन करना चाहिए। यद्यपि साधना के इस मार्ग मे अनेक बाधाएँ और परिषह हमारे सामने आते हैं, किन्तु अगर हमारा मन मजबूत रहेगा तो कोई भी विकार उसे डिगा नही सकेगा और प्रत्येक परिषह हमारे समक्ष हथियार डाल देगा। आज हमारा विषय स्त्री परिषह पर ही चल रहा है। यह परिषह यद्यपि सभी परिषहो से प्रबल है, किन्तु हमारा आत्म-विश्वास और दृढता उस पर भी सहज ही विजय प्राप्त कर सकती है।

२८ | साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव वहनो !

हम सवर के सत्तावन भेदो के विषय मे वर्णन कर रहे हैं। इन्ही मे बाईस परीषह भी आते हैं। आठ परिषहो के विषय मे हम जानकारी कर चुके हैं और आज नौवें परिषह को लेंगे। बाईस परिषहो मे से नौवां परिषह है—'चर्यापरिषह'।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे इस परिषह पर गाथा दी गई है—

> एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
> गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिये ॥
>
> —अध्ययन २, गा १८

अर्थात्-अकेला साधु प्रासुक आहार से निर्वाह करता हुआ ग्राम मे, नगर मे, वणिक स्थान मे और राजधानी आदि सभी अन्य स्थानो मे विचरण करे।

आपको ध्यान होगा कि आठवे 'स्त्री परिषह' मे कहा गया था—बुद्धिमान पुरुष स्त्री को कीचड के समान मानकर उनके द्वारा अपना हनन न करे किन्तु आत्म-गवेषी बनकर अपने सयम मार्ग मे विचरण करे।

यहाँ हमें आत्मगवेषी शब्द को लेना है। इसका अर्थ है—आत्मा की खोज करना। सासारिक पदार्थों की और उनके सुख की खोज तो सभी करते हैं, किन्तु उस खोज का कोई शुभ फल प्राप्त नही होता। शुभ-फल तो तब मिलता है जबकि आत्मा की खोज की जाय। आत्मा की खोज से तात्पर्य है—आत्मा के स्वरूप को समझना तथा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र आदि आत्मा के गुणो को समझते हुए आत्मा की अनत शक्तियो को जागृत करना।

साधु अकेला कैसे ?

आत्मगवेषणा को ध्यान मे रखते हुए भगवान की वाणी मे कहा गया है कि साधु शुद्ध आहार से शरीर चलाता हुआ गाँवो मे, नगरो मे और राजधानियो में विचरण करे। इस गाथा मे दो बातो पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम यह कि साधु के लिये 'अकेला' शब्द आया है। इस शब्द से यह तात्पर्य नही है कि साधु एक ही हो तथा साथ मे कोई अन्य सत न हो। यहाँ अकेले से यही अभिप्राय है कि मार्ग के कष्टो और परिषहो से त्राण पाने के लिये साधु किसी की सहायता की अपेक्षा न रखे और इस दृष्टि से उसे साथ न रखे।

दूसरे, अकेले से आशय यह है कि वह राग-द्वेषादि से, विषय-विकारो से तथा मोह, ममता एव आसक्ति से रहित केवल आत्मगवेषी रहकर विचरण करे। मन के समस्त विकारो को छोड दे, उन्हें साथ न रखे।

समयसार ग्र थ मे कहा गया है—

'रत्तो बधदि कम्म, मुंचदि जीवो विराग सपत्तो।'

अर्थात्-जीव रागयुक्त होने से कर्म बांधता है और विरक्त होकर कर्मो से मुक्त होता है।

आप समझ गए होगे कि 'राग' का साथ होना कर्मबध का कारण है और उसे छोड देना निर्जरा का। इसीलिये साधु को इसे छोडकर निश्चितता पूर्वक जो भी रूखा-सूखा आहार मिल जाए उसे ग्रहण करते हुए रागादि से रहित होकर अकेले विचरण करना चाहिये।

इसी बात की पुष्टि करते हुए आगे उत्तराध्ययन सूत्र की दूसरी गाथा मे कहा गया है—

असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गह।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए॥

अर्थात्-साधु सदा अहकार से रहित होकर, किसी प्रकार के परिग्रह का सचय न करे। गृहस्थो मे आसक्त न होवे और किसी प्रकार के घर-द्वार को न रखता हुआ सदा देश-प्रदेश मे भ्रमण करे।

इस गाथा मे भी साधु को आदेश दिया गया है कि देश विदेश मे विचरे किन्तु अहकार से रहित होकर तथा परिग्रह का बिना सचय किये हुए। वह न तो गृहस्थो मे आसक्ति रखे और न ही साथ मे घर-बार की वस्तुएँ रखे या कि कहीं अपने रहने के लिये विशिष्ट स्थान ही बनाए।

ये सब विधान साधु के लिए क्यो बनाए गए हैं ? इसलिये कि साधु समस्त ससार की ओर से उदासीन होकर आत्माभिमुख हो जाता है और साधु का बाना वह तभी सार्थक कर सकता है जबकि उसके अनुरूप कार्य करे तथा अपना व्यवहार बनाये। आज साधु को ससार इसीलिए मानता है कि वह अपने वेष के अनुसार ही आचार का पालन करता है। साधु-वेश की महिमा बताते हुए एक उदाहरण आपको देता हूँ। वह इस प्रकार है।

साधु वेषधारी चोर

एक चोर चोरी करने के लिये किसी राजमहल मे आधी रात को घुसा। घूमते-घामते वह राजा के शयनकक्ष मे जा पहुँचा। सयोगवश इस समय राजा और रानी सोये न थे, आपस मे वार्तालाप कर रहे थे। चोर कुछ ठिठक गया और उनकी बातें सुनने लगा।

उस समय राजा ने रानी से कहा—"मैं अपनी राजकुमारी का विवाह उस साधु से करूँगा जो गगा नदी के किनारे पर रहता हो।"

चोर ने जब यह बात सुनी तो अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—अगर मैं ही भगवावस्त्र पहन कर गगा के किनारे रहने लगूँ तो शायद मुझसे राजकुमारी का विवाह हो जाय। ऐसा हो गया तब तो फिर जिन्दगी भर मुझे चोरी करने की जरूरत ही नही रह जाएगी।

यह विचार कर चोर उसी समय राजमहल से बाहर चला गया और सन्यासी का वेश पहनकर गगा के किनारे जा बैठा।

अगले दिन राजा ने अपने कर्मचारियो को गगा के किनारे रहने वाले साधुओ के पास भेजा और पुछवाया कि कौन साधु राजकुमारी से विवाह कर सकेगा ?

कर्मचारी एक के पश्चात् एक के, इस प्रकार सभी के पास गये और उनसे राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिये कहा। किन्तु किसी भी साधु ने इसके लिये स्वीकृति नही दी। सबसे अत मे उस साधु वेशधारी चोर का नम्बर आया। कर्मचारियो ने उससे भी यही बात कही। चोर ने कुछ उत्तर न दिया, मौन बैठा रहा।

अन्त मे राज कर्मचारी वापिस लौटे और राजा से बोले—"हुजूर, और तो कोई साधु राजकुमारी जी के साथ विवाह करना नही चाहता, पर एक युवा सन्यासी शायद विवाह के लिये तैयार हो जाय, क्योकि उसने विवाह के सम्बन्ध मे हाँ या ना कुछ भी नही कहा है।"

यह सुनकर राजा स्वय ही उस चोर के पास गए जो सन्यासी का बाना पहने गगा के किनारे ध्यान का ढोग किये हुए था। राजा ने उस सन्यासी से आग्रह करते हुए कहा—"महाराज! मेरी कन्या की कुडली मे साधु से विवाह करना लिखा है अत आप मेरी कन्या के साथ विवाह कर लीजिये। मैं अपनी पुत्री से विवाह करने वाले को आधा राज्य भी प्रदान करूँगा।"

चोर ने राजा की वात सुनी तो मन ही मन वडा प्रसन्न हुआ, किन्तु अचानक ही उसके हृदय मे यह विचार आया कि—'देखो, साधु का वेश पहनते ही इसका कितना अच्छा फल मिला है कि स्वय राजा अपनी राजकुमारी और राज्य देने के लिए आया है। पर अगर मैं सच्चा साधु वन जाऊँ और मन, वचन एव शरीर से साधुत्व का पालन करूँ तो उसका परिणाम तो न जाने कितना अच्छा होगा और वह इस राज्य से भी अनेक गुना उत्तम होगा।

ऐसा विचार कर उस चोर ने राजा को अपने झूठे वेश पहनने का कारण वता दिया और उसी दिन से सच्चा सन्यासी वनकर तपस्या एव साधना मे जुट गया।

ऐसे उदाहरणो से ज्ञात होता है कि जब साधु का वेश ही व्यक्ति के मन को वदल देता है तो फिर साधुत्व को हृदय से अगीकार करने वाले का हृदय तो विकारो से कितना रहित होना चाहिए। इसलिए शास्त्र की गाथाओ मे कहा गया कि साधु को अहकार, राग द्वेप, आसक्ति तथा परिग्रह आदि सबको त्याग करके निस्सग यानी सग रहित अकेले ही देश-विदेश मे भ्रमण करना चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि साधु को चातुर्मास अथवा किन्ही विशेप कारणो के अलावा सदा यत्र तत्र विचरण क्यो करना चाहिये ?

विचरण किसलिए ?

भगवान महावीर का आदेश है कि साधु को ग्रामानुग्राम विचरण करते रहना चाहिए। इस विधान के अनुसार आप देखते ही हैं कि साधु चातुर्मास के अलावा इधर से उधर विहार करते हुए अनेक गाँवो मे जाते हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि प्राय. साधु-साध्वी अपने प्रान्तो मे, अपने भाषा-भाषी स्थानों मे या अपने मानने वालो के गाँव और नगरों मे अधिक भ्रमण करते हैं। किन्तु अधिक अच्छा यही है कि साधु इन वातो का सर्वथा ध्यान न रखते हुए किसी भी प्रदेश मे यथाशक्य विचरने का प्रयत्न करे और विशेप करके उन प्रदेशो मे भी जाए जहाँ धर्म से अनभिज्ञ लोग कहलाते हैं।

अनार्य स्थानो के व्यक्ति, और व्यक्ति ही क्या वहाँ रहने वाले जैन भी अपने जीवन मे यह नही जान पाते कि धर्म क्या है और उसकी आराधना किस प्रकार की जाती है ? और तो और, उन जैन कहलाने वाले व्यक्तियो के बालक तो यह भी नहीं जानते कि हमारे जैनधर्म मे साधु भी होते हैं। इसलिये ऐसे स्थानो पर साधू को भ्रमण करके उन नामधारी जैनियो को कम से कम यह तो बताना ही चाहिये कि हमारा जैनधर्म क्या है ? उसके सिद्धान्त क्या हैं और उनका पालन करने के लिये किस प्रकार त्याग नियम अपनाना चाहिये ?

तो ऐसे अनभिज्ञ क्षेत्रो मे विरले साधु-साध्वी ही पहुँच पाते हैं। उदाहरण स्वरूप हमारे श्रमण सघ की परम विदुषी महासती जी श्री उमरावकुवर जी महाराज 'अर्चना' ने करीब तेरह वर्ष पूर्व अपनी शिष्याओ के साथ काश्मीर-भ्रमण किया था। उस समय श्रमण सघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज विद्यमान थे और उनकी शुभकामना, आज्ञा तथा प्रेरणा लेकर ही पडिता सती जी ने काश्मीर प्रदेश की महान् कष्टकर यात्रा कमर कसकर प्रारभ कर दी थी।

अभी करीब दो वर्ष पहले साडेराव (राजस्थान) मे जो प्रातीय साधु-सम्मेलन हुआ था, उस समय सती 'अचना' जी से वार्तालाप के समय उन्होने मुझे अपनी हिमाचल एव काश्मीर यात्रा के कुछ अनुभव सुनाए थे और कुछ उनके प्रकाशित सस्मरणो से भी मालूम हुआ था कि उस यात्रा के दौरान सभी प्रकार के परिषहो का उन्हे डटकर मुकाबला करना पडा था। क्षुधा, पिपासा एव शीत का तो पूछना ही क्या है। उन्होने बताया था कि शिमला से बिलासपुर जाते समय करीब ६० मील के लम्बे मार्ग पर केवल दो बार आहार प्राप्त हुआ था और 'ऊपर से विकट पहाडी चढाई वाला रास्ता। इसके अलावा भी अनेको बार कई-कई दिन तक केवल मक्की के फूलो को खाकर भी समय गुजारना पडता था। वैसे भी उधर मोटी रोटियाँ और 'कडम' नामक पत्ते का केवल नमक डाला हुआ साग मिलता था।

इसी प्रकार उन्हें मार्ग के कष्ट भी कम नही उठाने पडे और दोषो से बचने के लिये शार्टकट मार्ग को छोडकर अत्यधिक लम्बे मार्गों को तय करना पडा। यथा—बिलासपुर से भाखडा नगल केवल ३६ मील है किन्तु बीच मे दरियाव था और साधु के लिये कच्चे पानी का स्पर्श वर्जित है अत उन्हे पहाडियो का चक्कर काटते हुए करीब १५० मील चलकर भाखडा नगल पहुचना पडा।

किन्तु वह काश्मीर प्रदेश जिसमे राम को मानने वाले पडित राम-नवमी के दिन भी अपने कार्यों से छुट्टी पाकर उस छुट्टी के दिन जी भर कर शिकार करते है तथा शिवरात्रि को शिव के मंदिर मे मास और मछली चढाते हैं, वहाँ भ्रमण

करके सतीजी ने सैंकडो व्यक्तियो को धर्म का स्वरूप समझाया तथा उन्होंने प्रभावित होकर अपने कुकर्मों का त्याग किया। इसके अलावा केवल हिन्दुओ को ही उन्होंने प्रतिबोध नही दिया वरन् वहाँ के मुसलमानो को भी धर्मोपदेश दिया और अनेको मुसलमानो ने मास व मदिरा का सर्वथा त्याग किया। लार्कपुर नामक गाँव, जो कि वेरीनाग से अवतीपुर के रास्ते मे है, वहाँ सिर्फ एक घर हिन्दू पडित का था और बाकी सम्पूर्ण घर मुसलमानो के थे।

सती जी जब उस मार्ग से गुजरे तो एक-दो घण्टे वहाँ सडकपर बनी हुई स्कूल मे गुजारसे चाहे। पर वहाँ का मुसलमान हैडमास्टर आपसे इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें तीन दिन लार्कपुर मे ठहरना पडा तथा वहाँ के अनेक सरल मुसलमानों ने सती जी के धर्मोपदेश सुनकर हिंसा करने व शराब पीने का त्याग किया।

सती जी का मुख्य कथन यह है कि उधर के व्यक्ति इतने सरल और जिज्ञासु होते हैं कि वे तीव्र लगन पूर्वक तो उपदेश सुनते हैं और सुनने के पश्चात् अत्यन्त प्रभावित होते हुए अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करते हुए उनका त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। जबकि हमारे श्रावक जिन्दगी भर उपदेश सुनकर भी उन्हे क्रियान्वित नही कर सकते।

कहने का आशय यही है कि साधु अगर अनार्य देशो मे भी भ्रमण करे तो आर्य देशो मे रहने वाले व्यक्तियो से अधिक लाभ अनार्य कहलाने वाले लोग उठा सकते हैं। हमे और हमारे श्रमण सघ को गर्व है कि सती 'अर्चना' जी ने नारी होने पर भी हिमाचल और काश्मीर जैसे दुर्गम प्रदेशो मे जाने का साहस किया तथा सभी परिषहो का मुकाबला करते हुए वहाँ के अनेकानेक आर्य एव अनार्य लोगो को बोध-सूत्र देते हुए सत्पथ पर बढाया।

तो बधुओ, इसीलिये भगवान ने साधु को आदेश दिया है कि वह धर्म-प्रचार करने और अज्ञानी प्राणियो को उद्‌बोधन देने के लिये यत्र-तत्र भ्रमण करे। अगर वह ऐसा नही करेगा तो लोग जिन वचनों का लाभ नहीं उठा सकेंगे और धर्म के स्वरूप को नही समझ पाएँगे। [illegible] एक ही [illegible] रहने से वहाँ के व्यक्तियो मे साधु का मोह बढ स[illegible] स्था[illegible] परिग्रह बढने की सम्भावना भी रहती है।

ससार छोडा। तो, जो घर-बार छोड देते हैं उनमे सग्रह की वृत्ति नही रहती। उस वृत्ति के स्थान पर सतोष एव शाति का आगमन हो जाता है।

अभी-अभी चोपडा साहब ने कहा—"सतो की तरफ देखने से सतोष होता है। धन तो अमरीका और रशिया मे बहुत है, लेकिन वहाँ शाति और सुख नही है। वहाँ के लोगों को नीद नहीं आती और नीद लेने के लिये गोलियाँ लेनी पड़ती है।"

चोपडा साहब का कथन यथार्थ है। हमारा भारत धर्म प्रधान देश है और धर्म के मुख्य लक्षण सतोष, अपरिग्रह और त्याग हैं। भारत के निवासी अपनी सस्कृति के अनुसार यथाशक्य धर्माराधन करते हैं तथा अत्यधिक तृष्णा, आसक्ति और गद्धता से बचते हैं। यद्यपि भारत के सभी व्यक्ति ऐसा नही कर पाते किन्तु अधिकाश व्यक्ति धर्म के मर्म को समझते हैं तथा वे चाहे जैन हो, वैष्णव हो या अन्य किसी मत के पर अपने धर्म-शास्त्रों का पारायण करते हैं अत त्याग की महत्ता को समझने लगते हैं। भारत के सभी मुख्य धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एव सदाचार को महत्त्व देते हैं। उसी का परिणाम यह है कि भारत मे प्रत्येक समय पर अनेक महा-पुरुष दिखाई देते हैं। भारत-भूमि मे ही महावीर, कृष्ण, राम एव बुद्ध आदि ने जन्म लिया है जिनके अनुयायी आज भी अपने धर्म को, आचार-विचार को एव सस्कृति को अपनाते हैं तथा अपने जीवन को आदर्श बनाने मे समर्थ होते है। वे ससार की असारता को समझते हैं तथा हमेशा इसी चिन्तन मे लीन रहते कि यहा पर जिनको मैं मेरा कहता हूँ, उनमे से कुछ भी मेरा नही है क्योकि सब यही छूट जाना है। मेरा केवल धर्म ही है जो साथ रहेगा।

सस्कृत मे एक श्लोक कहा गया है—

मम गृहवनमाला, वाजिशाला ममेयम्,
गजवृषभगणा मे, भृत्य सार्था ममेमे।
वदति सतिममेति मृत्युमापद्यसे चेद्,
नहि तव किमपि स्यात् धर्ममेकविनान्यत्॥

इस श्लोक में भारतभूषण शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने पठनीय भावनाशतक मे कहते हैं—ये मेरे मकानों की पक्तियाँ है, ये मेरे घोडो की घुडसाल है, मेरे इतने हाथी, घोडे और बैल हैं तथा सेवा मे सेवको का इतना बडा समूह है। इस प्रकार कहकर व्यक्ति गर्व से फूला नही समाता, किन्तु जब उसकी मृत्यु का समय आता है तो वे मकान, हाथी, घोडे, बैल तथा ऐश्वर्य क्या उसके काम आता है? क्या कुछ भी उसके साथ चलता है? नही, कवि का कहना है कि एक

धर्म के विना और कुछ भी उसका अपना नही है। धर्म ही उसका सच्चा साथी है और वही उसे शाश्वत सुख प्रदान करने वाला है।

आदिपुराण मे भी वताया है।

धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरङ्गिनाम्।
तस्माद् धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि॥

—१०/१०९

अर्थात्-धर्म ही मनुष्य का सच्चा वधु है, मित्र है और गुरु है। इसलिये स्वर्ग एव मोक्ष के सुख देने वाले धर्म मे वुद्धि को स्थिर करना चाहिये।

वस्तुतः यह ससार और यहाँ तक कि शरीर भी जीवात्मा का नही है। शरीरो की प्राप्ति तो अनेको वार हो चुकी है और हर वार वे आत्मा का साथ छोड चुके हैं तव फिर यह मनुष्य शरीर ही कव आत्मा के साथ रहने वाला है। यह तो केवल कारागार है जो कुछ समय तक उसे अपने मे कैद रखना है। एक गुजराती के कवि ने भी आत्मा को पोपट यानी तोते की सज्ञा देते हुए उसे समझाया है—

हे पोपट, आ पिंजर नहि तारू अन्ते उडि जावु पर थारू।
छे, परनू पण परिचय थी तू, मानी बैठो मारूं,
क्या ने तू क्या नू ये पिंजर, जो समजे तो सारूं।

कवि कहता है—अरे पोपट! तू जिस शरीर को अपना समझ रहा है, यह शरीर तेरा नही है। यह तो केवल पिंजरा है, जिसमे तू अभी कैद है और अत मे एक दिन इसे छोडकर तुझे उड जाना पडेगा।

इसलिये तू भली-भांति यह समझ ले कि तू क्या है और ये शरीर रूपी पिंजरा क्या है। यानी तू तो अनन्त शक्तियो से सम्पन्न और अनत ज्ञान से युक्त ऐसी आत्मा है जो यद्यपि अनन्त काल से कर्मो का भार लिये ससार-परिभ्रमण कर रही है, किन्तु चाहे तो क्षण मात्र मे कर्म-मुक्त होकर सिद्ध स्थान प्राप्त कर सकती है, पर यह शरीर जड है और किसी समय तेरा साथ छोडकर मिट्टी मे मिल सकता है।

आगे कहा है—

मास रुधिरमय अति दुर्गन्धि, नरक समान नठारू,
तेने तू कचन सम माने, आवडू सू अधारू?

शरीर कैसा है यह वताते हुए कहा है—यह देह मास एव रुधिर से निर्मित अत्यन्त अशुचिकर और दुर्गंधमय है। यहाँ तक कि नरक से भी अधिक निकृष्ट है। फिर भी व्यक्ति इसे कंचन के समान सुन्दर मानता है, यह उसके अज्ञान-रूपी अधकार

का परिणाम है। कितने खेद की बात है। इसीलिये महापुरुष शरीर की वास्तविकता को जानकर उससे मोह छोड देते हैं।

अब वह बात नहीं है

हमारे शास्त्रो मे सनत्कुमार चक्रवर्ती का उदाहरण आता है कि वे अत्यधिक सौन्दर्य के धनी थे। उनके अद्वितीय रूप को देखने के लिये स्वर्ग से देवता भी मृत्यु-लोक मे आया करते थे।

एक बार एक देव के हृदय मे भी यही भावना आई कि सनत्कुमार जी के सौन्दर्य की बडी प्रशसा सुनी जाती है अत. मैं भी उनके उस असाधारण रूप को देखूँ।

यह विचार आते ही वह ब्राह्मण का वेश धारण करके सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्य मे आया और उनके महल तक जा पहुँचा। महल के द्वार तक पहुँचकर उसने अन्दर महाराज को सूचना भिजवाई कि एक ब्राह्मण बहुत दूर से आपके दर्श-नार्थ आया है। महाराज ने उस ब्राह्मण वेशधारी देव को अन्दर बुलवाया। और उससे मुलाकात की।

जिस समय चक्रवर्ती सनत्कुमार ब्राह्मण से मिले उस समय वे स्नानादि के लिये जा रहे थे और शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषणों को उन्होने धारण नही किया था। किन्तु ब्राह्मण ने जब उनके दर्शन किये तो वह गद्गद् होकर बोल उठा—

"महाराज ! आपका सौन्दर्य मैंने जैसा सुना था वैसा ही अनुपम एव अतुल-नीय है। ससार का कोई भी व्यक्ति आपके सौन्दर्य के समक्ष नही ठहर सकता। धन्य हैं आप जिन्हे विधि ने सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही स्थान पर एकत्र कर आपके शरीर का निर्माण किया है।"

ब्राह्मण के वचन सुनकर चक्रवर्ती महाराजा गर्व से भर गए और बोले— "ब्राह्मण देवता ! अभी आपने मेरे रूप को बराबर कहाँ देखा है ? इस समय तो मेरे शरीर पर न सुन्दर वस्त्र हैं और न आभूषण ही। अगर मेरा सौन्दर्य ही देखना है तो जब मैं वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर दरबार मे आऊँ तब देखना।" ब्राह्मण राजा की बात सुनकर पुन दरबार में आने का कहकर वहाँ से चला गया।

समय पर दरबार लगा और चक्रवर्ती सनत्कुमार बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दरबार मे आए। सचमुच ही उनका सौन्दर्य उस समय अनेक गुना अधिक दिखाई दे रहा था।

महाराज सिंहासन पर बैठे और उसके पश्चात् समस्त दरबारी भी अपने-

अपने स्थान पर आसीन हुए। सनत्कुमार जी ने अपनी दृष्टि फैलाई तो देखा कि दरबार मे एक ओर वह ब्राह्मण भी बैठा है, जो प्रात काल महल मे उनके दर्शनार्थ आया था। उसे देखकर उन्हें सुवह की घटना एव ब्राह्मण की की हुई प्रशसा याद आई और उन्होने सकेत से ब्राह्मण को अपने समीप बुलाया। ब्राह्मण तुरन्त अपना स्थान छोडकर महाराज के समीप आया और हाथ जोडकर खडा हो गया।

चक्रवर्ती महाराज ने वडे गर्व से कहा—

"अव मेरे रूप को देखो ब्राह्मण देव ! क्या प्रात काल की अपेक्षा यह अनेक गुना अधिक नही वढ गया है ?"

"नही, अव तो वह वात नही रही महाराज ! इस समय आपका रूप वह नहीं रहा जो सुवह था।"

ब्राह्मण की बात सुनकर तो सनत्कुमार मानो आकाश से गिर पडे। घोर विस्मय से वह वोले—"यह क्या कह रहे हैं आप ? मेरा रूप वह कैसे नही रहा जो पहले था ?'

ब्राह्मण नम्रता से वोला —"महाराज, एक पीकदान मँगवाइये।"

जव पीकदान आ गया तो ब्राह्मण ने कहा—

"अव इसमे आप थूकिये महाराज !" महाराज ने उसमे थूक दिया। पर ब्राह्मण के सकेत पर उन्होने देखा कि उनके थूक मे सैकडो कीडे बिलविला रहे हैं।

"यह क्या वात है ब्राह्मण देवता ! ये कीडे कैसे हैं इस थूक मे ?"

"ये कीडे आपकी उन वीमारियो के है जो आपके शरीर मे पैदा हो गई हैं। आपका सौन्दर्य तो ऊपरी है। इसके अन्दर तो केवल मास, मज्जा, रुधिर एव अन्य दुर्गंधिपूर्ण वस्तुएँ ही हैं, जिन्हे किसी भी समय रोग घेर सकता है।' ब्राह्मण ने शातिपूर्वक महाराज को समझाया।

यह सुनते ही चक्रवर्ती सनत्कुमार की आँखें खुल गई और उनकी समझ मे आ गया कि शरीर के ऊपरी सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं है। इसके अन्दर तो समस्त घिनौनी और अशुद्ध वस्तुएँ भरी हुई हैं जो किसी भी क्षण विकृत होकर रोगो के रूप मे सामने आ सकती हैं। इतना ही नही वे रोग इस शरीर को कुरूप वना सकते हैं तथा नष्ट भी कर सकते हैं। यह विचार आते ही उन्होने निश्चय कर लिया कि शरीर के इस नश्वर सौन्दर्य का मोह छोडकर मैं आत्मा के अनश्वर सौन्दय को निखारूँगा, ताकि वह कभी मिट न सके और आत्मा को सदा के लिए रोग-शोक से मुक्त कर सके।

तो कवि ने भी शरीर की वास्तविकता बताते हुए इस देह के ऊपरी रूप को ही सब कुछ न मानकर आतरिक घृणित वस्तुओ पर ध्यान देने को कहा है तथा ज्ञानपूर्वक मनन करते हुए इससे लाभ उठाने की प्रेरणा दी है। आगे कहा है—

बीजा जोया एवू आ पण, नामे केवल न्यारूं।
सर्व प्रकारे साचवतो पण आखर छे पडनारूं।
सारासार विचार करो तो भवसागर नू वारूं,
केशव हरि कारीगर तेनू, जीव विश्वमा सभारूं॥

कहते हैं कि जिस प्रकार हम औरो के शरीर को नष्ट होता हुआ देखते हैं, उसी प्रकार हमारा शरीर भी नष्ट होने वाला है। इसकी चाहे जितनी सार-सभाल करें पर एक दिन तो यह जाएगा ही। शरीर सभी के नश्वर हैं और एक जैसे हैं। केवल नाम ही अलग-अलग हैं।

इसलिए कवि जीवात्मा को सबोधित करता हुआ कहता है कि—'तू ससार मे सार क्या है और असार क्या है, इस बात को समझ तथा सार को ग्रहण करके असार का त्याग कर दे। सार ही ससार सागर से पार उतारने वाली नौका के समान है, अत उसे ग्रहण करके पार उतरने का प्रयत्न कर।'

प्रश्न होता है कि आखिर सार यहाँ पर क्या है ? इसका उत्तर बडे विस्तार से दिया जा सकता है पर हमे सक्षेप मे इस प्रकार समझना है कि आत्मा से भिन्न जो भी वस्तुएँ हमे दिखाई देती हैं वे सब असार हैं और आत्म-रूप के समीप ले जाने वाली भावनाएँ सार-रूप है। आत्मा के गुण ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना करना तथा सवर-मार्ग को अपनाकर कर्मों की निर्जरा करना ही सार है। पर यह तभी होगा जब कि व्यक्ति बाह्य पदार्थों से सुख प्राप्त करने की इच्छाओ का त्याग करे तथा द्रव्य, मान एव कीर्ति आदि की कभी आकाक्षा न करे। एक उदाहरण है—

भगवद्गीता का सार

एक विद्वान ब्राह्मण किसी राजा के पास पहुँचा और उनसे बोला—"महाराज! मैंने धर्मग्रन्थो का बहुत अध्ययन किया है अत मैं आपको भगवद्गीता पढाना चाहता हूँ।"

राजा भी होशियार था। उसने सोचा—जो व्यक्ति गीता का गभीर अध्ययन कर ले, वह राज-दरबार मे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकाक्षा नही कर सकता। अतः उसने उत्तर दिया—"महाराज! मैं आपको अपना शिक्षक अवश्य बनाऊँगा, किन्तु अभी आप गीता का पूरा अध्ययन कर लें।

ब्राह्मण राजा की बात सुनकर चला गया, लेकिन मन मे विचार करता गया कि राजा मूर्ख है अत कहता है कि गीता का पूर्ण अध्ययन करो, जबकि मैं गीता को अच्छी तरह से उसे समझा सकता हूँ। पर राजा ने कह दिया था अत उसने फिर कई बार गीता को पढ़ा और कुछ दिन बाद पुन राजा के पास अपने पूर्व उद्देश्य को दोहराया।

पर आश्चर्य कि राजा ने फिर कह दिया—"पडित जी, आप अभी और गीता को अच्छी तरह पढिये।"

ब्राह्मण को राजा की बात सुनकर आश्चर्य तो हुआ पर क्रोध नही आया। उसने सोचा कि राजा के इस कथन मे गूढ रहस्य होना चाहिये। वह घर आ गया और बडी तन्मयता से पुन पुन गीता को पढने लगा।

धीरे-धीरे उसे समझ मे आ गया कि धन-दौलत एव मान-प्रतिष्ठा आदि के लिये दरबार मे जाना निस्सार है। गीता पढ़ने का सार यही है कि अधिक से अधिक आत्म-चिन्तन किया जाय।

जब ब्राह्मण की समझ मे यह बात आ गई तो वह दिन-रात दत्तचित्त होकर ईश्वर की आराधना और आत्म-चिंतन करने लगा। राजा के पास गया ही नही।

कुछ वर्षों बाद राजा को ब्राह्मण का स्मरण हुआ और वह उसकी खोज करता हुआ ब्राह्मण के घर जा पहुँचा। वहाँ पर आंतरिक ज्ञान एव अखड श्रद्धा के कारण उत्पन्न हुए ब्राह्मण के दिव्य तेज को देखकर राजा ब्राह्मण के चरणो पर गिर पडा और बोला—"गुरुदेव! अब आपने गीता का सार समझ लिया है अत मुझे अपना शिष्य बनाकर कृतार्थ कीजिये।"

बन्धुओ, आप भी समझ गए होगे कि वास्तव मे धर्म का सार क्या है और उसे किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है। सच्चे सत भी उसी प्रकार ससार मे जो असार है उसे छोडकर सार को ग्रहण करते हैं तथा आत्म-चिंतन करते हुए मन के समस्त विकारो को एव आसक्ति तथा परिग्रहादि को छोडकर आध्यात्मिक दृष्टि से अकेले विचरण करते हैं। ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए वे किसी भी परिषह से घबराते नही हैं तथा धर्म के प्रचार का उद्देश्य लिये हुए आर्य एव अनार्य प्रदेशो को समान समझते हुए यथाशक्य विचरते हैं।

२९ | महल हो या मसान…!

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

कल के प्रवचन मे हमने नवें परिषह के विषय मे बात की थी जिसमे बताया गया था कि साधु ग्रामानुग्राम मे विचरण करे तथा राग-द्वेष एव आसक्ति आदि से रहित होकर निस्सग भ्रमण करे।

आज हमारे सामने बाईस परिषहो मे से दसवाँ परिषह आता है। इस परिषह का नाम है—'नैषेधिकी परिषह।' इस विषय में गाथा है—

> सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ ।
> अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए पर ॥
>
> —उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २-२०

अर्थात्—साधु श्मशान मे, शून्य घर मे या वृक्ष के मूल मे किसी प्रकार की भी कुचेष्टा को न करता हुआ राग-द्वेष से रहित अकेला ही बैठे और किसी भी प्रकार से अन्य जीवो को त्रास न देवे।

भगवान महावीर ने जिस प्रकार साधु को चर्या परिषह सहन करने का आदेश दिया है, उसी प्रकार नैषेधिकी परिषह को भी पूर्ण समभाव एव शातिपूर्वक सहन करने के लिए कहा है। उन्होंने फरमाया है कि साधु को सयोगवश अगर शून्य घर मे, वृक्ष के नीचे या श्मशान भूमि मे भी ठहरना पडे तो नि शल्य होकर ठहरे। और वहाँ पर किसी भी प्रकार की कुचेष्टा न करे। क्योकि ऐसा करने से प्रथम तो मन अस्थिर होता है तथा चचलता बढती है, दूसरे अन्य जीवो की हिंसा होने का भय रहता है।

इसी विषय मे दूसरी गाथा इस प्रकार है—

तत्थ से अत्थमाणस्स उवसग्गाभिधारए ।
सकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासण ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २. गा. २१

गाथा मे कहा गया है—उक्त स्थानो मे बैठे हुए साधु को यदि कोई उपसर्ग आ जावे तो साधु उनको सहन करे किन्तु किसी प्रकार की शका से भयभीत होकर वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर न जावे ।

तात्पर्य यही है कि श्मशान या अन्य निर्जन भूमि मे बैठे हुए साधु को कदाचित् किसी प्रकार का उपसर्ग आए या देवादि उन्हे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाएँ तो भी वह उनसे भयभीत न हो तथा वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाने का विचार न करे । क्योकि अगर साधु उपसर्गों से भयभीत होकर इधर-उधर जाने का प्रयत्न करेगा तो उसके स्वाध्याय तथा ध्यान आदि मे बाधा पडेगी । इसलिये उपसर्गों को अपना परीक्षाकाल समझ कर उनको तुच्छ समझे और उन पर विजय प्राप्त करे ।

वास्तव मे ही हम साधुओ को अनेक बार ऐसे स्थानो पर रहने का अवसर आता है । साधु कभी तो आलीशान मकान मे रहता है और कभी टूटी झोपड़ी भी उसे नसीब नही होती । लेकिन फिर भी हमे कोई दुख महसूस नही होता । हर स्थिति मे आनन्द का अनुभव होता है । फकीरी मे आनन्द भी तभी आता है ।

एक पजाबी कवि ने भी फकीरी की मस्ती का वर्णन करते हुए लिखा है—

वाह, वाह, जी मौज फकीरा दी !
कभी पौढते रगमहल मे, कभी घास झूपड़ियाँ दी ।
कभी ओढ़ते शाल-दुशाले, कभी गुदडियाँ लीराँ दी ।
कभी चाबते चना चबेना, कभी लपक ले सीराँ दी ।
बड़े-बडे राजा महाराजा, धूल लगावत चरणा दी ।

इस भजन मे बताया गया है कि फकीरो की मस्ती का क्या कहना है, वे तो हर हाल मे मौज से रहते हैं । वह किस प्रकार ? इस प्रकार कि कभी-कभी तो बडे नगरो मे उन्हे विशाल बिल्डिगें रहने को मिलती है और गाँवो मे भी गढ और महलो मे ठहरने का अवसर मिलता है, किन्तु कभी-कभी घास-फस की झोपडिया भी नही मिलती तथा वृक्षो के नीचे या श्मशानो मे भी रहना पडता है

इसी प्रकार चातुर्मास आदि मे आहार मे मेवा-मिष्टान्न भी आता है और

विहारो मे जब वे होते हैं तो मुट्ठीभर चने मिलने भी मुश्किल हो जाते हैं। यही हाल वस्त्रो का है जब मिलता है तो अच्छा वस्त्र प्राप्त हो जाता है और जब नही मिलता तो सी-साकर भी समय निकालना पडता है।

किन्तु बधुओ ! यही कारण है, अर्थात् उनके त्यागमय जीवन का प्रभाव ही है कि बडे-बडे राजा-महाराजा भी उनके सामने विनत होते हैं और उनके चरणो की धूल अपने मस्तक पर चढाते हैं। अनेक सामारिक व्यक्ति जो ससार से उदासीन तो होते हैं किन्तु उससे छुटकारा प्राप्त नही कर पाते। वे सदैव तरसते हैं कि वह दिन कब आएगा जब हम इन सासारिक झमेलो से मुक्त होकर फकीर बन जाएँगे और निश्चित होकर भगवान की आराधना मे समय गुजारेंगे।

श्री भर्तृहरि ने भी अपने श्लोक मे विरक्त पुरुपो की भावनाओ का चित्रण किया है—

> वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदया
> स्मरन्तः ससारे विगुण परिणामा विधिगतीः।
> वय पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्र किरणै—
> स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥

भव्य पुरुषों की भावना रहती है कि कब हम सर्वस्व त्यागकर करुणापूर्ण हृदय से ससार और ससार के पदार्थों को सारहीन समझकर केवल शिवचरणो को अपना रक्षक समझते हुए शरद्चन्द्र की चाँदनी मे किसी पवित्र वन में बैठे हुए रातें बिताएँगे ?

कहने का अभिप्राय यही है कि सत जीवन और दूसरे शब्दो मे त्यागमय जीवन इतना पवित्र और कल्याणकारी होता है कि उसको अपनाने के लिये मुमुक्षु प्राणी तरसते रहते हैं।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि भगवान के आदेशानुसार साधु को किसी भी निर्जन स्थान, मदिर या श्मशान भूमि मे ही क्यो न रहना पडे उन्हे बिना किसी भय और व्याकुलता के ठहरना चाहिये तथा कष्टो या उपसर्गों की परवाह किये बिना अपने समय पर चिन्तन-मनन, स्वाध्याय आदि कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हम लोगो को विचरण करते समय अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं।

सोजत की एक घटना है कि वहाँ पर एक तपस्वी मुनि को रात्रि मे ठहरना था। पूछताछ करने पर किसी व्यक्ति ने कोई बडा भारी किन्तु पूरी तरह सूना मकान ठहरने के लिये बताया। मकान सूना इसलिये था कि उस घर मे उसके मृत मालिक का उत्पात होने से कोई व्यक्ति उसमें रहने की हिम्मत नही करता था।

तपस्वी मुनि को तो इस बात का पता था नही, और होता भी तो सत उपसर्गों से कभी घबराते नही, किन्तु मुनि को मकान बताने वाले व्यक्ति के मन मे उन पर घटने वाले उत्पात के द्वारा तमाशा देखने की भावना थी। खैर—मुनि निस्सकोच उस व्यक्ति से आज्ञा लेकर वहाँ ठहर गये।

वैसे मकान के विषय मे लोगो का कहना असत्य नहीं था कि उसके मालिक की इच्छा उसमे रह गई थी अत वह वहाँ रहने के लिये आने वाले व्यक्तियो को परेशान करता था और नाना प्रकार के उपद्रव करके उन्हें टिकने नही देता था। कहा भी जाता है—'जहाँ आशा वहाँ वासा।' इस उक्ति के अनुसार उस घर का मालिक वहाँ वास करता था।

हमारे ज्ञाता धर्म कथा सूत्रो मे नन्दन मणियार का वर्णन आता है कि उसने धर्मशालाएँ, कुँए तथा बावडी आदि बनवाई, किन्तु उन्हें वह देख नही पाया, अत उन्हे देखने की इच्छा लिये हुए मर जाने के कारण वह अपने कुए मे ही मेढ़क बन गया।

इसी प्रकार सोजत मे जिस मकान मे तपस्वी मुनि ठहरे थे उसमे वहाँ के मालिक की आत्मा मडराती रहती थी। मुनि वहाँ ठहर तो गये किन्तु रात्रि होने पर उसके मालिक ने आकर मुनि को तग करना ही नही मार डालने का भी प्रयत्न किया। किन्तु मुनि साधारण मुनि नही वरन तपस्वी थे और तप की महिमा देवताओ को भी रक्षा करने के लिये बाध्य कर देती है। इसलिये मकान का मृत मालिक मुनि की कुछ भी हानि नही कर सका पर उनसे बोला—

"महाराज! आपको नमस्कार है, पर आप मेरे घर मे क्यों ठहरे? मैं तो किसी को भी यहाँ ठहरने नही देता।"

मुनिराज ने शाति से उसकी बात सुनी और फिर मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कहा—"भाई! मुझे तो किसी व्यक्ति ने वहाँ ठहरने की आज्ञा दी थी अत मैं ठहर गया। पर इस घर से तुम्हारा इतना मोह था तो तुम इसे अपने साथ क्यों नही ले गये? और जब साथ नहीं ले जा सके तो फिर अब दूसरो को दुख देकर क्यो अपने पाप-कर्मों की शृंखला बढ़ा रहे हो? मेरा तो तुम्हे यही कहना है कि तुम अपने अब तक के किये पापो का पश्चात्ताप करो तथा अपने स्थान पर जाओ।"

इस प्रकार मुनिराज ने उस आत्मा को बोध देते हुए अपनी साधना के साथ रात्रि व्यतीत की।

कहने का साराश यही है कि साधुओं को अवसर आने पर किसी भी

पूज्य श्री जयमल जी महाराज एक महान् सत थे और उन्होंने अपने दीक्षा काल मे सोलह वर्ष तक एकातर तप किया, तथा बावन वर्ष तक सोये नही थे। अर्थात् दिन या रात मे कभी भी नीद नही लेते।

वे विचरण करते हुए एक बार बीकानेर की तरफ पधारे। उन दिनो बीकानेर मे यतियो का प्रभाव था। यति लोगो को जैसे ही जयमल जी महाराज के उधर आने का समाचार मिला उन्होने महाराज श्री को बीकानेर शहर मे आने से रोकते हुए स्पष्ट कह दिया—

दरवाजा के भीतर तुमको धरवादा नहीं पैर।
करना हो जो करलो सता आ पडो बीकानेर हो—
जाने दा नाहीं हरगिज अन्दर मे बीकानेर के ।

यतियो की यह बात सुनकर श्री जयमल जी महाराज न आवेश मे आए और न ही उन्होने किसी प्रकार का आग्रह किया। केवल यही कहा—

समता सागर पूज्य पयपं करा नहीं तकरार।
राजा जी को हुकम होसी तो करसा यहाँ से बिहार हो-
क्यू थे यू बरजो जातां अदर मे बीकानेर के ॥

सिर्फ इतना कहकर पूज्य जयमल जी महाराज शहर से बाहर श्मशान मे जो छतरियाँ बनी हुई थी, उन्ही मे एक कुम्हार से आज्ञा लेकर ठहर गये।

और फिर क्या हुआ ? पूरे आठ दिन तक अपने शिष्यो सहित वे बिना अन्न और जल लिये वही श्मशान की छतरियो मे ठहरे रहे।

कितना कठिन परिषह उन्हें उठाना पडा ? आज व्यक्ति अन्न के अभाव मे तो फिर भी कुछ दिन गुजार लेता है, पर जल के बिना शरीर की क्या स्थिति होती है यह अदाज अनुभव के बिना नही किया जा सकता। पर वे सच्चे सत थे अत भूख-प्यास के ऐसे जबर्दस्त परिषह के सामने भी नही झुके और न ही उन्होने कही अन्यत्र जाने का विचार किया। पूर्ण शाति और समतापूर्वक तपाराधन करते हुए वे अपने ज्ञान-ध्यान एव आत्म-चिंतन मे लगे रहे।

यहाँ आपको यह बताना आवश्यक है कि जोधपुर के दीवान साहब की पुत्री रामकुँवर बाई थी और वह बीकानेर के दीवान को ब्याही गई थी। जिस समय श्री जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे उस समय रामकुँवर बाई के पुत्र दीवान के पद पर थे। महाराज श्री विशेषकर रामकुँवर बाई की प्रबल विनती के कारण ही बीकानेर की ओर पधारे भी थे।

तपस्वी मुनि को तो इस बात का पता था नही, और होता भी तो सत उपसर्गों से कभी घबराते नही, किन्तु मुनि को मकान बनाने वाले व्यक्ति के मन मे उन पर घटने वाले उत्पात के द्वारा तमाशा देखने की भावना थी। खैर—मुनि निस्सकोच उस व्यक्ति से आज्ञा लेकर वहाँ ठहर गये।

वैसे मकान के विषय मे लोगो का कहना असत्य नहीं था कि उसके मालिक की इच्छा उसमे रह गई थी अत वह वहाँ रहने के लिये आने वाले व्यक्तियो को परेशान करता था और नाना प्रकार के उपद्रव करके उन्हे टिकने नही देता था। कहा भी जाता है—'जहाँ आशा वहाँ वासा।' इस उक्ति के अनुसार उस घर का मालिक वहाँ वास करता था।

हमारे ज्ञाता धर्म कथा सूत्रो मे नन्दन मणियार का वर्णन आता है कि उसने धर्मशालाएँ, कुँए तथा बावडी आदि बनवाई, किन्तु उन्हे वह देख नही पाया, अत उन्हें देखने की इच्छा लिये हुए मर जाने के कारण वह अपने कुए मे ही मेढक बन गया।

पूज्य श्री जयमल जी महाराज एक महान् सत थे और उन्होने अपने दीक्षा काल मे सोलह वर्ष तक एकातर तप किया, तथा बावन वर्ष तक सोये नही थे। अर्थात् दिन या रात मे कभी भी नींद नही लेते।

वे विचरण करते हुए एक बार बीकानेर की तरफ पधारे। उन दिनो बीकानेर मे यतियो का प्रभाव था। यति लोगो को जैसे ही जयमल जी महाराज के उधर आने का समाचार मिला उन्होने महाराज श्री को बीकानेर शहर मे आने से रोकते हुए स्पष्ट कह दिया—

दरवाजा के भीतर तुमको धरवादा नहीं पैर।
करना हो जो करलो सता आ पडी बीकानेर हो--
जाने दा नाहीं हरगिज अन्दर मे बीकानेर के ।

यतियों की यह बात सुनकर श्री जयमल जी महाराज न आवेश मे आए और न ही उन्होने किसी प्रकार का आग्रह किया। केवल यही कहा—

समता सागर पूज्य पयपै करा नहीं तकरार।
राजा जी को हुकम होसी तो करसा यहाँ से बिहार हो-
क्यू थे यू बरजो जातां अदर मे बीकानेर के '॥

सिर्फ इतना कहकर पूज्य जयमल जी महाराज शहर से बाहर श्मशान मे जो ाँ बनी हुई थी, उन्ही मे एक कुम्हार से आज्ञा लेकर ठहर गये।

और फिर क्या हुआ ? पूरे आठ दिन तक अपने शिष्यो सहित वे विना अन्न ल लिये वही *श्मशान* की छतरियो में ठहरे रहे।

कितना कठिन परिपह उन्हे उठाना पडा ? आज व्यक्ति अन्न के अभाव मे र भी कुछ दिन गुजार लेता है, पर जल के विना शरीर की क्या स्थिति होती अदाज अनुभव के विना नही किया जा सकता। पर वे सच्चे सत थे अत ास के ऐसे जवर्दस्त परिपह के सामने भी नही झुके और न ही उन्होने कही जाने का विचार किया। पूर्ण शाति और समतापूर्वक तपाराधन करते हुए वे ज्ञान-ध्यान एव आत्म-चितन मे लगे रहे।

यहाँ आपको यह वताना आवश्यक है कि जोधपुर के दीवान साहव की पुत्री 'वर वाई थी और वह बीकानेर के दीवान को ब्याही गई थी। जिस समय यमल जी महाराज बीकानेर पधारे उस समय रामकुँवर वाई के पुत्र दीवान पर थे। महाराज श्री विशेषकर रामकुँवर वाई की प्रवल विनती के कारण कानेर की ओर पधारे भी थे।

किन्तु दुख की बात रही कि जयमल जी महाराज के बीकानेर की सूचना भी रामकुंवर बाई को नहीं मिली थी और उनके गुरुदेव पूज्य श्री जयमल भी महाराज भूखे-प्यासे श्मशान मे ही आठ दिन तक ठहर रहे।

किन्तु आठ दिन के बाद सयोगवश रामकुंवर बाई अपनी दासी के साथ रथ मे बैठकर कही जा रही थी और रथ श्मशान के समीपस्थ मार्ग से गुजर रहा था। उस समय दासी की दृष्टि छतरियो की ओर उठी और उसने फौरन रामकुंवर बाई से कहा—

"बाई जी! देखिये, श्मशान की छतरियो मे तो कोई अपने जैन मुनि विराजे हुए दिखाई दे रहे हैं।"

रामकुंवर बाई यह बात सुनकर बुरी तरह चौंकी और पर्दा हटाकर देखा सचमुच ही वहाँ जैन सत विराजे दिखाई दिये। वह बदहवास-सी उसी क्षण रथ से उतर पडी और सतो के दर्शनार्थ पहुची। पास जाकर जब उसने देखा कि सत उसके गुरु पूज्य श्री जयमल जी महाराज ही हैं और वे आठ दिन से अन्न-जल के अभाव से भी बिना किसी दुश्चिन्ता के अठाई तप का आराधन कर रहे हैं तो उसकी आँखो से आँसुओ की अविरल जल-धारा बह चली और वह बोली—"भगवन्! मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मुझे आपके पधारने का पता ही नही चला और आप भी इतनी तकलीफ और परिषह यहाँ उठा रहे हैं। आप शहर मे क्यो नही पधारे?"

मधुर मुस्कान सहित जयमल जी महाराज ने उत्तर दिया—

मैं तो उण दिन ही आ जाता
वरज्या जती हमने आता
यह सुनकर बाई अति दुख पाई आई महल मे…।

गुरुदेव की यह बात सुनकर रामकुंवर बाई अत्यन्त दुखी हुई और उलटे पैरो अपने महल मे आ गई। किन्तु उसी क्षण से उसने अन्न-जल त्याग दिया और अपने दीवान पुत्रो को धिक्कारते हुए कहा—"क्या लाभ है तुम्हारी दीवानी जैसे इतने बडे पद से? जबकि हमारे ही गुरु हमारे शहर मे न आ सकें और आठ दिन अन्न-जल के अभाव मे श्मशान मे रह रहे हैं। अब मैं तो तभी अन्न और पानी ग्रहण करूंगी जब मेरे गुरु मेरे हाथ से आहार लेंगे। अन्यथा मैं भी प्राण त्याग करूंगी।"

रामकुंवर बाई के पुत्र बडे मातृभक्त थे। उन्होंने माता से सब हाल [illegible] उसी क्षण वहाँ के राजा से कहा—"अपनी दीवानी सम्हाल लीजिये। ह[illegible]

महल हो या मसान !

अधिकार का क्या करेंगे जबकि हमारे सत ही हमारे नगर मे यतियो के कारण नहीं
आ सके हैं।''

बीकानेर के राजा को भी सारा हाल सुनकर अतीव दुख हुआ और उन्होंने
उसी समय आज्ञा देते हुए कहा—''आपको दीवान पद छोड़ने की आवश्यकता नही
है। आप अविलम्ब जाइये और अपने गुरु महाराज को घूमधाम से शहर मे ले
आइये।''

यही हुआ भी, रामकुंवर बाई, उनके पुत्र तथा बहुसख्यक जनता महाराज
श्री की सेवा मे पहुची और धूम-धाम से 'जैनधर्म की जय' के नारे लगाते हुए वे
जयमल जी महाराज को शहर के अन्दर लाये। उस समय का वर्णन करते हुए कवि
ने कहा है—

जयमल आया मध्य बजारां,
जतियां री बात रही फीकी।
आय उतरिया राजमहल मे,
पूज्य जी री बात रही तीखी।
मास कल्प मुनि तिहा विराज्या,
गादी दिपाई जिनजी की।

पद्यो मे बताया गया है कि धर्म की सदा विजय होती है और इसीलिये
अनेक परिषह सहने के पश्चात् भी जयमल जी महाराज ठाट-बाट से शहर मे पधारे
तथा राजमहल मे ही ठहरे।

इस प्रकार यतियो को नीचा देखना पडा और वे अपने उपासरे बद करके
दुबक गये। अपने कल्प जितने समय तक महाराज श्री बीकानेर मे ठहरे तथा वहाँ
पर जिन भगवान के धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश करके लोगों को धर्म पर दृढ़ किया
और उसके पश्चात् वहाँ से लौटे। इस प्रकार नाना कष्ट सहकर सर्वप्रथम श्री
जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे और उन्होने ही भविष्य के लिये मार्ग खोला।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत विचरण करते समय अपने हृदय मे धर्म-
प्रचार की ही बलवती भावना रखते हैं तथा उस उद्देश्य के लिये चाहे उन्हें जगल में,
चाहे निर्जन मकानो में और चाहे श्मशानो मे भी क्यो न ठहरना पडे, वे अपनी
आन्तरिक मस्ती को कायम रखते हुए प्रतिकूल स्थिति मे भी प्रसन्न एव निश्चित
रहते हैं।

किन्तु दुख की वात रही कि जयमल जी महाराज के बीकानेर की सूचना भी 'रामकुंवर वाई को नही मिली थी और उनके गुरुदेव पूज्य श्री जयमल जी महाराज भूखे-प्यासे श्मशान मे ही आठ दिन तक ठहर रहे।

किन्तु आठ दिन के वाद सयोगवश रामकुंवर वाई अपनी दासी के साथ रथ मे वैठकर कही जा रही थी और रथ श्मशान के समीपस्थ मार्ग से गुजर रहा था। उस समय दासी की दृष्टि छतरियो की ओर उठी और उसने फौरन रामकुंवर वाई से कहा—

"वाई जी! देखिये, श्मशान की छतरियो मे तो कोई अपने जैन मुनि विराजे हुए दिखाई दे रहे हैं।"

रामकुंवर वाई यह वात सुनकर बुरी तरह चौकी और पर्दा हटाकर देखा सचमुच ही वहां जैन सत विराजे दिखाई दिये। वह वदहवास-सी उसी क्षण रथ से उतर पडी और सतो के दर्शनार्थ पहुची। पास जाकर जव उसने देखा कि सत उसके गुरु पूज्य श्री जयमल जी महाराज ही हैं और वे आठ दिन से अन्न-जल के अभाव से भी विना किसी दुश्चिन्ता के अठाई तप का आराधन कर रहे हैं तो उसकी आंखो से आंसुओ की अविरल जल-धारा वह चली और वह वोली—"भगवन्! मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मुझे आपके पधारने का पता ही नही चला और आप भी इतनी तकलीफ और परिषह यहां उठा रहे हैं। आप शहर मे क्यो नही पधारे?"

मधुर मुस्कान सहित जयमल जी महाराज ने उत्तर दिया—

मैं तो उण दिन ही आ जाता
वरज्या जती हमने आता
यह सुनकर वाई अति दुख पाई आई महल मे'''।

गुरुदेव की यह वात सुनकर रामकुंवर वाई अत्यन्त दुखी हुई अ[illegible]र उलटे पैरो अपने महल मे आ गई। किन्तु उसी क्षण से उसने अन्न-जल त्याग कि[illegible]या और अपने दीवान पुत्रो को धिक्कारते हुए कहा —"क्या लाभ है तुम्हारी दीवा[illegible]नी जैसे इतने वडे पद से? जवकि हमारे ही गुरु हमारे शहर मे न आ सकें और आ[illegible]ठ दिन अन्न-जल के अभाव मे श्मशान मे रह रहे हैं। अव मैं तो तभी अन्न और पान[illegible] ग्रहण करूंगी जव मेरे गुरु मेरे हाथ मे आहार लेंगे। अन्यथा मैं भी प्राण त्याग करू[illegible]गी।"

रामकुंवर वाई के पुत्र वडे मातृभक्त थे। उन्होंने माता से सव हाल [illegible] जानकर उसी क्षण वहां के राजा से कहा—"अपनी दीवानी सम्हाल लीजिये। हे[illegible] म इस

अधिकार का क्या करेंगे जबकि हमारे सत ही हमारे नगर मे यतियो के कारण नहीं आ सके हैं।"

बीकानेर के राजा को भी सारा हाल सुनकर अतीव दुख हुआ और उन्होंने उसी समय आज्ञा देते हुए कहा—"आपको दीवान पद छोडने की आवश्यकता नही है। आप अविलम्ब जाइये और अपने गुरु महाराज को धूमधाम से शहर मे ले आइये।"

यही हुआ भी, रामकुंवर बाई, उनके पुत्र तथा बहुसख्यक जनता महाराज श्री की सेवा मे पहुची और धूम-धाम से 'जैनधर्म की जय' के नारे लगाते हुए वे जयमल जी महाराज को शहर के अन्दर लाये। उस समय का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जयमल आया मध्य बजारां,
जतियां री बात रही फीकी।
आय उतरिया राजमहल मे,
पूज्य जी री बात रही तीखी।
मास कल्प मुनि तिहा विराज्या,
गादी दिपाई जिनजी की।

पद्यो मे बताया गया है कि धर्म की सदा विजय होती है और इसीलिये अनेक परिषह सहने के पश्चात् भी जयमल जी महाराज ठाट-बाट से शहर मे पधारे तथा राजमहल मे ही ठहरे।

इस प्रकार यतियो को नीचा देखना पडा और वे अपने उपासरे बद करके दुबक गये। अपने कल्प जितने समय तक महाराज श्री बीकानेर मे ठहरे तथा वहां पर जिन भगवान के धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश करके लोगो को धर्म पर दृढ़ किया और उसके पश्चात् वहां से लौटे। इस प्रकार नाना कष्ट सहकर सर्वप्रथम श्री जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे और उन्होंने ही भविष्य के लिये मार्ग खोला।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत विचरण करते समय अपने हृदय मे धर्म-प्रचार की ही बलवती भावना रखते हैं तथा उस उद्देश्य के लिये चाहे उन्हें जगल मे, चाहे निर्जन मकानो में और चाहे श्मशानो मे भी क्यो न ठहरना पडे, वे अपनी आन्तरिक मस्ती को कायम रखते हुए प्रतिकूल स्थिति मे भी प्रसन्न एव निश्चित रहते हैं।

किन्तु दुख की वात रही कि जयमल जी महाराज के वीकानेर की सूचना भी रामकुंवर वाई को नही मिली थी और उनके गुरुदेव पूज्य श्री जयमल भी महाराज भूखे-प्यासे श्मशान मे ही आठ दिन तक ठहर रहे ।

किन्तु आठ दिन के वाद सयोगवश रामकुंवर वाई अपनी दासी के साथ रथ मे वैठकर कही जा रही थी और रथ श्मशान के समीपस्थ मार्ग से गुजर रहा था। उस समय दासी की दृष्टि छतरियो की ओर उठी और उसने फौरन रामकुंवर वाई से कहा—

"वाई जी ! देखिये, श्मशान की छतरियो मे तो कोई अपने जैन मुनि विराजे हुए दिखाई दे रहे हैं ।"

रामकुंवर वाई यह वात सुनकर बुरी तरह चौंकी और पर्दा हटाकर देखा सचमुच ही वहाँ जैन सत विराजे दिखाई दिये । यह वदहवास-सी उसी क्षण रथ से उतर पडी और सतो के दर्शनार्थ पहुची । पास जाकर जब उसने देखा कि सत उसके गुरु पूज्य श्री जयमल जी महाराज ही हैं और वे आठ दिन से अन्न-जल के अभाव से भी विना किसी दुश्चिन्ता के अठाई तप का आराधन कर रहे हैं तो उसकी आँखो से आँसुओ की अविरल जल-धारा बह चली और वह वोली—"भगवन् ! मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मुझे आपके पधारने का पता ही नही चला और आप भी इतनी तकलीफ और परिपह यहाँ उठा रहे हैं । आप शहर मे क्यो नही पधारे ?"

मधुर मुस्कान सहित जयमल जी महाराज ने उत्तर दिया—

मैं तो उण दिन ही आ जाता
वरज्या जती हमने आता
यह सुनकर वाई अति दुख पाई आई महल मे" ।

गुरुदेव की यह वात सुनकर रामकुंवर वाई अत्यन्त दुखी हुई अ[illegible]र उलटे पैरो अपने महल मे आ गई । किन्तु उसी क्षण से उसने अन्न-जल त्याग कि[illegible]या और अपने दीवान पुत्रो को धिक्कारते हुए कहा —"क्या लाभ है तुम्हारी दीवा[illegible]नी जैसे इतने वडे पद से ? जवकि हमारे ही गुरु हमारे शहर मे न आ सकें और अ[illegible]ठ दिन अन्न-जल के अभाव मे श्मशान मे रह रहे हैं । अव मैं तो तभी अन्न और पान[illegible] ग्रहण करूंगी जव मेरे गुरु मेरे हाथ मे आहार लेंगे । अन्यथा मैं भी प्राण त्याग कर[illegible]गी ।"

रामकुंवर वाई के पुत्र वड़े मातृभक्त थे । उन्होने माता से सब हाल [illegible]नकर उसी क्षण वहाँ के राजा से कहा—"अपनी दीवानी सम्हाल लीजिये । [illegible]

अधिकार का क्या करेंगे जबकि हमारे संत ही हमारे नगर मे यतियो के कारण नही आ सके हैं।"

बीकानेर के राजा को भी सारा हाल सुनकर अतीव दुख हुआ और उन्होंने उसी समय आज्ञा देते हुए कहा—"आपको दीवान पद छोडने की आवश्यकता नहीं है। आप अविलम्ब जाइये और अपने गुरु महाराज को धूमधाम से शहर मे ले आइये।"

यही हुआ भी, रामकुंवर बाई, उनके पुत्र तथा बहुसंख्यक जनता महाराज श्री की सेवा मे पहुची और धूम-धाम से 'जैनधर्म की जय' के नारे लगाते हुए वे जयमल जी महाराज को शहर के अन्दर लाये। उस समय का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जयमल आया मध्य बजारां,
जतियां री बात रही फीकी।
आय उतरिया राजमहल मे,
पूज्य जी री बात रही तीखी।
मास कल्प मुनि तिहा विराज्या,
गादी दिपाई जिनजी की।

पद्यो में बताया गया है कि धर्म की सदा विजय होती है और इसीलिये अनेक परिषह सहने के पश्चात् भी जयमल जी महाराज ठाट-बाट से शहर मे पधारे तथा राजमहल मे ही ठहरे।

इस प्रकार यतियो को नीचा देखना पडा और वे अपने उपासरे बंद करके दुबक गये। अपने कल्प जितने समय तक महाराज श्री बीकानेर मे ठहरे तथा वहाँ पर जिन भगवान के धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश करके लोगो को धर्म पर दृढ़ किया और उसके पश्चात् वहां से लौटे। इस प्रकार नाना कष्ट सहकर सर्वप्रथम श्री जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे और उन्होंने ही भविष्य के लिये मार्ग खोला।

कहने का अभिप्राय यही है कि संत विचरण करते समय अपने हृदय मे धर्म-प्रचार की ही बलवती भावना रखते हैं तथा उस उद्देश्य के लिये चाहे उन्हें जंगल में, चाहे निर्जन मकानो में और चाहे श्मशानो मे भी क्यो न ठहरना पडे, वे अपनी आन्तरिक मस्ती को कायम रखते हुए प्रतिकूल स्थिति मे भी प्रसन्न एवं निश्चिंत रहते हैं।

इधर मदसौर और प्रतापगढ के आस-पास भी हमारे सन आठ-आठ दिन तक केवल अचित्त पानी पर निर्भर रहे थे जबकि उन्हे गांवो मे प्रवेश नही करने दिया गया था। पर उन्होंने धर्म-प्रचार के लिये किसी भी परिषह की परवाह नही की तथा सभी का डटकर मुकाबला किया।

मुझे एक बात और याद आती है कि दर्यापुरी सम्प्रदाय का जो अपना स्थान है इसके मूल पुरुष धर्मसिंह जी महाराज बडे साहसी पुरुष थे। उनकी भावना थी कि हम क्रिया का उद्धार करें। आडम्बर मे क्या रखा है। जैसे पूज्य लवजी ऋषि जी महाराज और पूज्य धर्मदास जी महाराज। इन तीन ऋषियो ने धर्म क्रिया का उद्धार किया।

धर्मसिंह जी यति थे। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा मागी, पर गुरुजी ने कहा—पहले तुम गांव से बाहर जो 'पीर का स्थान है, वहां पर एक रात्रि रहो। वह तुम्हारी हिम्मत की परीक्षा होगी। अगर उसमे सफल हो गये तो फिर आज्ञा देंगे।

इस पर श्री धर्मसिंह जी ने दर्याखान के ठिकाने पर जाकर वहां रात्रि भर ठहरने की आज्ञा चाही। वहां के मुसलमानो ने उन्हे बहुत समझाया कि—'क्यो आप अपनी जान देना चाहते हैं? लौट जाइये, यहां रात को ठहरकर कोई भी व्यक्ति जीवित नही लौट सकता।'

किन्तु वीर के बढे हुए कदम कभी पीछे नही हटते और न वह शेखी बघारता है। सत तुलसीदास जी ने कहा है—

> शूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
> विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलापु॥

यानी—शूरवीर व्यक्ति कभी डींगें नहीं हाकता, वह युद्ध मे करनी करके बताता है। प्रलाप तो कायर करता है तथा समर-भूमि को देखते ही पलायन कर जाता है।

तो इधर भी धर्मसिंह जी को मुसलमानो ने मौत का भय बताया। इससे बढकर डर की और कौन सी बात होती है? किन्तु वे मरने से कब डरने वाले थे? बोले—"भाई! पैदा हुआ हूँ तो एक दिन मरना ही है। आज ही वह दिन आ जाय तो भी क्या हर्ज है? अत अगर तुम आज्ञा दो तो मैं आज ठहरना यही चाहता हूँ।"

मुसलमानो को ऐतराज तो कुछ था नही, स्वीकृति दे दी और वे ठहर गये। पर जैसा कि वहां कहा जाता था, देवता ने उन्हे रात को सताया किन्तु उनकी

समक्ष आखिर हार गया और वे ज्ञान-ध्यान मे अपनी सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत वहाँ से लौटे। न वे रात को तनिक भी भयभीत हुए और न ही वहाँ से न्होने किसी अन्य स्थान पर जाने का विचार किया। यही 'निसीइया-को सहन करना कहा जाता है।

मुनि गजसुकुमाल ने कितनी अल्पवय मे सयम ग्रहण किया था। किन्तु उसी ाधु की ग्यारहवी प्रतिमा धारण करके महाकाल श्मशान मे ध्यानस्थ हो अपने ससुर के द्वारा दिये गये मरणातक परिषह को भी सहन करके सर्वदा शाश्वत सुख के अधिकारी बने।

ऐसी भव्य आत्माएँ ही साधना के पथ पर दृढता पूर्वक अग्रसर होती हैं तथा कष्टो और उपसर्गों को सहन करती हुई मोक्ष-पद की अधिकारिणी ।

●

३० | मिलें कब ऐसे गुरु ज्ञानी ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्त्व के सत्तावन भेदों मे बाईस परिषह आते हैं और हम क्रम से उनके विषय मे आपको बता रहे हैं। कल दसवें परिषह के विषय मे कहा गया था और आज ग्याहरवें को लेंगे। ग्यारहवें परिषह का नाम है—'शय्या परिषह।'

इस विषय मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

उच्चावयाहिं, सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामव।
नाइवेल विहन्निजा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥

—अध्ययन २. गा. २२

अर्थात्—ऊँची नीची शय्या आदि से साधु अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन न करे किन्तु तपस्वी साधु उस परिषह के सहन करने मे अपने आपको शक्तिशाली बनाये। जो साधु पापदृष्टि होता है वह सयम का उल्लघन कर देता है।

भगवान महावीर का फरमान है कि मुनि को विचरण करते समय कही पर ऊँची और कही पर नीची जगह भी बैठने और सोने के लिये मिलती है। कही पर फर्श पक्का होता है, कही कच्चा और कही तो केवल रेत ही बिछी हुई होती है। अधिक क्या कहे, कभी-कभी तो भीषण गर्मी मे भी हमे आपके मोटर गैरेज मे ठहरना पड़ जाता है। तो ऐसी स्थिति मे भी भगवान का आदेश है कि साधु जैसा भी स्थान मिले, वहाँ ठहरे और ऊँची या नीची जगह भी प्राप्त होती है वहाँ समभाव पूर्वक सोये। किन्तु शैय्या के कष्ट से अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन न करे। जो ऐसा करता है वह पापदृष्टि कहलाता है।

साधारणतया शैय्या का ऊँचापन शीत को कम करता है और उसका नीचा-पन शीतबाधा या शीत के कष्ट का कारण बनता है। पर तपस्वी साधु जैसी भी जगह उपलब्ध हो वहाँ शातिपूर्वक सहन करे, शीत या उष्ण का कुछ कष्ट भी हो तो वह उसे सहन करे। वह कभी भी अपने आपको शीतादि सहन करने में असमर्थ मानकर अपने ध्यान, चितन अथवा स्वाध्याय आदि के समय का अतिक्रमण न करे।

क्योकि अगर वह अच्छे स्थान की तलाश मे तप एव स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन करता है तो यह मानना चाहिये कि उसकी दृष्टि शारीरिक सुख मे है तप-स्वाध्याय में नही। और शरीर को सुख पहुचाने की दृष्टि रखने वाला साधक शरीर के प्रति विरक्त कैसे रह सकता है।

वैसे आप गृहस्थ भी जब एक शहर से दूसरे शहर मे जाते हैं तो ट्रेनो मे स्थान न मिलने पर रात को जगते हैं, स्टेशन पर भी कष्ट उठते हैं और जैसा मिलता है वैसा बाजार का खाकर रहते हैं। यह तो नही कहते कि घर में हम इस तरह सोते थे, इस तरह बैठते थे और ऐसा खाते थे अत बाहर के ये दुख हम सहन नही करते।

तो आप भी जब घर से बाहर निकलते हैं तो अपने घर की अपेक्षा कुछ कष्टकर स्थानो मे रहते हैं और कई तरह की मुसीबतें उठाते हैं। तो फिर हमने तो साधुत्व ग्रहण किया है और सभी सासारिक सुखो मे मुँह मोडा है पर तब भी अगर परिषहो से घबराकर अपने नित्य-नियम तथा स्वाध्यायादि मे बाधा डालें तो सयम का पालन किस प्रकार होगा ?

भगवान की वाणी मे साधु को तो यह विचार करना चाहिये —

पइरिक्कुवस्सय लद्धु, कल्लाणमदुव पावय।
किमेगराइ करिस्सइ, एव तत्थऽहियासए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २ गा० २३

साधु क्या विचारे ? इस विषय मे कहा है—स्त्री, पुरुष, पडक आदि से रहित कल्याणकारी उपाश्रय पाकर भी अथवा पापरूप उपाश्रय को प्राप्त करके भी वह हर्ष या शोक का अनुभव न करता हुआ यह सोचे कि यह स्थान एक रात्रि मे मेरा क्या विगाड लेगा ? यह विचार कर वहाँ होने वाले शीत या उष्णादि के परिषहो को सहन करें।

साराश यही है कि साधु विचरण करते समय यह ध्यान तो रखे कि उस स्थान पर कोई स्त्री अकेली न रहती हो, पशु न बँधते हों और कोई नपुसक न हो।

पर इन सबसे रहित जो स्थान मिल जाय वह चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल एक ही भाव से ग्रहण करे और सयम की दृढता का परिचय देवे। ऐसे सन्त ही साधना के पथ पर अविचलित भाव से चल सकते हैं तथा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

एक कवि ने ऐसे समभावी और ज्ञानी सन्तो की खोज करते हुए लिखा है —

मिलें कब ऐसे गुरु ज्ञानी ?
यश-अपयश जीवन-मरण अरु सुख-दुख एक समान।
मित्र-रिपु एक समलेखे जो मन्दिर और मसान ॥
एक सम गिने लाभ हानि, मिलें कब ....।
काच समान गिने रतनों को माने धन को धूल।
प्यार-मार को एकसम जाने फूल बराबर शूल ॥
एक है दासी और रानी, मिलें कब ।

कवि का कहना है—मुझे ऐसे ज्ञानी गुरु कब मिलेंगे जो यश और अपयश को समान समझते होगे। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रशसा सुनकर फूला नहीं समाता और निन्दा होने पर क्रोध और बदले की भावना से जल उठता है। पर ज्ञानी पुरुष ऐसा नही करते वे यश की आकाक्षा नही करते और अपयश की परवाह नही करते। वैष्ण व साहित्य मे एक कथा है —

विजय का भी तिरस्कार

एक बार व्रज में एक विद्वान ब्राह्मण दिग्विजय करते हुए पहुचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने व्रज के विद्वानो को भी शास्त्राथ के लिए चुनोती दी। किन्तु वहाँ के विद्वानो ने कहा—हमारे व्रज मे तो सनातन गोस्वामी और उनके भतीजे जीव गोस्वामी ही श्रेष्ठ विद्वान हैं। अगर वे आपको विजय पत्र लिख दें तो हम सभी उस पर हस्ताक्षर कर देंगे।

यह सुनकर दिग्विजयी पण्डित सनातन गोस्वामी के यहाँ पहुँचे और उनसे कहा—"स्वामीजी या तो आप मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये या फिर विजय पत्र पर हस्ताक्षर कर दीजिये।

गोस्वामी जी ने दिग्विजयी की बात सुनकर बडी नम्रता से कहा—"भाई! अभी हमने शास्त्रो का मर्म ही कहाँ समझा है ? हम तो विद्वानो के सेवक हैं। यह कहते हुए उन्होंने विजय पत्र लिखकर दे दिया।"

दिग्विजयी पण्डित आनन्द और गर्व से झूमते हुए वहाँ से लौटे। मार्ग मे ही जीव गोस्वामी मिल गये।

विद्वान् ने जीव गोस्वामी से भी कहा—'आपके ताऊजी सनातन गोस्वामी ने तो बिना शास्त्रार्थ किये ही मुझे विजय पत्र लिख दिया है। आप इसी पर हस्ताक्षर करेंगे या शास्त्रार्थ करेंगे ?"

जीव गोस्वामी युवक थे और प्रकाण्ड पण्डित भी। दिग्विजयी ब्राह्मण का अपने ताऊजी के प्रति तिरस्कार का भाव देखकर उनसे रहा नही गया और वे बोले—"मैं शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ।"

दोनो में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया पर जीव गोस्वामी के समक्ष दिग्विजयी ब्राह्मण ठहर नही पाए और उन्होने दो-चार प्रश्नो के बाद ही हथियार डाल दिये। अत्यन्त दुखी होकर उन्होने विजय पत्र फाड दिया और मुँह लटकाये वहाँ से रवाना हो गए।

इसके बाद जीव गोस्वामी अपने ताऊजी के पास पहुँचे और अपनी विजय तथा दिग्विजयी ब्राह्मण की पराजय के विषय मे बताया। पर आश्चर्य की बात हुई कि सनातन गोस्वामी प्रसन्न होने की बजाय क्रोधित हो गये और अपने भतीजे जीव गोस्वामी से बोले—

'जीव! तुम तुरन्त यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारा मुँह भी देखना नही चाहता। एक ब्राह्मण को अपमानित और दुखी करके तुम्हे क्या मिला ? यश ? क्या करोगे इस यश का ? यह केवल तुम्हारे अहकार को ही तो बढाएगा और तुम्हारे जैसा अहकारी भगवान का भजन कैसे कर सकेगा ? आखिर उस ब्राह्मण को विजयी मान लेने मे तुम्हारा क्या बिगडता था ?"

बेचारे जीव गोस्वामी अपनी भूल समझ गये और उन्होने अपने अहकार एव यश-प्राप्ति की कामना के लिए पश्चाताप करते हुए अपने ताऊजी से क्षमा माँगी।

तो बन्धुओ, ऐसे यश और अपयश की परवाह न करने वाले निरहकारी और नम्र हृदय के महापुरुष ही सच्चे सन्त कहला सकते हैं। कवि भी अपने भजन मे यही कह रहा है कि यश, अपयश, जीवन-मरण और सुख-दुख को समान समझने वाले गुरु मुझे कब मिलेंगे ?

कवि सुन्दरदास जी ने भी अपने एक पद्य मे कहा है—

काहू सो न रोष तोष, काहू सो न राग द्वेष,
काहू सो न वैर भाव, काहू सो न घात है।
काहू सो न वकवाद, काहू सों नहीं विषाद,
काहू सो न सग, न तो काहू पच्छपात है॥
काहू सो न दुष्ट वैन, काहू सो न लेन देन,
ब्रह्म को विचार कछू और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई, ईसन को महाईस,
सोई गुरुदेव जाके दूसरी न वात है॥

सुन्दरदास जी कहते हैं—"मेरे तो वही गुरु हैं जो किसी से रुष्ट और किसी स तुष्ट नही होते, किसी से राग-द्वेष नही रखते, किसी से वैरवाभ रखकर उसकी घात करने का प्रयत्न नही करते, किसी मे वकवाद करते हुए पराजित होकर दुख का अनुभव नही करते तथा किसी को कटु वचन नही कहते।

आगे कहते हैं—जो किसी की स्वार्थवश सगति नही करते और न ही कभी उसका पक्ष लेते हैं। वे केवल प्रभु की भक्ति मे लीन रहते हैं और उसके अलावा उन्हे कुछ भी नही सुहाता। वस वे ही मेरे गुरु और ईश्वर से भी वडे हैं।

वस्तुत ईश्वर की भक्ति करने वाले विरले ही होते हैं। आज ससार मे सैकडो व्यक्ति ऐसे हैं जो थोडा सा कष्ट आते ही कहते हैं—इस दुख से तो साधु हो जाना अच्छा और घर मे भी किसी से लडाई होते ही साधु वन जाने की धमकियाँ देने लगते हैं। एक मनोरजक उदाहरण इस विषय मे है।

एक घर मे दो पति-पत्नी रहा करते थे। पति का स्वभाव वडा चिडचिडा और क्रोधी था, किन्तु पत्नी वडी चतुर और नरम स्वभाव की थी। पति को क्रोध मे देखकर वह अपनी गलती न होने पर भी प्राय क्षमा माँग लिया करती थी। पर पति प्रसन्न नही होता था और हमेशा उसे घर छोडकर सन्यासी वन जाने की धमकी दिया करता था।

एक दिन पत्नी ने अपने पति से मजाक मे कहा—'तुम राज रोज घर छोड-कर सन्यासी वनने की धमकियाँ देते हो, पर सन्यासी वन नही सकते। साधुपना पालना हँसी-खेल नही है। मन के सारे विकारो का तथा लोभ-लालच का भी त्याग करना पडता है।"

पति वोला—"अगर तुम ऐसा कहती हो तो तो मैं कल ही सन्यासी वनकर

दिखा दूंगा। मुझे तो सारे ससार और धन-दौलत, सभी से विरक्ति हो गई है।"
पत्नी ने कहा—

"ठीक है देखूंगी कि किस प्रकार की विरक्ति तुम्हारे दिल मे है ?"

पत्नी ने कुछ विचार किया और रात्रि होने पर पान खाकर उस आधे चबाए हुए पान की एक गोली बनाकर अपने पति के पलग के पास डाल दी। प्रातःकाल जब उसका पति उठा तो उसने पलग के समीप उस गोली को पडी हुई देखी।

पति को उसे देखते ही बडी चिन्ता हुई कि यह माणिक यहाँ कैसे पडा है ? क्या घर मे रात को चोर घुस आए थे ? उसी क्षण उसने पत्नी को आवाज लगाई और कहा— 'अरे भागवान ! हमारे तो तकदीर फूट गये। रात को घर मे चोर घुसकर सब ले गए हैं शायद ! देखो तो यह माणिक यहाँ गिर पडा है।

पत्नी पति की बात सुनकर हँस पडी और बोली— 'जरा माणिक उठाकर तो देखो।"

पति ने लपककर उसे उठाया, पर वह तो पान की गोली थी अत गीली-गीली लगी। वह पूछने लगा—"यह क्या माजरा है ?"

पत्नी ने कहा—"मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी कि तुम्हें धन-दौलत से कितनी विरक्ति हुई है ? अगर वास्तव मे ही तुम विरक्त हो गए होते तो यहाँ चाहे माणिक होता या मिट्टी, चोर आते या न आते, तुम्हे क्यो चिन्ता होती ? क्या यही तुम्हारे सन्यासी बनने के लक्षण हैं ?

यह सुनकर पति बहुत शर्मिन्दा हुआ और उसने उसी दिन से साधु बनने की धमकियाँ देना बन्द कर दिया।

मराठी भाषा मे भी कहा है—

"ज्याचे मन नाहीं लागले हातासी, त्याने प्रपचासी त्यागू नये।"

अर्थात्—जिसका दिल काबू मे नही है और मनोवृत्ति शातिपूर्ण नही है, उसे साधुपना नही लेना चाहिये। क्योंकि अगर मन पर वश नहीं रहेगा तो साधुत्व का पालन भी वह नही कर सकेगा और जगत मे हँसी होगी।

वस्तुत मुनिवृत्ति का पालन करना कोई हसी-खेल या साधारण बात नहीं है। मन मे अनाशक्ति का भाव उत्पन्न होना और जन्म-जन्मान्तरो के मोहमय सस्कारो पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसके लिये गभीर साधना की आवश्यकता होती है। निर्बल आत्माएँ साधना के मार्ग पर दृढता से नहीं बढ

सकती। सयम मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य को अपनी सभी वासनाओ का दमन करना पडता है, इन्द्रियो को वश मे करना होता है तथा कवि के कथनानुसार जीवन और मरण को भी समान समझना होता है।

साधु के लिये मित्र और शत्रु समान होते हैं तथा महल और मसान यानी श्मशान भी समान महत्व रखते हैं। साधु वृत्ति एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मानव के सयम, साहस सहनशीलता, शाति, सतोष, धैर्य एव पवित्रता की सच्ची परख होती है। इस कसौटी पर विरले पुरुष ही खरे उतरते हैं। कायर और निर्बल व्यक्ति प्रथम तो इसे अगीकार ही नही कर पाते और कदाचित कर भी लें तो उसका पालन नही कर सकते।

कवि ने आगे कहा है—मुझे ऐसे गुरु कब मिलेंगे जो धन को धूल और रत्न को काच समझते होगे।

वस्तुत कवि का कथन सत्य है। सच्चा सत वही है जो धन-दौलत को नफरत की निगाह से देखता है तथा उससे विषधर भुजग के समान बचता है। सच्चे सत की क्या अभिलाषा होती है, और वह किस धन की आकाक्षा करता है यह एक उक्ति से समझा जा सकता है। वह इस प्रकार है—

"ऐ कनाअत तवगरम गरमा कि—
वेश अज तो हेच नेमते नेस्त।"

अर्थात्—हे सन्तोष! मुझे तो तू ही दौलतमद बना, क्योकि इस ससार मे तुझसे बडा और कोई भी ऐश्वर्य नहीं है।

वास्तव मे ही सतोष के अभाव मे तो मनुष्य करोडपति और अरब पति होने पर भी तृष्णा से पीछा नहीं छुडा सकता। ससार की समग्र दौलत भी उसे सतुष्ट नही कर सकती। किन्तु जिस समय उसके अन्तर्मानस मे सतोष का शान्तिपूर्ण स्रोत प्रवाहित हो जाता है तो उसे अपना शरीर भी बोझ लगने लगता है। वह उसे कायम भी केवल इसलिये रखता है कि उसकी सहायता से कर्मों की निर्जरा होती है, यानी तप, त्याग, ध्यान, साधना, चिन्तन, मनन आदि निर्जरा करने वाली सब क्रियाएँ उसके माध्यम से ही हो सकती हैं।

अगर ऐसा न होता तो वे शरीर टिकाने के लिये भी रूखा-सूखा आहार-रूप भाड़ा देने की फिक्र न करते। वैसे भी उनकी अन्तरात्मा सदा उन्हें यही कहती हुई महसूस होती है कि—

घडी घडी घडियाल पुकारैं कही है,
बहुत गयी है अवधि अलप ही रही है।
सोवै कहा अचेत, जाग जप पीव रे !
चलिहै आज कि काल बताऊ जीव रे ॥

काल फिरत है हाल रैण दिन लोई रे !
हणे राव अरु रक गिणै नहि कोइ रे।
यह दुनिया बाजिद बाट की दूब है,
पाणी पहिले पाल बँधे तू खूब है ॥

ये सुन्दर पद्य कवि वाजिद के हैं। वे अपने आत्मानुभव से महामानवो की भावनाओ को बता रहे हैं। भव्य पुरुपो की अन्तरात्मा कहती है—अरे जीव ! दिन-रात अविराम गति से बोलने वाली घडी कहती है कि तेरी बहुत जिन्दगी निरर्थक चली गई है और अब तो बहुत थोडी ही बची है। इसलिये प्रमाद-रूपी निद्रा मे अचेत-सा क्यो पडा हुआ है ? अब भी शीघ्र जाग, और प्रभु का नाम जप। इस जीवन का क्या भरोसा है ? तू बटोही के समान ही यहाँ आया है और आज या कल कभी भी प्रयाण कर सकता है।

आगे कहते हैं —"नादान जीवात्मा ! क्या तू नही देखता कि काल तो अहर्निश प्राणियो को इस लोक से ले जाने की ताक मे घूमता फिरता है और बिना यह देखे कि सामने राजा-महाराजा हैं या दीन-दरिद्र, वह मौका पाते ही उन्हे ले उडता है। इस प्रकार यह ससार केवल मार्ग मे उगी हुई दूब के समान क्षणिक है। अत जल्दी जाग उठ, तथा मृत्यु-रूपी पानी का प्रवाह आने से पहले शुभ-कर्मों की पाल बाँध ले जिससे ससार-सागर मे तुझे अनन्त काल तक डूबना-उतरना न पडे।"

तो बधुओ ! इसी प्रकार महा-मानवो की आत्माएँ अपने आपको उद्‌बोधन देती रहती हैं और इसीलिए वे सदा जागरूक रहकर चाहे एक स्थान पर रहे और चाहे विचरण मे, प्रतिपल अपनी साधना को उन्नति की ओर अग्रसर करते रहते हैं।

उनके हृदय मे अपनी आत्मा के उद्धार की तथा ससार के अन्य प्राणियो के कल्याण की भावना भी बनी रहती है। इसीलिए वे वर्षाकाल के अलावा भगवान के आदेशानुसार आर्य एव अनार्य क्षेत्रो मे विचरते हुए धर्म प्रचार करते हैं तथा अज्ञानी प्राणियो को उद्‌बोधन देकर उन्हें आत्म-शुद्धि के मार्ग पर लाते हैं।

यद्यपि इस कार्य मे उन्हे अनेक परिषहो को सहन करना पडता है तथा मार्ग मे आहार-पानी की, ठहरने के स्थानो की साथ ही अन्य अनेक कठिनाइयो का मुकावला करना पडता है। किन्तु इन सभी को वे पूर्ण समभाव एव शातिपूर्वक सहन करते हुए अपने ज्ञान-ध्यान, चितन-मनन एव पठन-पाठन तथा स्वाध्याय आदि की समस्त क्रियाओ को बिना समय का अतिक्रमण किये हुए करते हैं। न वे ऊँचे-नीचे स्थान की परवाह करते हैं और न शीतादि परिषह की।

ऐसे ही सत सच्चे गुरु कहलाते है और जैसा कि अभी भजन मे कहा गया है, जिज्ञासु प्राणी उनकी खोज मे विकल रहते हैं।

३१ | स्वागत है पर्वराज !

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आज से लोकोत्तर पर्व, जो पर्युषण पर्व कहलाता है उसका प्रारम्भ हो रहा है। पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व आध्यात्मिक पर्वों मे एक विशिष्ट महत्त्व लिये हुए हैं और इसलिए सर्वश्रेष्ठ पर्व कहलाता है। वैसे प्रत्येक हिन्दू आत्मोत्थान के लिए अनेको प्रकार के अनुष्ठान करता है किन्तु जैनधर्मावलम्बियो के द्वारा किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानो मे यह सर्वोपरि अनुष्ठान है। जवकि आत्म-मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति इन आठ दिनो मे सासारिक प्रपचो से कुछ अशो मे मुक्त होकर आध्यात्मिक-ससार मे विचरण करता है।

पर्वों का महत्त्व

आज के इस युग मे जहाँ व्यक्ति भौतिक वस्तुओ की चकाचौंध मे अपने अन्तर् की ओर झाँकने का भी अवकाश नही पाता वहाँ पर्यूषण जैसे पर्व प्रतिवर्ष अपने साथ कुछ नई प्रेरणा, उल्लास एव नूतन सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं। वह सन्देश है—आत्म-जागृति, आत्म-उत्थान एव कर्म-मुक्ति का।

इन आध्यात्मिक पर्वों के कुछ दिनो में मानव क्रोधादि कषायो और मन के कामादि विकारो से भी कुछ परे हो जाता है। वह जो कुछ सदा नही कर पाता वह इन आध्यात्मिक पर्वों मे और विशेषकर पर्युषण पर्व के आठ दिनो मे करता है। यद्यपि शुभ का आराधन तो यथाशक्य प्रतिदिन ही करना चाहिए। आत्म उद्धार के कार्यों के लिए कोई निश्चित समय नही होता। प्रत्येक पल धर्म की आराधना के लिए आवश्यक होता है, किन्तु उस हालत मे जवकि सासारिक कार्यों के

कारण व्यक्ति समय नही निकाल पाता तो इन पर्वों के वहाने से तो उसे कुछ समय पूर्ण रूप से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना मे विताना ही चाहिये और फिर मुख्य रूप से पर्युपण पर्व का तो एक पल भी धर्मध्यान, तत्त्व चिंतन, जप, तप आदि से रहित नही रखना चाहिए।

हमारे आचार्यों ने तो मानव की सासारिक स्थितियो को ध्यान मे रखते हुए अधिक से अधिक सुविधाए भी इस सवध मे दी हैं। उन्होने कहा है—अगर तुम प्रतिदिन तप या किसी प्रकार का त्याग नही अपना सकते तो, पन्द्रह दिन मे दूज, पचमी, अष्टमी, ग्यारस, और चतुर्दशी को भी कुछ न कुछ तप करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो। और पांच दिन नही वनता तो अष्टमी एव चतुर्दशी, दो दिन भी इन कार्यों के लिये रखो। यह छूट इसीलिये रखी गई है कि व्यक्ति अगर पूरी तरह से अपना समय इन कार्यों मे नही लगा सकता तो कुछ दिन तो वह मर्यादाओ का पालन करे विलकुल नही से तो इतना भी हो सके तो अच्छा है।

हमारे पन्नवणा सूत्र' मे कहा गया है कि आयुष्य के तीसरे हिस्से मे अगले जन्म के आयुष्य का वध होता है। किन्तु आज के समय मे क्या किसी के आयुष्य का पता चलता है कि उसे कितने वर्ष जीना है? आज हम देखते हैं कि काल न वृद्ध को देखता है, न युवा को और न ही वालक को देखता है। किसी भी उम्र का व्यक्ति किसी भी समय काल-कवलित होता देखा जाता है।

इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति कैसे यह जान सकता है कि मेरे जीवन का तीसरा हिस्सा कब है। आज हमारी आंखो के सामने उठती उम्र के अनेको नवयुवक वीस, तीस और चालीस वर्ष के अन्दर भी तनिक सा वहाना पाकर परलोक सिधार जाते हैं, अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उम्र की अनिश्चितता जानकर सदा ही त्याग-नियम एव व्रतादि अपनाने चाहिये।

कवि वाजिद ने कहा भी है—

> गाफिल हुए जीव कहो क्यूं वनत है?
> या मानुप के सांस जो कोऊ गनत है।
> जाग, लेय हरिनाम, कहाँ लौं सोय है?
> चक्की के मुख पर्यो सो मैदा होय है।

कहते हैं—"अरे अज्ञानी जीव! इस प्रकार गाफिल वने रहने से भला कैसे काम चलेगा? मनुष्य को इस ससार मे कितने श्वास लेना है, यह क्या कोई जान सकता है, और उन्हे गिनकर अपने जीवन का तीसरा हिस्सा निकाल सकता है कि उसमें धर्माराधन करके अगले जन्म के लिये उत्तम आयुष्य कर्म का वध किया जा सके?"

"इसलिए 'जब जागे तभी सबेरा' समझकर जाग उठ और प्रभु का स्मरण कर। अन्यथा जिस प्रकार चक्की मे पडा हुआ प्रत्येक दाना पिस जाता है, उसी प्रकार तू भी जन्म-मरण रूपी चक्की के दोनो पाटो मे पडा हुआ अनन्तकाल तक दुख प्राप्त करता रहेगा।"

आगे फिर कहा है—

आज सुनै कै काल, कहत हो तुज्झ को,
मांवै वैरी जान कै जो तूं मुज्झ को।
देखत अपनो दृष्टि खता क्या खात है,
लोहे कैसो ताव जनम यह जात है॥

कवि कहता है— 'भाई! भले ही तू मेरी बात आज सुने या कल, मैं तो तुझे चेतावनी देता ही रहूँगा। इसके अलावा मुझे तो तू अपना दुश्मन भी समझ ले तो कोई बात नही, पर स्वय अपनी आँखो से देखते हुए भी धोखा क्यो खा रहा है? यानी तेरी आँखो के सामने ही तो अनेकानेक व्यक्ति प्रतिदिन काल के ग्रास बन रहे हैं। उन्हे इस प्रकार चटपट यह लोक छोड जाते देखकर भी क्या तुझे सीख नही लगती? मैं तो तुझे यही कह रहा हूँ कि जब तक मनुष्य के चोले मे है, कुछ लाभ उठा ले। एक कहावत भी है कि—

'जब तक लोहा गरम है उसे पीट लो।'

आप जानते हैं कि लोहार लोहे की कोई भी वस्तु बनाना चाहता है तो उसे भट्टी मे तपाकर खूब लाल कर लेता है और तब उसे ठोक-पीटकर मोडता हुआ मन के माफिक पदार्थ गढता है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि उस लोहे की तभी कोई वस्तु बन सकती है, जब तक वह गरम रहे। ठडा हो जाने पर वह पुन कडा हो जाता है और फिर न वह मुडता है तथा न हो उससे कोइ वस्तु बनाई जा सकती है।

बधुओ, यह मानव जन्म भी तपे हुए लोहे के समान है। जब तक यह विद्यमान है, तभी तक इस धर्मक्रियाओ मे मोडकर इससे परलोक के लिये पुण्यो का सचय किया जा सकता है। किन्तु जैसे लोहा ठडा पडकर बेकार हो जाता है, उसी प्रकार यह शरीर भी नष्ट होकर मिट्टी बन जाता है और फिर इससे कैसे शुभ कर्मों का सचय किया जा सकता है? यह शरीर ही तो मोक्ष-साधना के लिये माध्यम है और इसीलिये यह मिला है, ऐसा मानना चाहिये। क्योकि अन्य किसी भी योनि मे प्राणी शुभ कर्म करके कर्मों की निर्जरा नही कर सकता तथा ससार से मुक्त नही हो सकता। और तो और स्वर्ग मे रहने वाले देवता भी अपनी आत्मा की मुक्ति के

लिये प्रयत्न नही कर सकते। वे केवल पूर्व-पुण्यो के बल पर स्वर्गीय सुखो का उपभोग करते हैं किन्तु मोक्ष के लिये करनी तो उन्हें पुन मनुष्य-जन्म लेकर ही करनी पडती है। इसीलिये मानव-जन्म को अमूल्य माना गया है। इस जीवन को अरबपति अपनी समस्त सम्पत्ति देकर या चक्रवर्ती सम्राट् अपने छ खड के राज्य को न्योछावर करके भी खरीद नही सकता। केवल महान पुण्यो के उदय से ही यह अनमोल जीवन प्राप्त होता है। इसीलिए इसे कभी निरर्थक नही गँवाना चाहिए और इसके प्रत्येक पल का सदुपयोग करना चाहिये।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि —

नो धत्तं किल मानुषम् वरमिदम् मित्राय पुत्राय वा,
नो धत्त किल मानुषम् वरमिदम् चित्ताभिरामास्त्रिय।
नो धत्त किल मानुषम् वरमिदम् लाभाय लक्ष्म्यास्तथा,
किन्त्वात्मोद्धरणाय जन्म जलधे धत्त वरम् मानुषम्॥

सस्कृत के इस श्लोक मे कवि बडी सुन्दर बात कहता है कि हमे यह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। आपके हृदय मे तर्क हो सकता है कि हमारे तो देवता श्रेष्ठ हैं, किन्तु देवता मनुष्यो से श्रेष्ठ क्यो नही हैं, यह मैं अभी-अभी आपको बता चुका हूँ कि ऐश्वर्य और सुख की दृष्टि से जरूर देवता मनुष्य से अच्छे हैं किन्तु परलोक के लिए कमाई करने की दृष्टि से नही। देव और मनुष्य मे यही अन्तर है कि देवता पहले की हुई कमाई को समाप्त करते है और मनुष्य आगे के लिये उपार्जन कर लेता है।

तो कवि का कथन यही है कि यह दुर्लभ मानव जन्म हमे मित्र या पुत्र की प्राप्ति के लिए नही मिला है, चित्त को प्रसन्न करने वाली स्त्री प्राप्त कर लेने के लिए नहीं मिला है और लक्ष्मी तथा अन्य किसी भी प्रकार का बहुत लाभ हो, इसके लिए भी नही मिला है। यह हमे इसलिए मिला है कि इसकी सहायता से हम आत्मा का उद्धार करें तथा ससार-सागर को पार कर सकें।

आप लोग पुण्यवान हैं कि आपको मनुष्य जन्म तो मिला ही है साथ ही सतो की सगति एव शास्त्र-श्रवण का अवसर भी मिला है। आप बुद्धिमान हैं अत. विचार करना चाहिए कि मित्र, पुत्र, स्त्री एव धन आदि तो पुण्योदय से प्राप्त हो ही जाता है पर आत्मा का उद्धार सहज मे नही हो सकता। इसलिए सारा प्रयत्न तो इसी कार्य के लिये करना है। पर यह होना भी सहज नही है, इसके लिये बडी साधना करनी पडेगी और तप और त्याग को अपनाना होगा।

हमारे देश मे तो ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होने सासारिक पदार्थों का

क्या अपने शरीर का मोह भी त्याग दिया तथा उसे अन्य प्राणियो की रक्षा मे लगाया ।

शरणागत की रक्षा में जीवन अर्पण

महाराजा शिवि के बारे मे आपने सुना होगा । इस वैष्णव कथा मे बताया जाता है कि राजा शिवि बडे ही दानी और करुणा के सागर थे । उनकी अतिथि-सत्कार की भावना और शरणागत रक्षा की इतनी कीर्ति फैल गई थी कि देवराज इन्द्र और अग्निदेव को उनसे ईर्ष्या हो गई । और वे शिवि की परीक्षा लेने के लिये उद्यत हो गये ।

परीक्षा लेने के लिए अग्निदेव ने एक कबूतर का रूप बनाया और इन्द्र ने बाज का । इसके पश्चात् जबकि राजा शिवि अपने महल के प्रांगण मे बैठ थे, कबूतर वेशधारी अग्निदेव आकर उनकी गोद मे गिर पडा और उसके बाद ही -पीछे-पीछे बाज वेशधारी इन्द्र भी वहाँ आ गये । कबूतर बाज के द्वारा खा लिये जाने के भय से बुरी तरह कांप रहा था और छटपटा रहा था । प्राण-भय के कारण वह राजा शिवि के वस्त्रो मे छिपने लगा । राजा ने उसके शरीर पर बडे प्रेम से हाथ फेरा और पुचकारा ।

इतने मे ही बाज स्पष्ट मानवी भाषा मे बोला—"महाराज ! यह कपोत मेरा आहार है । मैं बहुत भूखा हूँ अत मेरा भोजन मुझे दीजिये । आपका यह धर्म नही है कि आप किसी के मुँह का ग्रास छीनें ।"

राजा शिवि ने कहा—"तुम्हारा पेट तो अन्य किसी के भी मास से भर जाएगा । मैं अपने शरणागत को मौत के मुँह मे नही डालूँगा ।"

'तो फिर मैं क्या खाऊँ ? भूख से छटपटा रहा हूँ, अब दूसरा शिकार ढूँढने कहाँ जाऊँगा ?'

शिवि ने सहज भाव से उत्तर दिया—

"तुझे मैं अन्यत्र भटकने नही दूँगा । मास ही चाहिए न तुम्हें ? तो मेरा मांस ले लो और अपनी उदर-पूर्ति करो ।"

"पर मैं इस कबूतर के तौल के बराबर ही मास लूँगा ।" बाज बोला ।

"मैं उतना ही मास तुम्हें बराबर तोलकर देता हूँ । घबराओ नही ।" यह कहते हुए शिवि ने एक बडी तराजू वहाँ मँगवाई और उसके एक पलडे पर भयग्रस्त कबूतर को बैठा दिया और दूसरे पलडे पर अपनी जघा का मास अपने हाथ से काट कर रखा ।

पर उसने देखा कि जाघ का मास कबूतर के वजन से कम है तो दूसरी जघा भी काटी और उससे भी मास निकालकर तराजू मे डाला। पर कबूतर वाला पलडा तो जमीन से ऊँचा उठा ही नही। यह देखकर राजा शिवि ने पहले अपना एक पैर और फिर दूसरा पैर भी काटकर तराजू पर रख दिया कि अब तो कबूतर के बराबर वजन हो ही जाएगा।

किन्तु बडे आश्चर्य की बात हुई कि कबूतर का वजन उससे भी अधिक निकला। तब राजा ने अपना बाया हाथ भी काट कर तराजू के पलडे पर रख दिया, पर हाल वही था। कपोत के बराबर वजन नही हो पाया और पलडा नीचे नही आया।

यह देखकर भी शरणागतवत्सल शिवि के चेहरे पर एक भी शिकन नही आइ और वे स्वय ही उस मास वाले पलडे पर बैठते हुए बाज से बोले—"भाई, मैं स्वय ही इस तराजू मे बैठा जा रहा हूँ और तुम निश्चित होकर मेरे मास से अपनी भूख का निवारण कर लो।'

इस प्रकार राजा शिवि शरणागत कपोत की रक्षा के लिये स्वय मरने को तैयार हो गये और बाज के द्वारा खाये जाने की प्रतीक्षा करने लगे। उन्होंने आनन्द से अपने नेत्र मूँद लिये और अन्तिम समय प्रभु का स्मरण करने लगे।

पर कुछ समय तक प्रतीक्षा करने पर भी उन्हे बाज के द्वारा खाये जाने का कोई लक्षण दिखाई नही दिया तो उन्होंने नेत्र खोले, पर महान् आश्चय के साथ देखा कि एक तरफ तो उनका अग-अग अलग हुआ शरीर पुन अपनी पूर्व स्थिति मे आता जा रहा है और दूसरी तरफ बाज और कपोत बने हुए इन्द्र तथा अग्निदेव अपने असली स्वरूपो मे खडे हैं।

यह देखकर महाराज शिवि गद्गद् होकर उठे और दोनो देवताओ को नमस्कार किया। इन्द्र और अग्निदेव ने तब बताया कि हमने आपकी परीक्षा लेनी चाही थी और आप इसमे खरे उतरे है। आपकी करुणा और शरणागत रक्षा की भावना को धन्य है। आपके जैसा पुण्यात्मा तो हमारे स्वग मे भी नहीं है। यह कहकर दोनों देवता शिवि की सराहना करते हुए वहाँ से चल दिये।

तो बन्धुओ, जो भव्य प्राणी जीवन के महत्व को तथा शरीर की अनित्यता को समझ लेता है, वह अपने शरीर मे तनिक भी मोह नही रखता और अपनी दया तथा करुणा के कारण उसे समय आने पर औरो के लिए अर्पण भी कर देता है।

भगवान नेमिनाथ के विषय मे आप सब भली-भाँति जानते हैं कि जब वे

विवाह करने के लिए दूल्हा बनकर जा रहे थे, मार्ग मे बाडे मे कैद पशुओ का हृदय-विदारक करुण-क्रन्दन सुनाई पडा ।

अपने सारथि से उन्होने इसके बारे मे पूछा और यह जानकर कि वे सब उनके विवाह मे बरातियो का भोजन बनेंगे, उसी क्षण रथ को लौटा ले गये । उनके मन मे उन मूक प्राणियो के लिए इतनी करुणा उपजी कि वे विवाह करना भूल गये और उसी क्षण आत्म-कल्याण के पथ पर बढ गये ।

अभी श्लोक मे जो कहा गया है कि मनुष्य का जन्म चित्त को प्रसन्न करने वाली स्त्री को पा लेने के लिए नही मिला है, इस बात को नेमिनाथ ने पलक झपकते ही समझ लिया और तभी वे अपनी आत्मा का उद्धार कर सके ।

किसी कवि ने सत्य कहा है—

पाया है उच्च जीवन इसकी विचारो कीमत ।
ऐसा प्रयत्न कर लो कुविचार मन से निकलें ।।

वस्तुत जो व्यक्ति मनुष्य जीवन की कीमत समझ लेता है वह कभी भी अपने मन मे कुविचारो को स्थान नही देता । वह जान लेता है कि अच्छा खाने-पीने और भोग-विलास करने के लिये यह जीवन नहीं मिला है । जीवन जन्म-मरण का अन्त करने के लिए प्राप्त हुआ है ।

हमारे 'अन्तगड सूत्र' मे जिन महान् आत्माओ का वर्णन आता है उनके विषय मे हम क्यो पढते और सुनते हैं ? इसीलिए कि उन्होने मानव जीवन पाकर ऐसी करनी की थी कि उनकी आत्माओं को पुन जन्म-मरण की आवश्यकता ही नही रही । उन महापुरुषो और महासतियो का नाम लेने से भी अपने पाप-कर्म क्षीण होते हैं । जैसे —'छिद्रहस्ते यथोदकम् ।' अर्थात् हथेली मे लिये हुए पानी को बडी सावधानी से रखा जाय तो भी अगुलियो के बीच मे रहे हुए छिद्रो से वह बूद-बूद करके नीचे गिर जाता है । इसी प्रकार सत एव सतियो की उत्तम करनी के विषय मे सुनने पर भी हमारा मन कुछ न कुछ निर्मल अवश्य होता है अत् पाप कर्म रूपी जल धीरे-धीरे झर जाता है ।

आप लोग कहा करते हैं कि इमली नीबू अथवा ऐसे ही प्रिय पदार्थो का चिन्तन करने से मुँह मे पानी आ जाता है । जबकि ये पदार्थ तो क्षणिक और महत्वहीन हैं । तब फिर महापुरुषो के गुण गान करने से मन मे पवित्रता क्यो नही आएगी और उससे पाप क्यो नही घटेंगे ?

मोक्षप्राप्ति

पर्यू पण पर्व मे आठ दिन तक 'अन्तगड सूत्र' इसीलिए पढा जाता है कि

इसे सुनने वाले भी अपने जीवन के महत्त्व को समझें और अपनी आत्मा को शुद्धता की ओर ले जाने का प्रयत्न करें। आत्म-शुद्धि के प्रयत्न और धर्माराधन के लिए कोई उम्र या कोई समय निश्चित नही होता। महत्त्व होता है व्यक्ति के हृदय मे विचारो के बदलने का। जिस दिन मानव यह समझ ले कि जीवन और शरीर क्षणिक हैं तथा हमे इसके द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना है, उसी दिन से वह आत्म-शुद्धि के मार्ग पर चल सकता है।

अन्तगढ़ सूत्र मे आपने पहले सुना होगा और अब भी ऐवन्ता कुमार के विषय मे सुनेंगे कि उन्होने कितनी अल्पवय मे साधना के मार्ग को ग्रहण कर लिया था। उन्होने उस समय शास्त्रो का न अध्ययन किया था न धर्मोपदेश सुने थे और न ही सन्तो की सगति मे ही रहे थे। केवल एक दिन गौतम स्वामी के दर्शन किये थे तो उन्हे अपने घर पर आहार के लिए बाल-स्वभाव के अनुसार अगुली पकड कर ले गये और जब गौतम स्वामी लौटकर भगवान महावीर के स्थान पर पधारने लगे तो उनकी अगुली पकडे-पकडे ही भगवान के दर्शनार्थ साथ साथ चल दिये।

पर आठ-वर्ष के बालक ही तो थे वे। इधर गौतम स्वामी के हाथ मे आहार की झोली थी और सन्त-स्वभाव के अनुसार उन्हे धीर गति से चलना था। अत यह कहकर कि—"आप तो बहुत धीरे चल रहे, मैं जल्दी से जाता हूँ।" कहते हुए वे उनकी अगुली छोडकर भाग खडे हुए और सीधे भगवान के समीप जा पहुँचे।

बस इतना ही उनका सत्सग था और इसी के प्रभाव से वे दीक्षित हो गये। सन्तो की चर्या और नियमो के विषय मे भी कहाँ उन्हें पूरा ज्ञान था? और इसी लिये वर्षाकाल मे जब वे सन्त मण्डली के साथ एक दिन प्रात काल के समय जगल के लिए गये तो रात्रि को पानी बरसने से उन्होने इधर-उधर बहते पानी को देखा तो वही बैठ गये। वह किसलिये?—

बहतो पाणी रोक ने सरे,
क्रीडा करण रा भाव।
मेली पाणी मे पातरी बोल्या-
म्हारी तिरे छे नाव हो अयमन्ता मुनिवर,
नाव तिरायी बहता नीर मे।

कवि ने राजस्थानी भाषा मे ऐवन्ता मुनि की कथा लिखते हुए बताया है कि ज्योही आठ वर्ष के उन बाल-मुनि ने मार्ग पर बहता हुआ पानी देखा तो वहीं बैठ गये और जल्दी-जल्दी गीली मिट्टी की पाल बाँधकर पानी एक जगह रोका तथा उसमे अपनी छोटी सी पातरी यानी काष्ठ का पात्र डाल दिया और काष्ठ का होने

से जब वह तैरने लगा तो बडे हर्ष से बाल-सुलभ चचलता पूर्वक कहने लगे—"मेरी नाव तैर रही है, मेरी नाव तैर रही है।"

इधर जब पीछे से और सन्त आये तो उन्होने ऐवन्ता मुनि के इस कृत्य को देखा। यह देखकर कि ऐवन्ता कुमार ने मुनि होकर भी सचित्त जल का स्पर्श किया है तथा मिट्टी की पाल बांध कर उसके पानी मे पातरी तैरा रहे हैं, वे लोग बहुत नाराज हुए और कहने लगे—

"भगवान भी बिना सोचे समझे चाहे जिसको दीक्षित कर लेते हैं। क्या ऐसा कार्य साधु के लिये उचित है ?"

कुछ देर बाद भगवान के समीप पहुँचकर भी उन्होने ऐवन्ता मुनि की शिकायत की। पर बन्धुओ, आप जानते हैं कि भगवान ने उन क्रियानिष्ठ सन्तो को क्या उत्तर दिया ? उन्होने फरमाया—"सन्तो ! अगर तुम्हे आत्म-कल्याण करना है तो इस बाल-मुनि की सेवा अग्लानि पूर्वक करो। यह सरल और भद्र मुनि ऐवन्ता कुमार इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करेगा।"

भावना भवनाशिनी

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म का पालन करने के लिए बडे-बडे अनुष्ठानो की और लम्बे-चौडे क्रियाकाण्डो की आवश्यकता भी नही है। धर्म सरल और निष्कपट हृदय मे निवास करता है। कहा भी है—

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

जिसका हृदय शुद्ध है, धर्म का वही निवास होता है। ऐवन्ता मुनि ने भले ही सचित्त जल का स्पर्श करके साधु के व्रत मे दोष लगाया होगा किन्तु उनके हृदय मे दोष-पूर्ण कार्य करने की भावना नही थी और दोष भावनाओ पर ही अवलंबित होते हैं। भावनाओ मे जहाँ विकार होते हैं, वहाँ उनके अनुसार क्रिया न करने पर भी आत्मा पाप की भागी बनती है और जिसके हृदय मे दोषपूर्ण भावनाएँ नही होती, उसके द्वारा अनजान मे दोष-पूर्ण कार्य हो जाने पर भी आत्मा को पाप स्पर्श नही करते।

सूक्ति मुक्तावली मे कहा गया है—

भावेषु विद्यते देवस्तस्मादभावो हि कारणम्।

सात्विक भावनाओ मे ही ईश्वरत्व का निवास है, अतएव भावनाएँ ही ईश्वर की प्राप्ति मे कारणरूप हैं।

इसलिए मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भावनाओ को शुद्ध और

इसे सुनने वाले भी अपने जीवन के महत्त्व को समझें और अपनी आत्मा को शुद्धता की ओर ले जाने का प्रयत्न करें। आत्म-शुद्धि के प्रयत्न और धर्माराधन के लिए कोई उम्र या कोई समय निश्चित नही होता। महत्त्व होता है व्यक्ति के हृदय मे विचारो के वदलने का। जिस दिन मानव यह समझ ले कि जीवन और शरीर क्षणिक हैं तथा हमे इसके द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना है, उसी दिन से वह आत्म-शुद्धि के मार्ग पर चल सकता है।

अन्तगढ़ सूत्र मे आपने पहले सुना होगा और अब भी ऐवन्ता कुमार के विषय मे सुनेंगे कि उन्होने कितनी अल्पवय मे साधना के मार्ग को ग्रहण कर लिया था। उन्होने उस समय शास्त्रो का अध्ययन किया था न धर्मोपदेश सुने थे और न ही सन्तो की सगति मे ही रहे थे। केवल एक दिन गौतम स्वामी के दर्शन किये थे तो उन्हे अपने घर पर आहार के लिए बाल-स्वभाव के अनुसार अगुली पकड कर ले गये और जब गौतम स्वामी लौटकर भगवान महावीर के स्थान पर पधारने लगे तो उनकी अगुली पकडे-पकडे ही भगवान के दर्शनार्थ साथ-साथ चल दिये।

पर आठ-वर्ष के वालक ही तो थे वे। इधर गौतम स्वामी के हाथ मे आहार की झोली थी और सन्त-स्वभाव के अनुसार उन्हें धीर गति से चलना था। अत यह कहकर कि—"आप तो बहुत धीरे चल रहे, मैं जल्दी से जाता हूँ।" कहते हुए वे उनकी अगुली छोड़कर भाग खडे हुए और सीधे भगवान के समीप जा पहुँचे।

वस इतना ही उनका सत्सग था और इसी के प्रभाव से वे दीक्षित हो गये। सन्तो की चर्या और नियमो के विषय मे भी कहाँ उन्हे पूरा ज्ञान था ? और इसी लिये वर्षाकाल मे जब वे सन्त मण्डली के साथ एक दिन प्रात काल के समय जगल के लिए गये तो रात्रि को पानी वरसने से उन्होने इधर-उधर बहते पानी को देखा तो वही बैठ गये। वह किसलिये ?—

> वहतो पाणी रोक ने सरे,
> क्रीड़ा करण रा भाव।
> मेली पाणी में पातरी बोल्या-
> म्हारी तिरे छे नाव हो अयवन्ता मुनिवर,
> नाव तिरायी वहता नीर मे।

कवि ने राजस्थानी भाषा मे ऐवन्ता मुनि की कथा लिखते हुए बताया है कि ज्योंही आठ वर्ष के उन वाल-मुनि ने मार्ग पर बहता हुआ पानी देखा तो वही बैठ गये और जल्दी-जल्दी गीली मिट्टी की पाल बाँधकर पानी एक जगह रोका तथा उसमे अपनी छोटी सी पातरी यानी काष्ट का पात्र डाल दिया और काष्ट का होने

से जब वह तैरने लगा तो बडे हर्ष से बाल-सुलभ चचलता पूर्वक कहने लगे—"मेरी नाव तैर रही है, मेरी नाव तैर रही है।"

इधर जब पीछे से और सन्त आये तो उन्होने ऐवन्ता मुनि के इस कृत्य को देखा। यह देखकर कि ऐवन्ता कुमार ने मुनि होकर भी सचित्त जल का स्पर्श किया है तथा मिट्टी की पाल बांध कर उसके पानी में पातरी तैरा रहे हैं, वे लोग बहुत नाराज हुए और कहने लगे—

"भगवान भी विना सोचे समझे चाहे जिसको दीक्षित कर लेते हैं। क्या ऐसा कार्य साधु के लिये उचित है ?"

कुछ देर बाद भगवान के समीप पहुँचकर भी उन्होने ऐवन्ता मुनि की शिकायत की। पर बन्धुओ, आप जानते हैं कि भगवान ने उन क्रियानिष्ठ सन्तो को क्या उत्तर दिया ? उन्होने फरमाया—"सन्तो ! अगर तुम्हे आत्म-कल्याण करना है तो इस बाल-मुनि की सेवा अग्लानि पूर्वक करो। यह सरल और भद्र मुनि ऐवन्ता कुमार इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करेगा।"

भावना भवनाशिनी

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म का पालन करने के लिए वडे-वडे अनुष्ठानो की और लम्बे-चौडे क्रियाकाण्डो की आवश्यकता भी नही है। धर्म सरल और निष्कपट हृदय मे निवास करता है। कहा भी है—

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

जिसका हृदय शुद्ध है, धर्म का वही निवास होता है। ऐवन्ता मुनि ने भले ही सचित्त जल का स्पर्श करके साधु के व्रत मे दोष लगाया होगा किन्तु उनके हृदय मे दोष-पूर्ण कार्य करने की भावना नहीं थी और दोष भावनाओ पर ही अवलंबित होते हैं। भावनाओ मे जहाँ विकार होते हैं, वहाँ उनके अनुसार क्रिया न करने पर भी आत्मा पाप की भागी बनती है और जिसके हृदय मे दोषपूर्ण भावनाएँ नही होतीं, उसके द्वारा अनजान मे दोष-पूर्ण कार्य हो जाने पर भी आत्मा को पाप स्पर्श नही करते।

सूक्ति मुक्तावली मे कहा गया है—

भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्।

सात्विक भावनाओ मे ही ईश्वरत्व का निवास है, अतएव भावनाएँ ही ईश्वर की प्राप्ति मे कारणरूप हैं।

इसलिए मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भावनाओ को शुद्ध और

सम्यक् रखे। अगर वह ऐसा नही करता तो प्रथम तो वह सम्यक् चारित्र का पालन ही नही कर सकता और अगर क्रियाएँ उसने की भी तो वे शुद्ध फल प्रदायिनी नही होती।

एक स्थान पर बताया भी है कि—

'नो शुद्ध्यन्ति विशुद्ध भावचपला नैते क्रियातत्परा।"

अर्थात्—पवित्र भावो मे अस्थिरता रखने वाले प्राणी पवित्र नही हुआ करते है, तथा अस्थिर विचार वाले ये प्राणी सम्यक् चारित्र के प्रति भी स्थिर नही रह पाते।

जो प्राणी ऐसा समझ लेते हैं वे स्वय अपना कल्याण तो करते हैं, औरो के आत्म-कल्याण मे भी सहायक बनते हैं। ऐवन्ता मुनि की माता यद्यपि एक मा थी और उनके हृदय मे पुत्र के सयम लेने पर अपार दुख का होना स्वाभाविक था किन्तु उन्होने अपने पुत्र को आत्म-कल्याण मे बाधा देना उचित नही समझा, उलटे यह सुन्दर सीख दी—

'बेटा! तू दीक्षा लेने जा रहा है। अत मेरा विकल और दुखी होना स्वाभाविक है। तेरे प्रति रहा हुआ मोह मुझे सता रहा है एव तेरा वियोग मेरे लिए अत्यन्त कष्टकर है। किन्तु फिर भी मेरा यही कहना है कि सयम ग्रहण करके तू ऐसी करनी करना, जिससे पुन किसी माता को तुझे जन्म देकर रोना न पडे। अर्थात् फिर जन्म लोगे तो फिर दीक्षा लेना पडेगी और वह माता भी मेरी तरह रोएगी अत जन्म-मरण सदा के लिये मिट जाय, इस प्रकार की करनी करना।"

एक माता की कितनी कल्याणकारी शिक्षा थी? आज तो हम देखते हैं कि अनेको बाल-विधवाएँ जिन्हे दुख के कारण विरक्ति हो जाती है, उन्हे भले ही घर मे रहने पर कोई नही पूछता, उलटे नाना प्रकार के कष्ट घरवाले देते हैं। पर अगर वे दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहती हैं तो वे ही घरवाले, पडौसी और समस्त दूर के रिश्तेदार भी हितैषी बनकर आ खडे होते हैं और तरह-तरह के रोडे अटकाते हैं। अगर बहन दृढ होती है तब तो वह किसी की परवाह न करती हुई साधना मार्ग को अपना ही लेती है अन्यथा कमजोर दिल वाली फिर से जीवन भर निरर्थक प्रपचो मे पडी हुई दुख पूर्ण समय बिताती है और बिना मानव जन्म का लाभ उठाए इस ससार से विदा हो जाती है।

आज इस प्रवचन स्थल पर भी एक प्रकार से भावदीक्षित उन्नीस बहनें उपस्थित हैं। इन सबकी भावना कुछ अध्ययन करके दीक्षा ग्रहण करने की है। मुझ

इन्हे देखकर बडा हर्ष हुआ है कि ये अपनी आत्मा का कल्याण करने की इच्छा रखती हैं। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि ये सब जिन भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग पर बढे और अपने भविष्य को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाएँ।

हम सन्त तो सदा ही प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखते हैं तथा भगवान के बताए हुए मार्ग को समझाते हैं। अब इस पर कौन चलता है और कौन नही, यह ध्यान रखना हमारा कार्य नही है। जिस प्रकार एक इ जीनियर सडक बनवा देता है तथा वहाँ रही हुई ऊँची नीची जगहो को समतल कराकर चलने योग्य कर देता है। किन्तु उसके बनवाए हुए मार्ग पर कौन चलता है और कौन नही, इसका हिसाब वह नही रख सकता।

तो बधुओ ! हम आपको जिनवाणी के अनुसार दान, शील, तप एव भाव से युक्त मार्ग आपको सुझाते आ रहे हैं और भरसक सुझाते रहेगे पर इन मार्गों पर चलना आपको है और आप कितना चलते है, इसका हिसाब आपको ही रखना है।

यह जीवन बार-बार मिलने वाला नही है। ऐसा सर्वश्रेष्ठ अवसर पाकर भी अगर आप धर्मकार्यों से उदासीन रहे तो फिर कौन सी योनि मे आप यह कर सकेंगे ? सामाजिक कार्यों के प्रति तो आप सदा जागरूक और उत्साही बने रहते हैं। विवाह करने जाते समय यह नही कहते कि हमे नीद आ रही है, लक्ष्मी तिलक करने आए तो भी यह नही कहते कि मुँह धोकर आते हैं अभी तुम ठहरो, इसी प्रकार रात्रि को बारह बजे तक भी बही खाते देखते हैं तो पूर्णरूप से सजग रहते हैं कि कही कोई अक गलत न लिख जाए।

परन्तु यहाँ प्रवचन सुनते समय और सामायिक करते समय आपको नीद आने लगती है और झोके खाते खाते क्या सुना और क्या नही सुना इसका ध्यान नही रहता। यह क्यो होता है ? इसलिये ही कि इन कार्यों के प्रति आपके हृदय मे उत्साह और लगन नही है। इनके प्रति आपकी उदासीनता है।

पर भाइयो ! ऐसे काम कैसे चलेगा ? आपको धर्माराधन भी अन्य सासारिक कार्यों के समान ही जागरूक रहकर हमेशा करना चाहिये। और हमेशा पूरी तरह नही कर सकते तो इन पर्युषणपर्व के शुभ अवसर पर तो सामाजिक प्रपचो को छोड ही देना चाहिए। आप यह विचार करे कि ये दिन गाँवो मे लगने वाले हाट-बाजारो के समान मुख्य और अधिक विशेषता लिए हुए होते हैं।

अगर गाँव का व्यक्ति हमेशा तो अपनी दुकान खोले रहे पर हाट के दिन

सम्यक रखे। अगर वह ऐसा नही करता तो प्रथम तो वह सम्यक् चारित्र का पालन ही नही कर सकता और अगर क्रियाएँ उसने की भी तो वे शुद्ध फल प्रदायिनी नही होती।

एक स्थान पर बताया भी है कि—

"नो शुद्ध्यन्ति विशुद्ध भावचपला नैते क्रियातत्परा।"

अर्थात्—पवित्र भावो मे अस्थिरता रखने वाले प्राणी पवित्र नही हुआ करते है, तथा अस्थिर विचार वाले ये प्राणी सम्यक् चारित्र के प्रति भी स्थिर नही रह पाते।

जो प्राणी ऐसा समझ लेते हैं वे स्वय अपना कल्याण तो करते हैं, औरो के आत्म-कल्याण म भी सहायक बनते हैं। ऐवन्ता मुनि की माता यद्यपि एक मा थी और उनके हृदय मे पुत्र के सयम लेने पर अपार दुख का होना स्वाभाविक था किन्तु उन्होने अपने पुत्र को आत्म-कल्याण मे बाधा देना उचित नही समझा, उलटे यह सुन्दर सीख दी—

"बेटा! तू दीक्षा लेने जा रहा है। अत मेरा विकल और दुखी होना स्वाभाविक है। तेरे प्रति रहा हुआ मोह मुझे सता रहा है एव तेरा वियोग मेरे लिए अत्यन्त कष्टकर है। किन्तु फिर भी मेरा यही कहना है कि सयम ग्रहण करके तू ऐसी करनी करना, जिससे पुन किसी माता को तुझे जन्म देकर रोना न पडे। अर्थात् फिर जन्म लोगे तो फिर दीक्षा लेना पडेगी और वह माता भी मेरी तरह रोएगी अत जन्म-मरण सदा के लिये मिट जाय, इस प्रकार की करनी करना।"

एक माता की कितनी कल्याणकारी शिक्षा थी? आज तो हम देखते है कि अनेको बाल विधवाएँ जिन्हे दुख के कारण विरक्ति हो जाती है, उन्हे भले ही घर मे रहने पर कोई नही पूछता, उलटे नाना प्रकार के कष्ट घरवाले देते हैं। पर अगर वे दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहती है तो वे ही घरवाले, पडौसी और समस्त दूर के रिश्तेदार भी हितैषी बनकर आ खडे होते हैं और तरह-तरह के रोडे अटकाते है। अगर बहन दृढ होती है तब तो वह किसी की परवाह न करती हुई साधना मार्ग को अपना ही लेती है अन्यथा कमजोर दिल वाली फिर से जीवन भर निरर्थक प्रपचो मे पडी हुई दुख पूर्ण समय बिताती है और बिना मानव जन्म का लाभ उठाए इस ससार से विदा हो जाती है।

आज इस प्रवचन स्थल पर भी एक प्रकार से भावदीक्षित उन्नीस बहने उप-स्थित है। इन सबकी भावना कुछ अध्ययन करके दीक्षा ग्रहण करने की है। मुझ

इन्हे देखकर बडा हर्ष हुआ है कि ये अपनी आत्मा का कल्याण करने की इच्छा रखती हैं। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि ये सब जिन भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग पर बढें और अपने भविष्य को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाएँ।

हम सत तो सदा ही प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखते हैं तथा भगवान के बताए हुए मार्ग को समझाते हैं। अब इस पर कौन चलता है और कौन नही, यह ध्यान रखना हमारा कार्य नही है। जिस प्रकार एक इजीनियर सडक बनवा देता है तथा वहाँ रही हुई ऊँची नीची जगहो को समतल कराकर चलने योग्य कर देता है। किन्तु उसके बनवाए हुए मार्ग पर कौन चलता है और कौन नही, इसका हिसाब वह नहीं रख सकता।

तो बधुओ ! हम आपको जिनवाणी के अनुसार दान, शील, तप एव भाव से युक्त मार्ग आपको सुझाते आ रहे हैं और भरसक सुझाते रहेगे, पर इन मार्गों पर चलना आपको है और आप कितना चलते हैं, इसका हिसाब आपको ही रखना है।

यह जीवन बार-बार मिलने वाला नही है। ऐसा सर्वश्रेष्ठ अवसर पाकर भी अगर आप धर्मकार्यो से उदासीन रहे तो फिर कौन सी योनि मे आप यह कर सकेगे ? सासारिक कार्यों के प्रति तो आप सदा जागरूक और उत्साही बने रहते हैं। विवाह करने जाते समय यह नही कहते कि हमे नीद आ रही है, लक्ष्मी तिलक करने आए तो भी यह नही कहते कि मुँह धोकर आते हैं अभी तुम ठहरो, इसी प्रकार रात्रि को बारह बजे तक भी बहीखाते देखते हैं तो पूर्णरूप से सजग रहते हैं कि कही कोई अक गलत न लिख जाए।

परन्तु यहाँ प्रवचन सुनते समय और सामायिक करते समय आपको नीद आने लगती है और झोके खाते खाते क्या सुना और क्या नही सुना इसका ध्यान नही रहता। यह क्यो होता है ? इसलिये ही कि इन कार्यों के प्रति आपके हृदय मे उत्साह और लगन नही है। इनके प्रति आपकी उदासीनता है।

पर भाइयो ! ऐसे काम कैसे चलेगा ? आपको धर्माराधन भी अन्य सासारिक कार्यो के समान ही जागरूक रहकर हमेशा करना चाहिये। और हमेशा पूरी तरह नही कर सकते तो इस पर्युषणपर्व के शुभ अवसर पर तो सासारिक प्रपचो को छोड ही देना चाहिए। आप यह विचार करें कि ये दिन गाँवो मे लगने वाले हाट-बाजारो के समान मुख्य और अधिक विशेषता लिए हुए होते है।

अगर गाँव का व्यक्ति हमेशा तो अपनी दुकान खोले रहे पर हाट के दिन

किवाड बन्द करके सो जाय तो उसे कितनी हानि होगी ? इसी प्रकार प्रतिदिन तो आप कुछ करते हैं या नही ठीक है, पर इन पर्युषण के दिनो मे भी अगर चूक गये, कुछ नही किया तो आपको भी कितना नुकसान होगा, आपको इसका अन्दाज है ? अगर है, तो फिर मन, वचन एव शरीर से जो कुछ भी त्याग तप वन सके, करने का प्रयत्न कीजिये । शास्त्रकारो ने तप का वडा महत्व बताया है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है –

"भवकोडी सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ ।"

—साधक करोड़ो भवो के सचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है ।

इसलिये प्रत्येक आत्म-हिताकाक्षी को तपस्या करना चाहिए । हमारे मगन मुनि जी ने स्वास्थ्य नरम होने पर भी इकतीस दिनों के व्रत किये है । इनके साथ भी चार, तीन या जिससे जितना वने करो तो आपकी आत्मा को लाभ होगा । यह मैं अपनी ओर से कहता हूँ । आप कह सकते हैं कि –'हमे तो उपदेश दे रहे हैं पर आप स्वय क्यो नही करते ।' पर यह कोई वात नही है । मुझसे जो वनता है, मैं करता हूँ और आपसे जो वने आप करें । मैं एकासन करता हूँ । सत उसके लिए भी मना करते हैं स्वास्थ्य के कारण । किन्तु मेरा कहना है कि जब तक वनता है करूँगा । चन्द्रऋषि जी भी कर रहे थे पर उनका स्वास्थ्य खराब हो गया तो पारणा करना पडा । पर तवियत ठीक होते ही इन्होने पुन उपवास प्रारम्भ कर दिए हैं । आपको भी इन दिनो मे यथाशक्य तप करना चाहिए ।

तप से मेरा आशय केवल उपवास, वेले, तेले या अठाई आदि से भी नही है । केवल अनशन ही तप मे नही आता । इसके अलावा भी वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, पापो के लिए प्रायश्चित, विनय आदि तप के जो वारह प्रकार हैं, उनमे से जो भी आपसे वन सके और जितनी मात्रा से वनें, सभी उत्तम हैं तथा निर्जरा के कारण हैं । अत अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आप जो भी करें वह आत्मा के लिए उपयोगी है ।

सच्चा साधक वही है जो मलिन और हीन भावनाओ को मानस मे से निकालकर उनके स्थान पर विशुद्ध भावनाओ को प्रतिष्ठित करे तथा आत्मा की ज्योति को जगाए । जो भी व्यक्ति ऐसा करेगा, वह किसी न किसी प्रकार का तपाचरण स्वत ही कर सकेगा ।

एक फारसी के कवि ने कहा है—

जाहिर अज आमाले नेको पाक कुन।
बातन अज हबकुल् यकीं बेबाक कुन ॥

अर्थात्—हे जीव ! तू अपने बाह्यस्वरूप को शुभ कर्मों के द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावो का दृढ श्रद्धा से उत्थान कर।

मानव जीवन के पावन उद्देश्य की पूर्ति इसी मार्ग से हो सकती है और जो ऐसा करेंगे, वे अपने जीवन को सफल बनाते हुए अनन्त सिद्धि हासिल कर सकेंगे। बस इतना ही कहकर मैं आज का प्रवचन समाप्त करता हूँ।

O

३२ | नीके दिन बीते जाते है

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव बहनो !

कल से हमारे यहाँ महापर्व पर्युषण का प्रारम्भ हुआ है। हमारे देश में पर्वों का आगमन सदा होता रहता है। कितने पर्व हमारे हिन्दुस्तान मे मनाये जाते है उनकी ठीक गणना भी नहीं की जा पाती। किन्तु उनमें से अधिक भौतिक पर्व होते हैं और बाकी आध्यात्मिक पर्व।

इन आध्यात्मिक पर्वों मे से सबसे मुख्य पर्युषण-पर्व को माना गया है। क्योंकि भौतिक या सामाजिक पर्व दीवाली, होली राखी आदि सभी व्यावहारिक पर्व होते है और इन्हे आप अच्छा खा-पीकर, अच्छे-अच्छे कपडे पहनकर, शरीर की साज-सज्जा कर तथा मकानो की सजावट करके मनाते है।

किन्तु पर्युषण पर्व इन दृष्टियो से नहीं मनाया जाता है। इसे मनाने का उद्देश्य आत्मा की शुद्धि करना, इसे कर्मों से रहित करना तथा परलोक के लिए शुभ कर्मों का सचय करना होता है। अत इन दिनो मे लोग जप, तप, सेवा, परोपकार, स्वाध्याय तथा दान पुण्य करते हैं।

ध्यान देने की बात है कि अभी मैंने जिन-जिन शुभ क्रियाओ के नाम बताए हैं वे तथा और भी अनेक उत्तम कार्य तथा त्याग आदि सभी मिलकर कर्मों की निर्जरा करते हैं। यह नहीं कि एक गुण तो अपना लिया और बाकी को छोड दिया। इससे क्या बनेगा ? उदाहरण स्वरूप स्वाध्याय तो खूब कर लिया पर क्रोध मे दुर्वासा ऋषि ही बने रहे और क्षमा भाव धारण नही किया तो क्या अधिक लाभ होगा ? इसी प्रकार यश-प्राप्ति के लिए दान तो दे दिया पर दूसरी तरफ धन

इकट्ठा करने के लिए अनीति, धोखेबाजी और अनेक प्रकार के हिंसात्मक कार्य करवाते रहे तो उससे कर्मों की निर्जरा कैसे होगी ?

मेरे कहने का अभिप्राय यही है त्याग व्रत, तपस्या, दान, सेवा आदि सभी गुणो का सगठित रूप ही साधक के आचार को श्रेष्ठ बनाता है तथा आत्म-कल्याण मे सहायक बनता है। दूसरे शब्दो मे समस्त गुणो का सगठन ही आत्मा को शुद्ध बना सकता है। इसके विपरीत जिस प्रकार एक बडा सुन्दर, सुदृढ और विशाल खम्भा ही मकान का काम नही द सकता, उसी प्रकार एक गुण को अपना लेने से और अन्य दुर्गुणो का त्याग न करन से मोक्ष की साधना सम्पन्न नहीं होती।

सगठन से लाभ

अभी-अभी प्रसगवश रतनमुनि जी ने सगठन के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि समाज रूपी मकान बनाने मे जब आप सभी समाज के सदस्य सगठित होकर काम करेंगे तो समाज-रूपी विशाल भवन निर्मित हो सकेगा। मुनिजी का कथन सत्य है। वास्तव मे ही अपना पेट तो सभी भर लेते हैं। आप भी अपने और अपने परिवार के लिए तो सब कुछ करते है किन्तु समाज मे कितने दीन-दुखी, असहाय और अभावग्रस्त है क्या इसका हिसाब भी आप रखते है ? नही, रख भी नही सकते, यह एक ही व्यक्ति के बस का रोग नही है। सब सगठित होकर कमर कस लें तो सम्पूर्ण समाज का भला किया जा सकता है।

अपने परिवार का और अपना ख्याल सभी रखते हैं पर उससे कभी आपकी आत्मा का लाभ नहीं होता क्योकि वह सब तो आप मोह और स्वार्थ के वशीभूत होकर करते हैं। उदाहरण स्वरूप आप अपने घर मे बीज बोयेंगे तो क्या कुछ उग सकता है ? दशहर या गमलो मे बोने से कुछ उग जाता है पर उससे भी फल प्राप्त नही होता। फल प्राप्ति के लिये तो घर से बाहर खुली जमीन मे बीज बोने पर ही काम बनेगा।

इसी प्रकार अपने घर-परिवार के लिए चाहे आप हजारो और लाखो खर्च करें तो उससे क्या लाभ है ? लाभ तो समाज के दीन-दुखियो की सहायता करने मे है। अपनो की बजाय दूसरो के लिए खर्च करने पर फल भी कई गुना अधिक मिलता है। पर खेद की बात है कि आप लोगो की दृष्टि अपने घर से बाहर नही जाती और इसीलिए हमारी कौम अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर पाती।

एक कवि ने कहा है—

> और कौमे तो बढी, तुम न बढे एक कदम।
> आंख मलते ही रहे, आंख का जाला न गया ॥

कवि दु ख प्रकट करता हुआ कहता है—'अन्य जातियो को देखो, वे अपनी तरक्की करती जा रही हैं पर तुम एक कदम भी बढ न सके। इसका कारण क्या है ? यही कि तुम मे सगठन नही है। आगे वही समाज बढ सकता है जब कि उसके सदस्य एकमत होकर किसी भी काम का बीडा उठाएँ।

भगवान महावीर ने भी धर्म का उद्धार करने के लिए चतुर्विध सघ की स्थापना की है। वह इसलिए कि चारो अपना-अपना कार्य करें। एक का काम दूसरा बराबर नही कर पाता अत सभी सघो को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए तथा धर्म का प्रचार एव प्रसार करने मे शक्ति लगानी चाहिए।

पिछले दिनो मे कान्फरेस ने बहुत कार्य किया। अजमेर साधु-सम्मेलन के लिए सतो को इकट्ठा करने मे बडे-बडे धनाढ्य व्यक्ति भी जहाँ साधन नही थे, वहाँ पैदल गये। जैसे हैदराबाद वाले लालाजी, अहमदनगर के मूथाजी, और सतारा वाले श्रावक ने जिस प्रकार उत्साह पूर्वक बीडा उठाया था, उसी प्रकार कार्य भी किया और सतो के इकट्ठे होने का प्रसग आया। अन्यथा एक सम्प्रदाय का साधु दूसरे सम्प्रदाय के साधु को देखते ही पीठ फेरकर चला जाता था।

किन्तु इन श्रावको ने दो पैसे खर्च किये और श्रम भी किया अत उसका फल कुछ तो मिलेगा ही। यह सही है कि जब वृक्ष लग जाता है तो कुछ कीडे भी उत्पन्न होते हैं और वृक्ष के खाने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार सगठन मे जिन्होने बराबर का हिस्सा लिया था वे ही किन्ही कारणोवश अलग हुए और इस प्रकार कीडे लगने के समान ही सगठन कुछ कमजोर हो रहा है, ऐसा कहने मे कोई हर्ज नही है।

अगर आज सभी सत एक दूसरे की भावनाओ का आदर करते हुए इकट्ठे होकर काम करें तो बहुत से काम बन सकते हैं। मैं किसी का नाम नहीं लेना चाहता पर जिस सगठन को बनाने मे श्रावको ने लाखो रुपया खर्च किया उसे पुन तोड देना अच्छी बात नही है। बिखरी हुई शक्ति से कभी काम नही बनता। समाज का भला तो सगठन से ही होगा।

कवि का कहना है कि तुम अपनी आँखें तो मलते रहे पर उसमे आया हुआ जाला नही निकाला जो दृष्टि मे बाधक बनता रहा है। अर्थात् समाज का भला हो इसके लिए बातें तो करते रहे हो पर असगठन रूपी जाला नही हटा सके। ऐसी स्थिति मे काम कैसे होगा ?

बन्धुओ ! अब भी कुछ नही बिगडा है। समय है अत जागृत होकर समाज मे सगठन हो, उसकी तरक्की हो, धार्मिक शिक्षण की अधिक से अधिक सुविधा लोगों

को हासिल हो तथा निराश्रित भाई-बहनो को सरक्षण मिले इसके लिए धन, बुद्धि और विवेक से सम्पन्न लोगो को कदम उठाना चाहिए।

सगठन किन मे है ?

कहते है कि सगठन का सबक तो काक, कायस्थ और कुक्कुट से लेना चाहिये। कौओ मे सगठन की भावना कितनी जबर्दस्त होती है ? उन्हे कहीं भी कोई खाद्य पदार्थ दिखाई दे जाय, फौरन कांव-कांव करके अपनी जाति के अन्य कौओं को बुला लेते हैं। कोई भी कौआ कभी अकेला कुछ नही खाता।

इसी प्रकार कायस्थ जाति के लिये भी कहा जाता है कि कायस्थ जाति बडी होशियार और सगठित होती है। किसी कचहरी मे अगर एक कायस्थ पहुँच गया तो अपने बल पर दस-बीस और भी इकट्ठे कर लेगा।

तीसरा सगठनप्रेमी कुक्कुट माना जाता है। घूरे पर या उकरडी पर उसे अन्न के दाने दिख जायें तो उन्हे अपने पैरों से खोद-खोदकर दूर उछालता जाता है ताकि अन्य मुर्गे भी सरलता से उन्हें खा सकें। इस प्रकार काक, कायस्थ और कुक्कुट इन तीनो के द्वारा सम्प का उदाहरण दिया जाता है।

असगठित कौन रहते हैं ?

अब असगठितो के विषय मे भी सुनिये ! जिनमे सगठन नही है, वे हैं—
'वणिक, श्वानो, गजा' द्विजा ।'

असगठित व्यक्तियो मे सर्वप्रथम वणिक का नाम आया है। वणिक अर्थात्— व्यापारी। इनके असगठन के विषय मे तो आप भली-भांति जानते ही होंगे क्योंकि आप मे से अधिकाश व्यापारी ही हैं। फिर अपनी प्रवृत्तियो से अनजान नहीं हो सकते। कहने वाले ने इसीलिए कहा है कि एक व्यापारी दूसरे व्यापारी की उन्नति कभी नही देख सकता। अब उनसे पूछा जाय कि भाई ! तुम दूसरो को देखकर क्यों जलते हो ? तुम्हे उतना ही तो मिलेगा जितना पूर्वजन्म मे पुण्य का उपार्जन किया है। जितना बोया जाता है वही तो फल देता है। तुमने अगर बोया नहीं होगा तो अब मिलेगा कैसे ? पर यह कहां सोचते हो आप लोग ? आप चाहे अपना नुक्सानकर लेंगे पर दूसरे का भी नुकसान हो यह प्रयत्न जरूर करेंगे। वह कैसे ? इस प्रकार कि आपके पडोसी व्यापारी को नफा हो रहा है तो आप अपने वस्तुओ का दाम उस व्यापारी के दामो से दो पैसे कम कर देंगे। इससे आपका भी नुकसान हुआ कि नहीं ? आज के युग मे तो बहुत कम ऐसे व्यक्ति होंगे जो अपने से हीन व्यक्ति को सहारा देकर उठाने का प्रयत्न करते होंगे।

पर बधुओ, प्राचीन काल मे ऐसा नही था। शास्त्रो मे आपने सार्थवाह शब्द कई बार पढा होगा। सार्थ यानी समूह, और वाह यानी वाहक, या वहन करने वाला। इस प्रकार सार्थवाह का अर्थ समूह को लेकर चलने वाला होता है।

उस काल मे जो सार्थवाह होते थे यानी सम्पन्न व्यक्ति कहलाते थे, वे व्यापार के लिए जाते समय गांव के सभी व्यक्तियो को आमन्त्रित करते हुए कहते थे—"मैं व्यापार के लिए विदेश जा रहा हूं, जिसे भी मेरे साथ चलना हो प्रसन्नता पूर्वक चल सकता है। मार्ग का व्यय, खाने-पीने का खर्च तथा वस्त्र एव औपधि आदि जो भी आवश्यक होगा, सभी का खर्च मैं करूंगा और व्यापार मे लाभ हुआ तो सबको हिस्सा दूंगा तथा हानि हुई तो वह मैं ही सहन करूंगा।"

कितनी उदारता, कितना स्नेह और कितने परोपकार की उनमे भावना थी? वे भी तो आप जैसे ही व्यक्ति होते थे किन्तु समाज का और जाति का भला हो यह प्रवल भावना उनके अन्त करण में विद्यमान रहती थी। आज कहां हैं वैसे लोग? आज तो सार्थवाह मे 'व' और जुड गया है तथा सार्थवाह के स्थान पर स्वार्थवाह हो गया है। सभी की भावना यह हो गई है कि मुझे अधिक से अधिक मिले।

पर बधुओ! ऐसी भावना रखने से क्या आपके समाज और आपकी जाति का उत्थान हो सकेगा? क्या आपके धर्म की रक्षा होगी? आपका धर्म क्या कहता है? यही तो, कि ससार के समस्त प्राणियो पर करुणा का भाव रखो, अगर तुम्हारे पास रोटी है तो दूसरे को भूखा मत सोने दो। कल मैंने राजा शिवि के वारे मे आपको बताया था कि एक कबूतर के लिए भी उन्होंने अपने शरीर का मास और वह भी कम होने पर सम्पूर्ण शरीर ही अर्पण कर दिया था।

अव आपको इतना त्याग करने की तो आवश्यकता नही पडती, पर केवल स्वार्थ का त्याग तो करना चाहिए। इसी प्रकार ससार के समस्त प्राणियों की भी फिक्र आप न करें, किन्तु अपने समाज के अनाथ, असहाय और अभावग्रस्त व्यक्तियो का ध्यान तो रखें। हम साधु हैं। अगर हमे एक स्थान पर सुविधाएं न मिली तो फौरन हम दूसरे गांव की ओर चल देंगे। किन्तु आपके गांव मे तथा समाज मे रहने वाले निराश्रित व्यक्ति और अनाथ वहनें कहां जाएंगी? उनके लिए तो आप लोगो का ही सहारा है। और आप संगठित होकर ही उनका सहारा वन सकते हैं।

तो मैं वता रहा था कि असगठित व्यक्तियो के उदाहरणो मे वणिको का नाम सर्वप्रथम आया है। आप इस कलक को मिटाएं तथा स्वार्थवाह न वनकर सार्थवाह वनें, मेरी यही कामना है। आप यह भी कभी न भूलें कि सार्थवाह वनने पर आपकी करणी आपके साथ चलेगी और स्वार्थवाह वनने पर जो इकट्ठा करेंगे

वह सब यही रह जाएगा। इसलिये मिले हुए जीवन के एक-एक क्षण को आप सार्थक करे, क्योकि बीता हुआ समय पुन वापिस नही आता।

किसी कवि ने एक भजन मे भी यही बात कही है—

दिन नीके बीते जाते हैं।
सुमरण कर नाम जिनन्द का, दिन नीके बीते जाते हैं।
जैसे पानी बीच बतासा, मूरख फसे मोह की फासा।
भला क्या जोवे सास की आसा गये सांस नहीं आते हैं।
दिन नीके बीते जाते हैं।

कवि का कथन अत्यन्त शिक्षाप्रद है। वह कहता है—"अरे भोले प्राणी! जरा विचार कर कि तेरे जीवन के ये सुनहरे दिन किस प्रकार निरर्थक चले जा रहे हैं। जन्म लेने के पश्चात् बचपन मे ज्ञान का सम्यक् उदय नही होता और वृद्धावस्था आ जाने पर फिर धर्माराधन की शक्ति नही रहती। इससे स्पष्ट है कि शैशव और वृद्धत्व के बीच का समय ही त्याग, तपस्या एव धर्माराधन की अन्य क्रियाओ के लिये उपयुक्त होता है। इस काल मे ही व्यक्ति इच्छानुसार शुभ कर्मों का सचय कर सकता है। कवि ने इन्ही दिनो के लिए कहा है कि ये नीके अर्थात् कुछ कर सकने लायक दिन व्यर्थ जा रहे हैं। इनके चले जाने पर प्रथम तो वृद्धावस्था आएगी या नही इसका क्या पता है, और अगर आ भी गई तो उस स्थिति मे क्या धर्मक्रियाएँ या साधना करना सभव होगा?

कवि सुन्दरदास जी ने कहा है—

देह सनेह न छांडत है नर,
जानत है थिर हैं यह देहा।
छीजत जाय घटै दिन ही दिन,
दीसत हैं घट को नित छेहा॥
काल अचानक आइ गहै कर,
ढाहि गिराइ करै तनु खेहा।
सु दर जानि यहै निहचै धरि,
एक निरजन सू करि नेहा॥

कहते हैं—बुद्धि और विवेक से हीन मनुष्य अपने शरीर के प्रति रहे हुए मोह को कभी भी नही छोडता। ससार के असख्य जीवो को सदा मौत के मुँह मे जाते हुए देखकर भी वह अपने शरीर को इस प्रकार रखता है जैसे यह सदा ही स्थिर रहने वाला है।

बालक जिस समय जन्म लेता है उसी क्षण से उसकी आयु घटती जाती है और युवावस्था के पश्चात् तो शरीर क्षीण होता ही चला जाता है। किन्तु इस बीच मे भी काल तो सदा ही मस्तक पर मँडराता रहता है तथा बचपन, जवानी या बुढापे मे जब भी दाव लगता है, झपट्टा मारकर जीव को ले जाता है।

इसलिए कवि कहता है कि मन मे निश्चय पूर्वक शरीर की नश्वरता को और काल के किसी भी समय के आगमन को समझते हुए निरजन प्रभु से प्रेम करो और उनकी भक्ति-उपासना करके अपने इस सुनहरे समय को सार्थक करो।

प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्र-स्वाध्याय से, धर्मोपदेश श्रवण से एव सत्सग से लाभ उठाकर जीवन के महत्त्व को तथा साधना के सच्चे मार्ग को समझना चाहिए।

संगति का फल

प्रत्येक प्राणी के जीवन पर सगति का बडा भारी प्रभाव पडता है। मनुष्य का जीवन वैसा ही बनता है, जैसे उसके साथी होते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् 'गेटे' ने बडी महत्वपूर्ण बात कही है—

"Tell me witt whom thou art found and I will tell thee who thou art"

—मुझे बताइये आपके सगी-साथी कौन है और मैं बता दूँगा कि आप कौन हैं।

दार्शनिक गटे के कथन का आशय यही है कि किसी व्यक्ति के चरित्र के बारे मे अगर हमे सही जानकारी करनी है तो बिना उससे कुछ पूछे भी, केवल उसके साथियो और मित्रो के आचरण के आधार पर ही उस व्यक्ति के चरित्र को जाना जा सकता है।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्तियो को सदा सज्जन पुरुष की सगति करनी चाहिये। उसने दो लाभ होते हैं—पहला तो यह कि सत्सगति करने से जिनकी सगति की जानी है, उनके सद्गुणो का, सदाचार का एव सुन्दर विचारो का हम पर प्रभाव पडता है यानी हममे भी उनका आविर्भाव होता है। और दूसरा लाभ यह होता है कि हम जिनकी सगति करते हैं उन्हें देखकर अन्य व्यक्ति हमें भी उनके समान सद्गुण सम्पन्न समझते हैं। तो, सगति का जीवन पर बडा प्रभाव पडता है और दूसरे शब्दो मे सगियो के गुणानुसार ही सग करने वाले के जीवन का निर्माण होता है। एक छोटा सा उदाहरण इस विषय को स्पष्ट करता है।

पक्षियो पर भी सगति का असर

एक जगल मे बहुत से तोते रहते थे। उनमे से एक को एक बार एक भील पकडकर ले गया और एक को एक ऋषि बडे प्रेम से ले आए तथा उसे पालने लगे।

ऋषि और भील, दोनों ने अपने-अपने काम के अनुसार तोतो को शिक्षा दी तथा अपने-अपने स्थान पर पिंजरो में बद करके पेडों पर लटका दिया।

एक बार उस प्रदेश का राजा जगल से गुजरता हुआ अपने महल की ओर जा रहा था कि उसे मार्ग मे उसी भील का झोपडा दिखाई दिया जो जगल से तोते को लाया था।

राजा उस झोपडे के समीप से ही गुजरा पर वृक्ष पर पिंजरे मे बैठा हुआ तोता राजा को देखते ही जोर से बोला—"अरे भीलो ! दौडो, यह मनुष्य धनवान है, इसे लूट लो दौडो, दौडो।"

तोते की यह बात सुनते ही राजा ने घबराकर घोडे को एड लगाई और वहाँ से भाग निकला। घोडा भागते-भागते अब ऋषियो के आश्रम के समीप से गुजरा। वहाँ पर भी एक तोता पिंजरे मे बन्द था और पिंजरा वृक्ष से लटक रहा था। यह तोता वही था जो ऋषि जगल के उस स्थान से लाये थे, जहाँ से भील एक तोते को ले गया था।

आश्रम निवासी तोते ने भी राजा को देखा, पर वह राजा को देखते ही चिल्लाया—

"महाराज ! आज अपने यहाँ अतिथि आए हैं। इनका स्वागत-सत्कार करो। जल्दी आओ।"

राजा ने इस तोते की बात भी सुनी और आश्चर्य मे पड गया। किन्तु वह वहाँ ठहरा नहीं और साझ पड जाने के भय से अपने नगर मे आ गया।

राजा को दोनो तोतो की बातो पर बडा आश्चर्य हुआ था अत वह उनकी बातो को भूला नही और अगले दिन ही उसने अपने कर्मचारियो को भेजकर दोनो को मगवाया।

अपने यहाँ मगवाकर उसने उन दोनो की परीक्षा ली और पाया कि दोनों की बात-चीत वगैरह मे बडा भारी अन्तर है। भील के पास रहा हुआ तोता सदा 'पकडो, मारो, लूटो, हत्या कर दो।' बस इसी आशय के वाक्य बोलता था किन्तु ऋषि के आश्रम मे रहा हुआ तोता बोलता था--मन्दिर जाओ, भजन करो, अतिथि की सेवा करो, ध्यान करो, पूजा मे बैठो आदि आदि।

राजा को वडा आश्चार्य हुआ कि दोनो ही तोते हैं किन्तु ऐसे विपरीत भाव व्यक्त क्यो करते हैं ? पर जानकारी करने पर मालूम हुआ कि सगति के कारण इन दोनो मे इतना अन्तर आया है। भीलो के साथ रहने वाला तोता वैसी ही बातें सुनता रहता है अत स्वय भी इसी प्रकार बोलता है और ऋषियो के आश्रम में रहने वाला पूजा-पाठ, भक्ति, सेवा आदि-आदि वाक्य सुनता है अत' ऐसी भाषा सीख गया है।

तो वन्धुओ, इसीलिए आपसे वार-वार सत्सगति करने के लिए कहा जाता है। जब विशेष बुद्धि और विवेक से रहित पक्षियो पर भी सगति का ऐसा असर पडता है तो फिर मनुष्यो का तो मनुष्यो पर प्रभाव पडना कौन सी वडी वात है। पर आप लोग इस वात का कहाँ ध्यान रखते है ? आप कभी यह नही देखते कि आपके बालक कैसे व्यक्तियो की सगति करते हैं ? उन्हे धर्म-स्थान मे लाने के लिए कहें तो आप उत्तर देते हैं—"महाराज ! क्या करें आजकल के बालक माता-पिता का कहना ही नही मानते। हम तो बहुत कहते हैं पर लडके आते ही नही।"

मुझे यह सुनकर बडा खेद होता है कि जब आप अपने बच्चो पर अपना प्रभाव नही डाल सकते तथा उनमे अच्छे सस्कार आरोपित नही कर सकते तो फिर वे कब धर्म के महत्व को समझेंगे और कब जीवन की सार्थकता के विषय मे सोचेंगे ? उनके जीवन का सुनहरा समय या कवि के शब्दो मे नीके दिन क्या यो ही नही चले जाएँगे ?

भजन मे आगे भी कहा गया है—

'जैसे पानी बीच बतासा मूरख फसे मोह की पासा।' अर्थात् भले ही यह जीवन हमे पचास साठ तथा सत्तर वर्ष का भी दिखाई देता है। किन्तु जबकि हम अनन्तकाल से इस ससार मे भ्रमण कर रहे हैं तो उस समय को देखते हुए तो यह केवल इतना ही है जितना समय पानी मे डाले हुए बतासे को घुलने मे लगता है। इतने से समय मे ही यह समाप्त होने वाला है।

किन्तु मूर्ख व्यक्ति फिर भी जीवन के मोह मे ही पडा रहता है। वह इस बात की आशा करता है कि हम सौ वर्ष जीएँगे। पर क्या कोई इसकी गारण्टी ले पाता है ? अनेको जीव इस ससार से नित्य जाते है। कोई बैठा-बैठा मित्रो से प्रेमालाप करता हुआ अचानक ही समाप्त हो जाता है, कोई सडक पर ठोकर लगते ही यहाँ से प्रयाण कर जाता है, कोई हास्य विनोद मे मग्न है, किन्तु उसी क्षण हृदय की गति रुकते ही निश्चेष्ट हो जाता है।

तभी तो कहा गया है :—

कौन भांति करतार, कियो है सरीर यह,
पावक के मांहि देखो पानी को जमावनो।
नासिका श्रवन नैन, बदन रसन बैन,
हाथ पांव अग नख, सीस को बनावनो ॥
अजब अनूप रूप, चमक दमक ऊप,
सुन्दर सोभित अति अधिक सुहावनो।
जाही छिन चेतन, सकति लीन होइ गइ,
ताही छिन लागते हैं, सबकू अभावनो ॥

कवि का कहना है कि विधाता ने यह शरीर किस प्रकार का बनाया है? जिस प्रकार अग्नि मे जल नही ठहरता, उसमे डालते ही विलीन हो जाता है। उसी प्रकार जीवन भी पलक झपकते ही समाप्त हो जाता है।

ऊपर से देखने में तो यह बडा सुन्दर मालूम देता है। व्यक्ति के सुडौल नाक, कान, आँखें, मुँह, शरीर, हाथ-पैर तथा अन्य सभी अग नख से शिखा तक बडे अनुपम और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति दिखाई देते हैं। किन्तु जब उम्र बढने पर शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है तो वे ही अग बेडौल दिखाई देने लगते है। अर्थात् बडी बडी सुन्दर आँखें ज्योतिहीन हो जाती हैं, कमर टेढी हो जाती है, त्वचा झुर्रीदार बन जाती है तथा दाँतविहीन मुँह पोपला हो जाता है तो कोई फिर उस शरीर से स्नेह नही रखता, उलटे ग्लानि करने लगता है। और जिस दिन इस शरीर-रूपी पिंजरे से आत्मा अलग हो जाती है, फिर तो क्षण भर भी उसकी ओर कोई दृष्टि उठाकर नही देखता तथा भय के मारे उस स्थान से ही दूर भाग जाते हैं।

इसलिए बन्धुओ! हमे जीवन का लक्ष्य केवल अपने शरीर को सजाना, सँवारना और पौष्टिक बनाना ही नहीं मानना चाहिए। अपितु जीवन का लक्ष्य जीवन से मुक्ति प्राप्त करना समझना चाहिये। मेरे कहने का आशय यही है कि हमने मानव-जीवन प्राप्त किया है और यह नर-देह मिल गई है तो इसे नौका बनाकर ससार-सागर को पार करने के उपयोग मे लेना चाहिए। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिये कि अब हमे पुन जन्म न लेना पडे और पुन कभी मरने का कष्ट भी न उठाना पडे। जन्म-मरण से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है।

पर यह हमारा उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जबकि हम ससार के प्रपचो को कम से कम करें तथा शरीर पर ममता न रखकर इसे तपस्या, त्याग एव धर्म क्रियाओ मे लगाएँ। पर्युषण पर्व के दिन प्रतिवर्ष आकर हमे यही प्रेरणा देते हैं कि हम अपने आप मे अधिक उत्साह और अधिक सजगता लाएँ तथा जीव और जगत के रहस्य को समझते हुए आत्म-विश्वास के साथ सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करें तथा दान, शील, तप एवं भावमय जीवन बनाएँ। समस्त सद्गुणो के सगठन से ही श्रेष्ठ जीवन का निर्माण होता है।

ऐसा किये बिना आत्म-शुद्धि संभव नही है और आत्म-शुद्धि के बिना मुक्ति की आशा रखना व्यर्थ है। अत. आत्म-बन्धुओ ! हमें जागना है और जागकर अपनी आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप मे लाना है। यही हमारे जीवन का उद्देश्य है और वह उद्देश्य हमे पूरा करके जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करना है।

३३ | सच्चे महाजन बनो !

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

पर्यूषण पर्व के इन शुभ दिनो में 'अन्तगड सूत्र' पढ़ा जा रहा है। इसका अन्तगड नाम 'अन्तकृत' भावना को लेकर रखा गया है। इस शास्त्र मे उन महान् आत्माओ का चरित्र कहा गया है, जिन्होने अपनी अन्तरात्मा के समस्त कर्म-बन्धनो को तोड दिया है।

हर वर्ष शास्त्र क्यो पढना चाहिए ?

आप लोगो के दिल मे विचार आता होगा हर वर्ष इसी शास्त्र को क्यो पढ़ते हैं ? पर भाइयो ! हमे अनेक वस्तुओ की प्रतिदिन जरूरत पडती है। और फिर रोटी तो प्रतिदिन एक बार खाने से भी काम नही चलता। दिन मे दो-तीन बार भी खाते हैं। वह क्यो ? इसलिए कि वह शरीर की खुराक है। पर आत्मा की भी तो खुराक होती है। वह भी प्रतिदिन आहार मांगती है। किन्तु उसे खुराक देने मे आप कितनी लापरवाही और कजूसी करते हैं ? यह इसलिए ही न, कि इसकी भूख का आपको पता नही चलता और प्रतिदिन इसे देने की तो बात ही क्या है, साल मे आठ दिन भी सच्चे हृदय से देना नही चाहते।

कई बार हमारे भाई कहते हैं—'महाराज ! केवल रिवाज होने के कारण ही 'अन्तगड सूत्र' हर वर्ष पढते हैं या इससे कुछ लाभ होता है ?" उन अज्ञानी भाइयो को क्या लाभ होता है यह तो हम प्रत्यक्ष रूप से बता नहीं सकते क्योकि लाभ हथेली पर रखकर दिखाने वाली वस्तु नही है। किन्तु उन्हें यह समझा जरूर सकते हैं कि महापुरुषो के चरित्र पढ़ने से हम उन भव्य-आत्माओ के सद्गुणों के

बारे मे जान सकते हैं, उनके धर्माराधन करने के तरीको को समझ सकते हैं तथा त्याग एवं तपस्या मे रही हुई उनकी दृढ़ता से शिक्षा ले सकते हैं। यह क्या कम बात हैं ?

आप अपने बच्चो को बोलना सिखाते हैं तो क्या बार-बार एक ही शब्द का उच्चारण नही करते ? उसे चलना सिखाते हैं तो क्या उसके पुन:-पुन गिरने पर भी आप उसे पुन:-पुन खडा नही करते ? क्यो करते हैं ऐसा ? इसीलिए तो, कि आप बार-बार एक शब्द को बोलेंगे तो वह बोलना सीख जाएगा। यही हाल महामानवो के जीवनचरित्र को बार-बार पढने से होता है। अर्थात्—अगर हम पुन:-पुन उनके विषय मे पढ़ेंगे और सुनेंगे तो हमारा मन भी उनके जैसे सद्गुणो को अपनाने की इच्छा करेगा, उनकी दृढता के विषय मे जानने से हमारा आत्म-विश्वास और आत्म-बल बढेगा तथा उनके महान् त्याग के उदाहरण सुनने से हमारी प्रवृत्ति भी सासारिक एव नश्वर पदार्थों के प्रति रहे हुए मोह एव आसक्ति को कम करने की ओर बढेगी।

तो यह लाभ कम है क्या ? क्या हमे अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए महापुरुषो के जीवनचरित्र पढ़ना आवश्यक नही है ? मैं तो कहता हूँ कि आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। ऐसा किये बिना हमारा सोया हुआ आत्म-बल कभी जाग नहीं सकेगा, और जब आत्म-बल या आत्म-विश्वास जागेगा ही नही तो हम आत्म-मुक्ति के प्रयत्न किस प्रकार दृढता पूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे ? मानव जीवन की तो सार्थकता ही धर्म को अपनाने मे, और उसे अपनाकर अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करने मे है। अन्यथा इस ससार मे तो अनन्त प्राणी जन्म लेते हैं और जैसे-तैसे जीवन यापन करके मर जाते हैं और फिर किसी योनि मे जन्म लेते हुए इस जन्म-मरण के चक्र मे सदा घूमते ही रहते हैं।

इसी बात का अनुभव महात्मा कबीर ने किया था जो शब्दो मे इस प्रकार कहा जाता है :—

> चलती चक्की देख कर, दिया कबीरा रोय।
> दो पाटो के बीच में साबित बचा न कोय॥

दोहा नया नहीं है। इसे आप मे से अधिकाश व्यक्ति जानते हैं और अनेक बार सुनते या पढते रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ बडा गूढ है और उसकी तह तक पहुच जाय वह इस ससार-सागर से पार उतरने के लिए छटपटाये और विकल हुए बिना रह नहीं सकता। जन्म और मरण की यह चक्की बडी भयकर है। जिस प्रकार पत्थर के दो पाटो मे अनाज के असंख्य दाने नित्य पिसकर चकनाचूर होते रहते हैं, उसी प्रकार

जन्म-मरण के दोनो पाटो के बीच मे भी अनन्त जीव सदा पिसते रहते हैं, यानी जन्म लेते और मरते रहते हैं।

तो कबीर जैसे सभी महापुरुष इस भयानक चक्की को देखकर रो पडते हैं और इससे मुक्त हो जाने के लिए छटपटा उठते हैं। पर केवल छटपटाने या चाहने से ही तो आत्मा की मुक्ति जैसा महान् मनोरथ सिद्ध नही हो सकता। उसके लिए वे उपाय करते हैं और वह उपाय होता है धर्म का अवलम्बन ग्रहण करना। वे धर्म को ग्रहण करते हैं तथा दृढता पूर्वक उसका पालन करते हुए भव-सागर को पार कर जाते हैं।

एक कवि ने अपने पूर्व महापुरुषो का स्मरण करते हुए नई पीढी को प्रेरणा दी है तथा कहा है—

ओ वीरों की सन्तान करो कुछ ध्यान न फूट वढाओ,
अव तो निज धर्म वढाओ।
वे पूर्वज कितने नामी थे, वस एक प्रेम के हामी थे,
जाति मे अव तो प्रेम की धार वहाओ।
अव तो निज धर्म वढाओ।

कवि का कथन है—'वन्धुओ! आप लोग वीरो की सन्तान हो। किन वीरो की? उन धर्मवीरो की जो धर्म के वल पर आत्मा के प्रवल शत्रु आठो कर्मों से जीवन भर सघर्ष करते रहे और अन्त मे उन्हे पछाड कर उनसे मुक्त हो गये।'

हम सभी उन भगवान महावीर की सतान हैं, जिनके लिए सेवा करने वाले इन्द्र और त्रास देने वाला चण्डकौशिक समान थे। प्राणिमात्र के लिए जिनके अन्त-करण मे स्नेह की अजस्र सरिता प्रवाहित होती थी। किन्तु क्या आज हम उनके पदचिह्नो पर चल सके हैं? नही, प्राणिमात्र के लिये तो क्या अपनी जैन जाति के प्रति भी हमारा अभिन्न भाव नही रहा है। परिणाम यह हुआ है कि भाई-भाई आपस मे लडते हैं तथा धर्म के नाम पर अनेको अनर्थ घट जाते हैं।

इसलिए अपने उन पूर्व पुरुषो का स्मरण करते हुए तथा सभी को महावीर का अनुयायी समझ करके आपसी वैमनस्य को मिटा डालो और फूट के अकुरों को जड से उखाड दो। ऐसा करने पर ही हम अपने धर्म के प्रति वफादार वन सकेंगे तथा उसे सही स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

हमे सदा चिन्तन करना है कि हमारे पूर्वज कैसे थे और उनके अन्त करण मे जगत के समस्त जीवो के लिये स्नेह की कैसी जबर्दस्त भावना थी। वे जानते थे कि राग और द्वेष ये दोनो ही आत्मा को अधिकाधिक पतन की ओर ले जाने वाले हैं।

अत हम इनके वश मे रहकर अगर व्यर्थ के प्रपचो मे उलझे रहे, वैमनस्य पैदा करके कपायो के वधनो को मजबूत करते रहे तो फिर आत्मा को अपने सही स्वरूप मे कब ला सकेंगे ? क्योकि काल तो सदा सिर पर मडराता ही रहता है, न मालूम कब उठाकर ले जाएगा। उनका यह चिन्तन उन्हें सदा कर्तव्य-रत बनाए रहता था और वे बिना समय गँवाए हुए तथा बिना निरर्थक कर्म-बन्धन करते हुए अपने धर्म मे जागरूक रहते थे।

शास्त्रकारो ने कहा भी है --

> ज कल्ल कायव्व, णरेण अज्जेव त वरं काउ ।
> मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवंयतो वि।

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७४

—जो कर्तव्य कल करना है वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यत निर्दय है, यह कब आकर दबोच ले, मालूम नही, क्योकि वह आती हुई दिखाई नही पडती।

वस्तुत जो व्यक्ति चितन करता है वह अपने कर्तव्य को समझ लेता है, और उसका पालन करने मे तत्पर रहता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने जीवन को सार्थक करने के लिए शुभ-कर्म की साधना मे सलग्न बना रहता है। किन्तु इसके विपरीत जो आत्म-चिंतन नहीं करता वह दुनियादारी के प्रपचो मे ही सदा पड़ा रहता है। दुनियादारी के लिए तो आप सदा ही चिन्तन करते हैं। अपने व्यापार-धधे के लिये, लडके लडकियो की व्याह-शादियो के लिये और मकान आदि बनवाने के लिये तो आप रात-दिन एक करते हैं पर यह चितन बाह्य और निरर्थक है। मैं आपसे आत्म-चिन्तन की बात कह रहा हूँ। अपना धर्म क्या है ? समाज के प्रति कर्तव्य क्या है और आत्मा की मुक्ति का रहस्य क्या है ? क्या इन सबका चितन भी आप कभी करते हैं ?

अपनी भौतिक सपत्ति का आप बारह महीने मे हिसाब देखते हैं, आढावा निकालते हैं। किन्तु क्या कभी इसका भी आढावा निकालते हैं कि मैंने अपनी जाति, समाज और देश के लिये क्या किया, अथवा आत्मा के कल्याण के लिए कितना त्याग और तप किया ? नही यह आपके चितन मे कभी नही आता। इसलिए आप अपने भाई से लडते हैं, समाज की उपेक्षा करते हैं और धम के नाम को कलकित करते हैं।

ध्यान मे रखने की बात है कि भले ही ऊपर से दिखाई देने वाले व्यवहार मे आप अलग मालूम पडते हो पर आत्मिक स्नेह में अन्तर नही होना चाहिए। ठीक खरबूजे के समान, जो ऊपर से अलग-अलग फाँको के रूप में दिखाई देता है पर

अन्दर से पूर्णतया एक होता है। किन्तु आज तो हम देखते हैं कि लोग ऊपर से प्रेम दिखाते हैं पर अन्दर ही अन्दर खीचातानी मे पड़े रहते है। उस सतरे के समान, जो ऊपर से तो एक और सुन्दर दिखाई देता है मगर अन्दर फाके होती है और फांको मे भी अलग-अलग गण होते हैं।

अरे भाई ! मैं आप लोगो से यह पूछता हू कि अलग-अलग रहकर आप कौनसा कार्य सिद्ध कर लोगे ? एक होकर रहने से तो एक दूसरे के सुख-दु ख को समझोगे, और एक-दूसरे के सहायक बनोगे। हमारा धर्म तो कहता है— आत्मवत् सर्व भूतेषु।' यानी जगत के समस्त प्राणियो को अपने समान समझो। फिर मानव-मानव मे तो अन्तर है भी क्या ? यह महाराष्ट्र का, यह गुजरात का, यह काठिया-वाड का और यह पजाब का है, ऐसा समझने से काम नही चलेगा। सभी को अपना भाई समझो और आवश्यकतानुसार उनका भला करो।

कल मैंने आपको कहा था कि अपने आपको सार्थवाह बनाओ, स्वार्थवाह मत बनाओ। अर्थात् खुदगर्जी मत रखो, अपने समाज के अन्य व्यक्तियो का भी ध्यान रखो। अगर प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति अपने समीपस्थ व्यक्तियो के दु ख-सुख का ध्यान रखे तथा उनके अभावो को दूर करने का प्रयत्न करे तो समाज मे कोई भी दुखी या अभावग्रस्त न रह जाय।

हम इतिहास मे पढते हैं कि पाली शहर मे पहले करीब एक लाख पोरवालों के घर थे। वहाँ पर अगर कोई नया व्यक्ति आकर बसना चाहता तो वहा के सभी व्यक्ति उस आगतुक को एक-एक ईट और एक-एक रुपया देते थे। फलस्वरूप ईंटो से उसका मकान बन जाता और साथ ही एक-एक रुपया पाकर वह लखपति भी बन जाता था। जरा विचार कीजिये कि एक घर से एक मिट्टी की ईट और एक रुपया देना क्या बडी बात है ? क्या फर्क पडता है इसमे ? महापुरुष तो अपने शरीर को भी औरो के भले के लिए त्याग देते हैं।

अस्थिदान

वैष्णव साहित्य मे महर्षि दधीचि के विषय मे कथा आती है कि उन्होंने अपने शरीर की हड्डियाँ ही परोपकार के लिये दे दी थी।

कथा इस प्रकार है कि वृत्रासुर ने अपने असुरो के साथ देवताओ पर आक्र-मण किया और अमरावती पर कब्जा कर लिया। स्वर्ग पर अधिकार करके असुर वहाँ मनमानी करने लगे तथा वहाँ के उद्यानो को भी तहस-नहस कर डाला। देवताओं के समस्त शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ चले गये और वे असुरो को हरा कर भगा न सके।

तो बधुओ, ऐसे-ऐसे महापुरुषो के उदाहरण व्यक्तियो को परोपकार की शिक्षा देते हैं तथा दान के ज्वलत आदर्श प्रस्तुत करते हैं। मैं तो आपको बहुत साधारण से त्याग और सहृदयता लिए अपील कर रहा हूँ। धन्ना और अरणक सार्थवाह श्रावक थे लेकिन अपने जाति-भाइयो का कितना भला करते थे ? आप भी उन्ही के वशज हैं अत अपने पूर्वजो के पदचिह्नो का यथाशक्य अनुसरण आपको करना ही चाहिए। ऐसा करने पर ही आपके समाज का भला होगा तथा धर्म का गौरव बढेगा।

किसी अन्य कवि ने भी लिखा है—

पर का दुख देख सहाय करो,
बिगड़े नहीं धर्म उपाय करो।
शुभ करणी अवसर पाय करो,
इतनी वय बीत गई सो गई।
जिनराज भजो अहकार तजो,
पछतावो नहीं जो भई सो भई।

कवि का आशय यही है कि मनुष्य पर-दु खकातर बने तथा अविलम्ब दूसरो के दुःखो को मिटाने के लिए तत्पर हो जाय।

वह अपने कर्तव्य का पालन इस प्रकार करे कि धर्म की महत्ता घटे नही वरन बढती चली जाय।

वह आगे कहता है—जो उम्र बीत गई सो तो गई, उसके लिए पश्चात्ताप करने की जरूरत नही है। आवश्यकता यही है कि अब अवसर पाते ही शुभ-करणी की जाय तथा अहकार का त्याग करके प्रभु के भजन मे चित्त लगाया जाय। इस ससार मे अहकार सब अनर्थों की जड है। जिसके हृदय मे यह घर कर लेता है, उसे कही का भी नही छोडता। रावण, कस एव दुर्योधन आदि अपने अहकार के कारण ही दोनो दीन से गये थे। अहकार अन्य दुर्गुणो का राजा भी है। जब यह आता है तो अकेला नही आता है।

सर्वप्रथम तो उसका बड़ा साथी जिसे छिद्रान्वेषण कहा जा सकता है, वह आता है और उसकी सहायता से अहकार औरो के दोष देखना प्रारम्भ करता है।

इस विषय मे कवि सुन्दरदास जी ने एक पद्य मे लिखा है—

अपने न दोष देखे पर के औगुण पेखे,
दुष्ट को स्वभाव, उठि निंदा ही करत है।
जैसे कोई महल सँवारि राख्यो नीके करि,
कीरी तहां जाय छिद्र ढूंढ़त फिरत है॥

भोर ही तें सांझ लग, सांझ ही तें भोर लग,
सुदर कहत दिन ऐसे ही भरत है।
पांव के तरे की नहीं सूझै आग मूरख कूं,
और सू कहत तेरे सिर पै बरत है॥

छिद्रान्वेषी व्यक्ति के विषय मे कवि ने कहा है कि ऐसा व्यक्ति अपने अवगुण नही देखता, वह औरो के दोष ही ढूंढता फिरता है। जिस प्रकार किसी ने बडा सुन्दर प्रासाद बनाया हो और कही भी उसमे किसी प्रकार की कोई कमी न रखी हो, पर अगर एक कीडी वहाँ पहुँच जाय तो वह उसमे छोटा सा छिद्र भी ढूंढ ही लेती है।

सुबह से शाम और शाम से सुबह तक वह यही करता है। कवि ऐसे व्यक्ति को तिरस्कृत करता हुआ कहता है कि वह मूर्ख अपने पैरो के नीचे जलती हुई आग को तो देखता नही पर दूसरो से कहता है कि तेरे सिर पर की पगडी जल रही है।

बधुओ, यही हाल आज हमारे समाज मे रहने वाले व्यक्तियो का है। सब एक दूसरे की बुराई करते हैं तथा औरो की पगड़ी उछालने के प्रयत्न मे लगे रहते हैं, पर स्वय मे रहे हुए दुर्गुणो की पहचान नही कर पाते। अपने आपको वे सर्व-गुणसम्पन्न मानते हैं और अन्य सभी को दुर्गुणी। पर सज्जन पुरुष ऐसा नही करते। वे औरो के दोष देखने में अरुचि रखते हैं तथा अपने मे रहे हुए दोषो को खोजते हैं। ऐसे व्यक्ति ही अपनी आत्मा को सरल, निर्मल एव दोषरहित बना सकते हैं। भव्य आत्माएँ तो औरो के दोष देखना दूर, किसी को तनिक से दुख मे भी नहीं देख सकती। उनका हृदय सदैव पर-दुःखकातर बना रहता है तथा वे हर सम्भव प्रयत्न के द्वारा उनके दुख को मिटाने का प्रयत्न करते हैं, चाहे इसके लिए स्वय उन्हे कैसे भी कष्ट क्यो न उठाने पडे।

नारकीय प्राणियों की मुक्ति

पुराण की एक कथा मे बताया गया है कि किसी महान् पुण्यात्मा राजा का शरीरान्त हो गया। वैसे वह राजा स्वर्ग का अधिकारी था, किन्तु छद्मस्थ जीवन होने के कारण कुछ छोटी-मोटी भूल उससे हुई थी और इस वजह से एक बार उसे नरक मे से गुजरने का विधान था।

जब उसका देहान्त हुआ तो धर्मराज के दूत उसके जीव को लेने आए और बड़े आदर व सम्मान की भावना से उसे ले चले। पर धर्मराज ने अपने दूतों को आदेश दे रखा था कि—'राजा ने असख्य पुण्यों का सचय किया है अत उन्हे स्वर्ग तो लाना ही है किन्तु उन्होंने जीवन मे प्रमाद के कारण जो भूलें की हैं, उसके कारण नरक का

दर्शन कराना भी अनिवार्य है। अत उन्हे स्वर्ग मे लाने से पूर्व नरक मे से एक वार गुजार कर लाना। यह ध्यान रखना कि वहाँ उन्हे किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा किसी प्रकार का अपमान और तिरस्कार का अनुभव भी न हो। क्योकि उनके सामान्य दोषो का फल एक वार उनके लिये नरक का दर्शन कर लेना ही काफी है।"

धर्मराज की इस आज्ञा के अनुसार सेवक राजा के जीव को नरक के मध्य से ले चले। राजा के लिए तो वहाँ का मार्ग सुखद और कष्ट-रहित था किन्तु नारकीय जीवो की हृदय विदारक करुण-क्रन्दन की ध्वनियाँ उनके कानों मे कुछ क्षण के लिये पडी और फिर वन्द हो गई।

राजा ने चकित होकर पूछा—"ये कौन अभी-अभी चीत्कार कर रहे थे और करुण-क्र दन कर रहे थे और करुण-क्रन्दन से कानो को फोड रहे थे।"

दूतो ने उत्तर दिया—"देव ! ये सव पापी जीव हैं जो नरक के कष्टो से दुखी होकर चीत्कार कर रहे थे।"

"पर उनकी चीत्कारें अव एक दम ही वद कैसे हो गई ?" राजा ने और भी आश्चर्य से पुन प्रश्न किया।

धर्मराज के दूत वोले—"महाराज, आप जैसे असख्य पुण्यो के अधिकारी यानी पुण्यात्मा पुरुष यहाँ से गुजर रहे हैं अत आपके शरीर को स्पर्श करके वहने वाली शीतल वायु ने इन पापियो के नारकीय और दारुण ताप को कुछ पल के लिये शात कर दिया है। यही कारण है कि वे चुप हो गये हैं।"

इसी समय पुण्यात्मा नरेश को चारो ओर से आने वाली आवाजें सुनाई पडी कि—"महाराज ! आप अभी यहाँ से जाएँ नहीं। आपके यहाँ खडे रहने से हमारे जलते हुए शरीरो को वडी शाँति मिली है। कृपया और कुछ देर रुकें।"

राजा ने जव नारकीय जीवो के इन शब्दो को सुना तो उनके हृदय मे उन लोगो के दुखो के कारण हलचल मच गई और उन्होंने कुछ पल मन मे विचार करते हुए धर्मराज के दूतो से कहा—"तुम लोग जाओ ! मेरे अगर यहाँ रहने से इन दुखी जीवो को कुछ शाति मिलती है तो मैं यहीं नरक में रहूँगा।"

दूत राजा की वात सुनकर मुँह वाये खडे रह गये, पर फिर अपने स्वामी धर्मराज के पास दौडे और उन्हें पुण्यवान राजा की वात कह सुनाई, साथ ही कहा—"प्रभु, हम उस धर्मात्मा पुरुष को वलपूर्वक भी नही ला सकते। वह तो कहता है मैं नरक मे ही रहूँगा।"

अब धर्मराज और स्वय इन्द्र भी विचार मे पड गए। सोचने लगे—"इतना पुण्यात्मा पुरुष नरक मे कैसे रह सकता है ? आखिर वे दोनो ही नरक मे राजा को समझाने के लिए आये और बोले—"राजन् ! आप महान् धर्मात्मा और भारी पुण्य के अधिकारी हैं ? हम आपको नरक मे कैसे रहने दे सकते हैं ? आप तो अपने स्थान स्वर्ग मे ही चलिये।" इस प्रकार अमरावती के अधीश्वर को भी नरक मे पुण्यात्मा राजा के जीव को बुलाने आना पडा। साथ मे विमान भी था उन्हे ले जाने के लिये।

किन्तु राजा अपनी बात से टस से मस नही हुए। वे दृढतापूर्वक बोले—आप देख रहे हैं कि ये लक्ष-लक्ष नारकीय जीव कितनी यन्त्रणा यहाँ पा रहे हैं। इसलिए मैं अपना सम्पूर्ण पुण्य इन दुखी जीवो को दान करता हूँ। आप उसके बल पर इन्हे यहाँ से ले जायें।" यह कहते हुए राजा ने जल हाथ मे लेकर सकल्प कर दिया।

थोडी ही देर बाद राजा ने देखा कि वे सारे नारकीय जीव विमानो मे बैठ-बैठकर स्वर्ग की ओर जा रहे हैं। उन्हे यह देखकर अपार हर्ष हुआ और चैन की साँस आई।

कुछ देर पश्चात् देवराज इन्द्र बोले—"अब आप चलिये। नरक के जीव तो आप देख ही रहे हैं कि स्वर्ग मे जा रहे हैं।"

पर राजा ने उत्तर दिया—"देवराज ! आप ही सोचिये कि जब मैं अपना समस्त पुण्य नरक के इन जीवो को दान कर चुका हूँ तो फिर किस बल पर स्वर्ग जाऊँगा ? मैं स्वर्ग नही जा सकता, यहाँ अकेला ही रहूँगा। आप सभवत. भूल मे पड गए हैं, पर कर्मों के निर्णायक धर्मराज भूल नही कर सकते।"

अब तक धर्मराज चुप थे पर राजा की बात सुनकर वे मधुर स्मित के साथ बोले—"महाराज, अपने समस्त पुण्य का दान करके तो आपने और भी अधिक पुण्य-सचय कर लिया है। उसका फल भी तो आपको मिलना चाहिए अत आप स्वर्ग पधारें। दिव्य लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

इस प्रकार उस पुण्यात्मा जीव ने अपने साथ असख्य नारकीय जीवों का भी उद्धार कर दिया।

तो बधुओ ! ऐसे-ऐसे उदाहरण और महापुरुषो के जीवन-चरित्र ही तो हमारे लिये आदर्श का काम करते हैं। इन भव्य पुरुषो और महान् पूर्वजो के गुणानुवाद हमारे मन मे भी सद्गुण ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। इसीलिए 'अंतगड' जैसे

शास्त्र मे पढे जाते हैं कि अज्ञानी और प्रमादी आत्माएँ उनसे शिक्षा प्राप्त करके अपने जीवन को त्याग, तप एव अन्य गुणो से युक्त बनाते हुए श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

कवि भी आपको यही शिक्षा देते हुए कहता हैं—

कुछ पहलुओ पर तो गौर करो,
मत फूट बढाकर शोर करो।
भूले हैं, उनको धीरे से समझाओ-
अब तो निज धर्म बचाओ।
अब फूट की होली तुम कर दो,
हम एक हैं यह बोली कर दो।
महाजन कहलाकर अब मत लोग हसाओ
अब तो निज धर्म बचाओ।

कवि का कहना है—भाइयो ! अब आपस मे रही हुई फूट को समाप्त करो और एक होकर सामाजिक एव धार्मिक उत्थान किस प्रकार हो सकता है, इस पर विचार करो। जब तक आपसी वैमनस्य के कारण एक दूसरे पर छींटकसी करने मे लगे रहोगे, तब तक तुम्हे अन्य कर्मों को करने के लिए वक्त कहाँ से मिलेगा ? इसलिए व्यर्थ की निंदा-बुराई और एक-दूसरे पर आक्षेप करना छोड दो तथा समाज की भलाई किस प्रकार हो सकती हैं, इस पर विचार करो, उन सब पहलुओं पर सोचो जो कि समाज और धर्म के उत्थान मे आवश्यक है।

आज समाज मे असख्य ऐसे दीन व्यक्ति हैं, जो अपने होनहार बालकों को भी पैसे के अभाव मे उच्च शिक्षा नही दिला सकते। ऐसे बालको के लिए आपको छात्र-वृत्ति आदि का प्रबन्ध करना चाहिए। दूसरे हमारी अनेक बहनें ऐसी हैं जो अपना गुजारा नहीं कर पाती तथा नाना कष्टो मे घिरी रहकर जीवन यापन करती है। अपनी जाति और कुल की परम्परा व गौरव को रखने के कारण दूसरी जाति की औरतो के समान घर से बाहर निकलकर मेहनत मजदूरी नही कर सकती। ऐसी बहनो को उनकी प्रतिष्ठा रखते हुए आप गुजारे के साधन मे जुटा दो और उसे सहारा दो। इसी प्रकार अनेक वृद्ध-दपति भी समाज मे होते हैं, जिनके कमानेवाला पुत्र नही होता या मर जाता है, उनको भी सहारा देना आवश्यक है तथा उनके लिये आश्रमो के समान किसी सस्था का निर्माण करना जरूरी है।

इसी प्रकार के समाज-कल्याण के कार्य आपको अवश्य करने हैं तथा अपने जैनत्व और जैनधर्म को दीप्त करना है। आपको शायद ध्यान होगा कि पहले जैन

समाज करोडो की सख्या मे था किन्तु समाज ने उनका सरक्षण नही किया और इसके फलस्वरूप आज जैनियो की सख्या काफी कम हो गई।

आपके यहाँ नागपुर मे भी जैनकलार जाति थी। वे जैन शब्द अब भी अपने लिये लिखते थे किन्तु धर्म को नही मानते। उनका खान-पान भी अब काफी दूषित हो गया है। भक्ष्याभक्ष्य का वे खयाल नही करते। तो, ऐसे व्यक्तियो को पुन धर्म मे दृढ करना भी आपका कर्तव्य है। उन्हे आपको प्रेम से तथा हृदय की सम्पूर्ण सरलता से समझाकर सही मार्ग पर लाना है।

आपमे से कुछ भाई कभी-कभी कहते हैं कि प्रतिदिन व्याख्यान सुनने से क्या लाभ होता है? इस विषय मे शास्त्रो मे बताया जाता है कि जिसका पुण्योदय होगा, वह उतना लाभ उठाएगा। अरे भाई! अगर सौ सुनने वाले बैठे है, और उनमे से एक भी कुछ ग्रहण करता है तो क्या नुकसान है? इसके अलावा हमारे लिए तो प्रवचन देना स्वाध्याय-तप ही है। हमारा क्या बिगडता है चाहे कोई भी उसे ग्रहण न करे।

सच्चे महाजन बनो

बधुओ! आप लोग महाजन कहलाते हैं, वह इसलिए कि आपके पूर्वज सार्थ-वाह और महान् जन थे। महाजन कहलाना गौरव की बात है किन्तु केवल पूर्वजों के महान् कार्यों से ही आप अपने आपको महाजन समझकर गौरवान्वित अनुभव करें तो यह बात ढोल मे पोल के समान होगी। हाँ, आप स्वय अपने उत्तम कार्यों से महाजन बनें तो वह आपका उपार्जित धन और आपके लिए सही पदवी होगी।

कवि कहता है—भाई, तुम महाजन कहलाकर जग-हसाई मत कराओ। यह कथन यथार्थ है। आखिर पूर्वजो के यश की खाल कबतक ओढी जायेगी। अब वह जर्जर हो चुकी है अत अब भी समय है, कि आप स्वय अपने सद्‌गुणो से, उत्तम कार्यों से तथा दान, सेवा और परोपकार से नव-निर्माण करें तथा कीर्ति, यश और आगे के लिए पुण्य-सचय के रूप मे कुछ स्वयं उपार्जित करें।

अपने पहनने के वस्त्र तो आप नित्य नए सिलवाते हैं, यहाँ तक कि बाप-दादों के समय की वस्तुओ को, वस्त्रो को और मकानो तक को आधुनिक समय के अनुकूल न मानकर बदल देते हैं और सभी कुछ नया बनवाते तथा खरीदते हैं। तो फिर महाजन-रूपी पदवी या वस्त्र नाम-मात्र का रह जाने पर भी क्यो नहीं अपने बाहुबल से, बुद्धि से, विवेक से तथा आत्म-विश्वास आदि मे नया नही बनवाते? आप लोग कहा तो करते हैं कि पूर्वजो का धन चाहे कुबेर जितना भी क्यो न हो,

बैठे-बैठे खाया जाय तो खतम हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजो के कमाये हुए यश के लिए भी आपको विचार करना चाहिए कि आखिर वह कब तक आपका साथ देगा ? आप स्वय तो कुछ करेंगे नही, और अपने पूर्वजो के उपार्जित यश से अपने पीछे महाजन आदि की पदवियाँ लगाते रहेंगे तो कब तक सचाई छिपी रहेगी ? आखिर तो लोग समझ ही जाएँगे कि आप अब नाम के महाजन रह गये हैं, स्वय तो कुछ भी महान् या शुभ नही करते। और जब वे यह अनुभव करेंगे तो क्या वे आपका उपहास नही करेंगे ? क्या आपकी हँसी नहीं उडाएँगे।

इसलिए अब आवश्यक है कि लोग आपको महाजन कहते हुए हँसे या महाजन कहते हुए व्यग करें, उससे पहले ही आप अपने उत्तम कार्यों से सच्चे महाजन बन जाएँ।

अन्त में मैं केवल यही कहना चाहता हूँ बधुओ, कि पर्यूषण पर्व के इन पुनीत दिनो मे तो कम से कम आप अपने एक वर्ष के शुभ-अशुभ कार्यो का हिसाब करें तथा आगे के लिए दृढतापूर्वक कुछ न कुछ नवीन त्याग, व्रत और नियमादि अपनाएँ।

मैं यह नही कहता कि आप सभी हमारे जैसे साधु बन जायें। आप अपने सासारिक कर्तव्यो को पूरा करें पर सच्चे श्रावक तो बनें। अगर श्रावक के बारह व्रत भी आप सच्चे मायने मे ग्रहण करें तो आपके सासारिक कार्यों मे क्या ऐसी बाधा आती है ? कुछ भी नही उलटे यह तो मन को तसल्ली रहती है कि हम आत्म-कल्याण के मार्ग पर शनैः-शनैः कदम तो रख रहे है।

श्रावक का महत्व कम नहीं है। आप जानते ही हैं कि आनन्द श्रावक ने अपने श्रेष्ठ जीवन के बल पर ही अवधिज्ञान तक हासिल कर लिया था क्या वे साधु बने थे ? केवल आपके जैसे श्रावक ही तो थे। माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे भी केवल ज्ञान पाया था। क्या वे साध्वी बनी थीं ? नही।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि श्रावक जीवन भी अगर श्रेष्ठता से यापन किया जाय तो आत्मा निर्मलता की ओर बढती है तथा कर्मों से रहित होती जाती है यही तो हमारे जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए व्यक्ति अगर इतना ही सदा स्मरण रखे कि यह ससार हमे एक दिन अवश्य छोड़ना है और मृत्यु अवश्यभावी है, तो वह इसमे कभी आनन्दित नहीं रह सकता। निश्चय ही उसका मन सदा उदासीन और विरक्त रहेगा तथा उसकी आत्मा सदा के लिए इस ससार को त्याग देने के लिये विह्वल रहेगी। परिणाम यही होगा कि वह आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ सकेगा और अपने उद्देश्य को पाकर रहेगा।

उस भव्य प्राणी की आत्मा प्रतिपल अपने आपको बोध देती रहेगी कि अनन्त काल तो इस जगत मे जन्म-मरण करते हुए व्यतीत हो गया और अब भी इस सर्वोत्कृष्ट मानव-देह को पाकर मैंने इसके छुटकारे का प्रयत्न न किया तो फिर कौन-सा जन्म लेकर इस ससार-सागर से पार उतरूँगा।

कवि वाजिद की आत्मा अपने आपको यही कह रही है—

> झूठा जग जजाल पड्या तै फद मे,
> छूटन की नाहि करत, फिरत आनंद मे।
> या मे तेरा कौन, समा जब अत का,
> उबरन का ऊपाय सरण इक सत का।

पद्य मे कहा है—'अरे आत्मन्! इस जगत के झूठे जजाल मे तू पड़ा हुआ है और नाना कष्ट सहने पर भी इसके फंद से छूटने की कोशिश नही करता। इस थोडे से जीवन को सब कुछ समझकर आनन्द से इसी मे रम गया है, जैसे अब कभी यहाँ से जाना ही नही है। पर मैं कहता हूँ कि जब अन्त समय आ जाएगा तो तेरा कौन बनेगा? कभी भविष्य मे बंधे हुए पाप कर्मों से छुटकारा दिलायेगा? कोई भी नहीं! इसलिए इस भव-सागर से उबरने का प्रयत्न कर और इससे पार होने के लिये संतों का आश्रय ले। सत ही तुझे सच्चा मार्ग सुझाएँगे और ससार से मुक्त होने का उपाय बताएँगे।

तो बघुओ, जो भी भव्य प्राणी सीख को आत्मसात् करेगा तथा सत्सगति में रहकर सच्चे धर्म का मर्म समझेगा। वह निश्चय ही इस लोक और परलोक में सुखी बनेगा।

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के
पावन अमृत महोत्सव प्रसग पर

दो महत्वपूर्ण प्रकाशन

भावना योग : एक विश्लेषण

व्याख्याता—आचार्य श्री आनन्द ऋषि

सपादक—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

'भावना' के स्वरूप लक्षण और भेद-प्रभेद्र आदि का शास्त्रीय और जीवन स्पर्शी विशद विवेचन ।

श्वेताम्वर-दिगम्वर जैन ग्रन्थो के गभीर अनुशीलन के साथ प्रस्तुत

छह खण्ड एव परिशिष्ट युक्त

पृष्ठ लगभग ५००   मूल्य १०) रुपया

•

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

[जैन विद्या एव प्राकृत भाषा का ज्ञान कोष]

प्रधान सपादक—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

धर्म, दर्शन, प्राकृत भाषा, जैन साहित्य, सस्कृति एव इतिहास से सम्बन्धित लगभग १०० मूर्धन्य विद्वानो के शोधपूर्ण निवन्धो का महान सग्रह ।

पृष्ठ सख्या ८००   मूल्य ४०) रुपया

संग्रहणीय साहित्य :

आनन्दप्रवचन भाग १ से ६	मूल्य ६) प्रत्येक भा
प्लाष्टिक कवर युक्त	मूल्य ८)
तीर्थंकर महावीर	मूल्य १०)
भावनायोग : एक विश्लेषण	मूल्य १०)
आनन्द वाणी	मूल्य ३)
आनन्द वचनामृत	मूल्य १)
जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य श्री आनन्द ऋषि	मूल्य १)
चित्रालकार काव्य : एक विवेचन	१)
सस्कार (उपन्यास)	१)

प्राप्तिस्थान

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी, (अहमद नगर—महाराष्ट्र)